२००

पुष्यमित्र

संपादक
सर्वप्रथम देव-पुरस्कार-विजेता
श्रीदुलारेलाल
(सुधा-संपादक)

गंगा-पुस्तकमाला का २००वाँ पुष्प

पुष्यमित्र

[ऐतिहासिक उपन्यास]

लेखक
मिश्रबंधु
राजराजा साहित्य-वाचस्पति
डॉक्टर श्यामविहारी मिश्र एम्० ए०, डी० लिट्०
(आनरिस काज़ा A. U.)
रायबहादुर साहित्य-वाचस्पति
डॉक्टर शुकदेवविहारी मिश्र डी० लिट्०
(आनरिस काज़ा B. H. U.)

—:⁂:—

मिलने का पता—
गंगा-ग्रंथागार
३६, गौतमबुद्ध-मार्ग
लखनऊ

सं० २००८ वि०] द्वितीयावृत्ति [मूल्य ४।।)

प्रकाशक

श्रीदुलारेलाल

अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय

लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान

१. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना

२. दिल्ली-ग्रंथागार, चर्खेवालाँ, दिल्ली

३. प्रयाग-ग्रंथागार, ४०, कास्थवेट रोड, प्रयाग

४. कल्याणदास ऐंड ब्रदर्स, बनारस

नोट — इनके अलावा हमारी सब पुस्तकें हिंदुस्थान-भर के प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें।

मुद्रक

श्रीदुलारेलाल

अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस

लखनऊ

निवेदन

परमपिता परमात्मा की असीम अनुकंपा से आज यह शुभ अवसर प्राप्त हुआ है कि गंगा-पुस्तकमाला में पूरे दो सौ ग्रंथ निकालने में हम समर्थ हो सके हैं। इस कार्य में पूरे २८ वर्ष लग गए। इसके पहले हिंदी-संसार में किसी भी माला में दो सौ ग्रंथ नहीं निकले। इसके लिये हम माला के लब्धप्रतिष्ठ लेखकों, प्रेमी पाठकों, स्थायी ग्राहकों, एजेंटों और प्रचारकों के कृतज्ञ हैं। कारण, हम तो उपलक्ष-मात्र हैं, यह विशाल कार्य तो उन्होंने ही एक दूसरे को सहयोग देकर किया है।

हिंदी का उत्थान तभी संभव है, जब हिंदी-प्रेमी-मात्र इसकी उन्नति में लगन के साथ उद्योग करें। बड़े हर्ष की बात है कि हमें हिंदी-संसार का सहयोग और सहायता सम्यक् प्रकार से प्राप्त हो रही है। हम भी उत्साहित हो करके श्रेष्ठ लेखकों के लिये विविध विषयों के ग्रंथ प्रकाशित करने का प्रबंध करते रहे और कर रहे हैं। हमारे प्रत्येक ग्राहक को चाहिए कि वह हिंदी-साहित्य की अभिवृद्धि के लिये अपनी आमदनी का $\frac{1}{100}$ वाँ भाग हिंदी की पुस्तकें क्रय करने में व्यय कर अपने घर में घरेलू पुस्तकालय खोलें, जिसमें उनका घर, पड़ोस और मुहल्ला ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित हो सके। सद्ग्रंथों की सुगंध से अपना सदन सुगंधित कीजिए।

आशा है, राष्ट्र-भाषा हिंदी-हित-कार्य में आप-जैसे हिंदी-हितैषी सज्जनों की सहायता सुलभ होती रहेगी, जिससे हिंदी-साहित्य का विकास एवं हिंदी-भाषा का प्रचार-प्रसार और द्रुत गति से संभव हो सकेगा।

कवि-कुटीर
लखनऊ, वसंत-पंचमी, संवत् २००१

दुलारेलाल

वक्तव्य

[द्वितीयावृत्ति पर]

मिश्रबंधुओं में से डॉ० शुकदेवविहारीजी मिश्र अभी तक जीवित थे। यह पुस्तक उनके सामने ही प्राय: छप चुकी थी। बड़े दुःख की बात है कि उनका, एक मास हुआ, शरीरांत हो गया! इसे प्रकाशित वह न देख सके।

मिश्रबंधुओं की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उन्होंने 'मिश्रबंधु-विनोद' और 'हिंदी-नवरत्न'-जैसी अमर समालोचनात्मक पुस्तकों की ही रचना न की थी, वरन् उपन्यास, नाटक, काव्य, अर्थ-शास्त्र, दर्शन एवं इतिहास के क्षेत्र में भी पुस्तक-प्रणयन किया था। उनकी सभी पुस्तकों को छापने का अधिकार उन्होंने हमें दिया।

यह उपन्यास बहुत दिनों से अप्राप्य था, इसलिये हिंदी-प्रेमी पाठकों के आग्रह से इसे हमने छापा है। आशा है, प्रथम संस्करण की भाँति इस संस्करण का भी हिंदी-संसार में आदर होगा। बहुत से घरों और लाइब्रेरियों में यह पुस्तक अभी नहीं पहुँची है।

कवि-कुटीर
लखनऊ
१६-६-५१

दुलारेलाल

भूमिका

भारत में क्या, सारे संसार में मौर्य-साम्राज्य सबसे पहला था। उसी के पीछे शुंग-साम्राज्य स्थापित हुआ। मौर्य-शक्ति १३८ वर्ष चली, तथा शुंग ११२ वर्ष। शुंग-साम्राज्य पुष्यमित्र द्वारा स्थापित हुआ। इनके समकालीनों में खारवेल, डिमिट्रियस, यूक्रेट्रिडस, अपालोडोटस, मिलिंद तथा महर्षि पतंजलि की मुख्यता है। खारवेल कलिंग-पति थे, जिनका चिट्ठा मिला है, जिसके आधार पर बहसतिमित्र पर तीन कालिंग विजय-यात्राएँ सुपुष्ट हैं। कलिंग की कई घटनाएँ इसी आधार पर कथित हैं। ऐक्य-सम्मेलन, पुष्यमित्र का वहाँ जाना आदि काल्पनिक हैं। हेलेन और पुष्पमंजरी भी कल्पित हैं। अपालोडोटस ने किसी कारण से अपने पिता को मारकर उस पर रथ चलवाया। इस संबंध के शेष कथन मानस हैं। मिनैंडर सीरिया-नरेश का गवर्नर था, किंतु हो स्वतंत्र गया। डिमिट्रियस का भारतीय आक्रमण तथा उसके द्वारा अयोध्या का घेरा जाना ऐतिहासिक हैं। बल्ख पर आक्रमण के कारण उसे पलटना पड़ा। अनंतर वह क्या हुआ; सो इतिहास को अज्ञात है, तथा काबुल पर मिलिंद का शासन इतिहास जानता है। पुष्यमित्र के साम्राज्य की सीमाएँ ऐतिहासिक हैं, तथा बहसतिमित्र राजगृह के महाराजा थे। उनका पुष्यमित्र का पितृत्व केवल अनुमान पर अवलंबित है। धनभूति भारहुति के उपरिक थे। पुष्यमित्र की खारवेल, मिलिंद, डिमिट्रियस, यज्ञसेन आदि से लड़ाइयाँ ऐतिहासिक हैं। जहाँ-जहाँ इतिहास मौन है, वहाँ कल्पना द्वारा ग्रथित होकर घटनाओं के

सजीव रूप सामने लाए गए हैं। इतिहास उस काल का ढाँचा-मात्र बतलाता है, तथा कल्पना द्वारा उसी के अनुकूल सजीव शरीर खड़ा किया गया है। पुष्यमित्र का रण-कौशल सीखने विविध देशों को जाना काल्पनिक है। उनकी योग्यता ऐतिहासिक है, तथा उनके पट्टपुत्र भी। यवन-राज्य भारत में १२० बी० सी० में शकों द्वारा समाप्त हुआ। शकों को चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने निर्मूल किया, तथा हूणों को ईशानवर्मन ने। पुष्यमित्र हमारे परमोत्कृष्ट सम्राटों में से थे। यह ग्रंथ ऐतिहासिक उपन्यास है ही, किंतु यथा-साध्य इतिहास की ज्ञात स्थिति इसमें सुपुष्ट रक्खी गई है। जो-जो विचार तथा घटनाएँ अथच उन्नतियाँ उस समय-पर्यंत यहाँ अज्ञात थीं, उनके कथन नहीं आए हैं। राजकर्मचारियों, विभागों आदि के जो नाम उस काल प्रचलित थे, वे ही कहे गए हैं। समाज की जो दशा थी, तथा जैसे विचार थे, उन्हीं के कथन हुए हैं।

उपन्यासों में लोग आरोचन की प्रधानता रखकर केवल हासादि की विशेषता चाहते हैं, तथा गंभीर विषयों को बहुतेरे पाठक तथा समालोचक इतिहास-मात्र के योग्य मानकर उपन्यासों से पृथक् रखना पसंद करते हैं। हमारा विचार ऐसा है कि तत्कालीन साधारण समाज तथा महापुरुषों का यथासाध्य पूरा नहीं, तो कुछ प्रकट चित्र एक ऐतिहासिक उपन्यास में भी आवश्यक है। यदि कोई महर्षि पतंजलि का कथन एक साधारण पात्र के ही रूप में करे, तथा उनके योग, व्याकरण और आयुर्वेद-शास्त्रों का कथन उपन्यास के अयोग्य मानकर छोड़ दे, तो, हमारी सम्मति में, वह उपन्यास बहुत हलका तथा अधूरा होगा। हम उपन्यासों में भी इतिहास का समुचित चित्र, समाज का यथातथ्य रूप, निम्न तथा उच्च श्रेणियों के पात्रों के सच्चे विचार

पाठकों के सम्मुख रखना चाहते हैं। उत्कृष्ट उपन्यास केवल दिल-बहलाव की सामग्री न होकर समाज के सच्चे ऐतिहासिक चित्र सामने रक्खें, ऐसी हमारी भावना है। परम प्राचीन समय का इतिहास केवल उच्च पंडितों के लिये रोचक है। उसी समय का उपन्यास इतिहास का अनुगमन करता हुआ उसके द्वारा ज्ञात घटनाओं को तो छोड़ेगा नहीं, किंतु जो घटनाएँ कारण-कथन-हीन केवल अपूर्ण रूप में इतिहास को ज्ञात हैं, उनके कारण कल्पना द्वारा दिखलाकर तथा आरोचनार्थ नमक-मिर्च भी मिलाकर कुछ चटपटी-सी सामग्री सम्मुख रक्खेगा, किंतु केवल कुपथ्य भोजन न होकर पथ्य का भी व्यवहार सामने लाएगा। जो पाठक उपन्यासों में केवल हलके विषय चाहते हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि यथा-साध्य हमने उनकी रुचि को ठुकराया नहीं है, किंतु ३१८ पृष्ठों में यदि २९० पृष्ठ उनके योग्य हों, तो २८ गंभीरता-पूर्ण भी पढ़ने की कृपा करें। इन २८ पृष्ठों में रुचि का पोषण यदि कुछ कम है, तो ज्ञान-वर्द्धन कुछ आधिक्य से मिलेगा, तथा उच्च पात्रों के संबध में वर्णन-पूर्णता होगी ही। विना योगादि का कुछ भी समुचित कथन किए महर्षि पतंजलि को सामने लाना उपहासास्पद होगा। इसी प्रकार विना 'मिलिंद के प्रश्न' ग्रंथ का कुछ भी सार दिए उस महापुरुष का केवल राजनीतिक विवरण हमें फीका जँचता है। लोक ने उसके धार्मिक भावों का इतना मान किया कि मरणानंतर उसके शरीरांशों पर स्मारक भी बने। उपन्यासों को भी उसके धार्मिक विचारों का मान अवश्य करना चाहिए। उस काल हिंदू और बौद्ध-समाज में बहुत कुछ संघर्ष होने से उन धार्मिक विचारों का कम-से-कम परम सूक्ष्म कथन एक उपन्यास के लिये भी आवश्यक है। इस ग्रंथ में तीन ही धार्मिक विषयों का स्वल्प रीति-मात्र से कथन हुआ है। वह विवरण पूर्ण ऐतिहासिक सत्य को

लिए हुए हैं, अर्थात् जिसके कथन हुए हैं, उसी के विचारों के पूर्णतया अनुरूप ऐसा हुआ है।

कुछ पाश्चात्य उपन्यास-वाचकों को समझ पड़ता है कि पात्रों के आचरण ठोस संभवनीयता के अनुसार होने चाहिए, केवल उच्च, असंभव कल्पनाओं-मात्र के अनुसार नहीं। जैसे एकाध समालोचक को समझ पड़ सकता है कि सम्राट् वृहद्रथ की सम्राज्ञी केवल नट-कन्या के गुप्त प्रेम के कारण एकाएकी अपना इतना उच्च पद छोड़कर वानप्रस्थाश्रम कभी न ग्रहण करतीं। है यह घटना काल्पनिक, और पुष्यमित्र के आचरणों की महत्ता-मात्र दिखलाने को जोड़ी गई है। फिर भी भारत में पति-पत्नी के विरोध में स्त्रियाँ क्रोधावेश-वश प्रायः इस प्रकार बाहर चली जाया करती हैं, और मनाई जाने से फिर वापस आ जाती हैं। इसी प्रकार सम्राज्ञी भी पलटने को प्रस्तुत थीं, किंतु पति के प्रतिज्ञा-भंग से न पलटीं। उनका साम्राज्य न ग्रहण करना असंभव नहीं। रामायण और महाभारत में ऐसे बहुतेरे उदाहरण हैं, तथा जापान में भी। पुराणों में वृहद्रथ स्त्रैण तथा प्रतिज्ञा-दौर्बल्य-युक्त कहे गए हैं। इसी विचार का रूप खड़ा करने को उनके संबंध में घटनाएँ जोड़ी गई हैं। इस ग्रंथ में पात्रों के वार्तालाप बहुतायत से हैं, तथा कवि-कृत कथनों की कमी। ऐसा इस कारण से रक्खा गया है कि यदि हमीं को अथवा किसी अन्य लेखक को इसके आधार पर कोई नाटक लिखना हो, तो सुगमता रहे। पात्रों के ही वार्तालापों में कथाओं का प्रस्फुटन अच्छा होता है, तथा उनके आचरणों पर भी योग्य प्रकाश सुगमता-पूर्वक पड़ जाता है। यह ग्रंथ हमने १२ मार्च, १९४४ को प्रारंभ करके १० मई, १९४४ को समाप्त किया। इस तिथि के पीछे संशोधन के रूप में कुछ परिवर्तन किए गए हैं, किंतु ग्रंथ की समाप्ति उपर्युक्तानुसार ही हुई है।

कालिंग खारवेल का जो ऐतिहासिक चित्र मिलता है, उसी के

आधार पर उनके विजयों, यज्ञों, खिविर सागर, दान, निर्माण आदि के कथन हुए हैं। यह चिह्न हमें लखनऊ-पाषाण-संग्रहालय के निरीक्षक पंडित कृष्णदत्तजी बाजपेयी एम्० ए० की कृपा से प्राप्त हुआ है, जिन्होंने कई और ऐतिहासिक घटनाएँ भी बतलाईं, तथा यह ग्रंथ सुनकर यह भी देख लिया कि इसकी कल्पनाएँ ज्ञात इतिहास के प्रतिकूल तो नहीं हैं। हम उन्हें इन कृपाओं के लिये हार्दिक धन्यवाद देते हैं। आशा है, हमारे प्रिय पाठक हमारे अन्य दोनो उपन्यास-ग्रंथों (वीरमणि और चंद्रगुप्त विक्रमादित्य) के समान वर्तमान ग्रंथ में भी आरोचन की सामग्री पाएँगे। ये तीनो ऐतिहासिक उपन्यास हैं, जिनमें इतिहास के प्रतिकूल कल्पनाएँ नहीं जोड़ी गई हैं।

लखनऊ
वसंत-पंचमी, २००२

विनीत
मिश्रबंधु

विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद

अवभृथ-स्नान

आज नालंदा के विद्यापीठ में बड़ी धूमधाम है। वार्षिक अवभृथ-स्नान होकर प्रायः सब उत्तीर्ण छात्रों को प्रमाण-पत्र, पारितोषिक आदि तो मिल चुके हैं, किंतु अभी व्यायाम, खेल-कूद, अस्त्र-विद्या तथा समर-शास्त्र की परीक्षाएँ शेष हैं। इनके लिये उचित स्थानों पर रंगभूमि के प्रबंध हो चुके हैं। पौर जनों, पदाधिकारियों, राजवर्ग, महिलाओं आदि के बैठने को यथायोग्य स्थान नियत हो चुके हैं, जहाँ नियम-पूर्वक बैठकर वे सुगमता से छात्रों के कार्य देख सकें। इस वर्ष एक भारी विशेषता यह है कि स्वयं सम्राट् महोदय और राजपरिवार के भी स्वजनों के लिये रंगस्थल पर पधारने का प्रबंध है, जिससे परिषत में विशेष उमंग और प्रसन्नता का संचार है। आचार्य अपने छात्रों को प्रस्थानकाल-संबंधिनी उचित शिक्षाएँ दे चुके हैं, जिससे उनके द्वारा संसार में विद्यापीठ का यश विस्तीर्ण हो। वे लोग आपस में मिल-भेंटकर घर जाने की तैयारियाँ कर चुके हैं, किंतु अपने सहपाठियों के समर-कौशलादि देखने की भी इतनी उमंग है कि बहुत करके घर जाने के विचार भी दबे हुए-से हैं। उचित समय पर सम्राट् महोदय रंगभूमि में पधारे, और मुख्य आचार्य ने क्षेत्र-पूजन करके छात्रों को अपने काम दिखलाने की आज्ञा दी। साधारण स्नातकों के कार्य तो पहले ही दो-चार दिनों में समाप्त हो चुके थे, और आज सर्वोत्कृष्ट छात्रगण अपने-अपने कार्य दिखला रहे हैं।

पहले छलाँग का क्रम प्रारंभ हुआ, और सर्वश्रेष्ठ छात्रों ने लंबी उड़ान

में चौदह हाथ तक कूदकर दिखला दिया। बाँस के सहारे खड़ी उड़ान में वे १६ हाथ तक कूद गए, और बिना बाँस के ४ हाथ तक।

अनंतर पेड़ों पर चढ़कर एक से दूसरे वृक्षों पर डालों-ही-डालों चले गए। हाथ-पैर बँधवाकर तालाब में वे तीन दिन-रात रह चुके थे, और भाँति-भाँति की तैराइयाँ दिखला चुके थे। वेष बदलने की विविध कलाएँ सम्राट् को भी दिखलाई गई। दौड़ना, कूदना, रस्सा खींचना, चौगान, पदाति चौगान आदि भी हुए। छुरी, कटार, भाले आदि की लड़ाइयाँ प्रदर्शित हुईं, तथा इन शस्त्रों को फेंक-फेंककर मारने की भी योग्यता प्रकट हुई। कदलि-स्तंभों में दो-दो, तीन-तीन सूत मोटी लोहे की सींक डाल-डालकर वे खड्ग से काटे गए, और हाथ न रुके। फरी-गदके, पटा आदि के भी बढ़िया काम प्रदर्शित हुए और तीरों से भाँति-भाँति के लक्ष्य भेदन किए गए। पकाए हुए शृगाल-चर्म में रुई भरकर फिर से सियार बनाया गया, और उसे खड्ग से काटने की दक्षता प्रदर्शित हुई। रुई के गट्ठे तलवार से काटे गए, और तब पुष्यमित्र-नामक एक छात्र ने तलवार की धार पर पाटंबरी रूमाल रखकर इस वेग से हाथ चलाया कि रूमाल कट गया। अनंतर धनुर्-बाण से अनेक भाँति के स्थिर तथा चल लक्ष्य भेदकर दिखलाए, और रूमाल से आँखें बाँध, शब्दवेधी बाण चलाकर लक्ष्यभेदन किया। फिर इसी भाँति आँखें बाँधे हुए हाथ से उन्हें लक्ष्य टटोलवा दिया गया, और इतरों द्वारा कुछ दूर कई बार दिशाएँ बदलकर वह ले जाए गए। फिर भी इन्होंने बाण से लक्ष्य-भेदन कर दिया। धागों में अलग-अलग लड्डू बाँधकर वे हिला दिए गए, और फिर सम्राट् के इच्छानुसार एक-ही-एक तीर मारकर इन्होंने बहुसंख्या में लड्डू काट-काटकर गिरा दिए। साधुवादों से स्थान गूँज गया।

अनंतर अपने से बहुत बड़े शरीरवाले एक छात्र से इनका मुष्टि-युद्ध होने लगा। सम्राट् ने कहा—"आचार्य! यह युद्ध योग्य नहीं; बेचारा

प्रवीण छात्र इस बार पिट जायगा।" आचार्य ने प्रार्थना करके युद्ध करने की आज्ञा प्राप्त कर ली। पुष्यमित्र ने सुगमता-पूर्वक प्रतिपक्षी को पराजित कर दिया। अनंतर अपने से प्रबलतर दो प्रतिरथियों से साथ-ही-साथ खड्ग-युद्ध करके उन्हें भी हराया। मंत्रिवर्ग-सहित सम्राट् महोदय बहुत प्रसन्न हुए। तब १०० सिपाहियों की एक सेना इन्हें मिली, और १५० की इनरों में योग्यतम इनके प्रतिपक्षी को। सम्राट् की आज्ञा से इस कृत्रिम संग्राम में हताहत संख्या का निर्णय करने के लिये सेनापति नियत हुए। नियमानुसार युद्ध आरंभ हुआ, और सेना-संचालन द्वारा पुष्यमित्र ने विपक्षी की सेना को घेरकर प्रचुर हताहत-संख्या के साथ उसे पूर्ण पराजय दे दी, यद्यपि शारीरिक में इनके सैनिकों से विपक्षी सैनिक कुछ भी कम न थे। अब रंगभूमि के कार्य समाप्त हुए, और आचार्य तथा अन्य शिक्षकों के प्रति प्रसन्नता प्रकट करके और पारितोषिकों के लिये कुछ धन-दान की आज्ञा देकर सम्राट् पाटलिपुत्र को पधारे।

अस्त्र-शस्त्रों के अभ्यास तथा समर-शास्त्र में पुष्यमित्र की ऐसी उत्कृष्ट योग्यता देखकर सम्राट् अत्यंत प्रसन्न हुए, और अपने अंतरंग सभा-भवन में इन्हें शीघ्र ही बुलवाकर आलाप-संलाप करने लगे। उस काल महादंड नायक तथा अक्षपटलाधिकृत के अतिरिक्त और कोई मंत्री उपस्थित न था।

सम्राट्—"बेटा! तुम्हारा कौशल देखकर मैं अत्यंत हर्षित हुआ हूँ। जो कुछ तुम्हें अभीप्सित हो, वह मुझसे माँग सकते हो।"

पुष्यमित्र—"देव! इस अभूतपूर्व अनुग्रह से मैं क्या नहीं पा चुका? भवदीय कृपा ही क्या कम है?"

सम्राट्—"अच्छा, बेटे! समर-शास्त्र का यह ज्ञान जो तुमने प्राप्त किया है, वह क्या मेरे सेनापतियों पर भी चल सकता है?"

पुष्यमित्र—"चल क्यों नहीं सकता, देव! किंतु जय-पराजय का प्रश्न बहुत कुछ नेताओं की योग्यता पर निर्भर रहता है। यह कैसे कह सकता

हूँ कि मैं शिक्षित सेनापतियों पर भी प्रबल पड़ जाऊँगा ? प्रयत्न करने में अवश्य कोई त्रुटि अणु-मात्र न रक्खूँगा ।"

सम्राट्—"फल के विषय में तुम्हारी क्या आशा है ?"

पुष्यमित्र—"देव ! इसका मुझे अभी अनुभव नहीं ।"

महादंडनायक—"कितने दिनों में इसका परिणाम दिखला सकते हो ?"

पुष्यमित्र—"आर्य ! अपनी सेना का कम-से-कम तीन मास शिक्षण करके मैं उसे सन्नद्ध कर सकूँगा ।"

सम्राट्—"कितनी सेना तक का शिक्षण कर सकोगे ?"

पुष्यमित्र—"अभी अधिक-से-अधिक दो सहस्र का ।"

इस पर सम्राट् ने पुष्यमित्र को अपने इच्छानुसार दो सहस्र सैनिक सेना से चुनने दिया, और उन्हें शिक्षित करने की आज्ञा दी । इधर तीन परम श्रेष्ठ सेनापति चुनकर उन्हें भी एक-एक के लिये दो सहस्र, चार सहस्र तथा छ सहस्र सैनिक यथारुचि शिक्षित करने का अधिकार दिया । तीन महीनों के पीछे पुष्यमित्र को आज्ञा दी कि अपनी शिक्षित टुकड़ी से जितने चाहें, उत्कृष्ट सैनिक चुन लें । उन्होंने एक सहस्र परम उत्कृष्ट सेना नियत की । इसी प्रकार अपने पहले सेनापति की इतनी ही सेना प्रस्तुत कराई गई । निरीक्षक सेनापति हताहत-संख्या नियत करने के लिये बना दिए गए, और कृत्रिम युद्ध प्रारंभ हुआ । तीन दिन में पुष्यमित्र ने विपक्षी को पूर्ण पराजय दे दी । अनंतर इनके सहस्र सैनिकों के सामने विपक्षी सेनापति की दो सहस्रवाली सेना ने भी काम करके पराजय पाई, और फिर तृतीय सेनापति के तीन सहस्रवाले दल को भी यही दशा हुई । इस पर सम्राट् परम आश्चर्यान्वित तथा पुष्यमित्र पर प्रसन्न भी हुए । अनंतर उन्होंने महामंत्री के साथ बैठकर उनसे आलाप-संलाप प्रारंभ किया ।

सम्राट्—"बेटा ! तुम्हारे कौशल से मैं बहुत संतुष्ट हुआ हूँ । अब यह भी बतलाओ कि समर-शास्त्र में तुमने इतनी योग्यता कैसे संपादित कर ली ?"

पुष्यमित्र—"देव ! मुझमें कोई विशेष चातुर्य तो है नहीं, किंतु परिषत् के इतर विद्यार्थियों से कुछ आधिक्य अवश्य है। इसका कारण यह है कि आचार्यों से तो हम लोगों ने सम शिक्षा पाई है, किंतु मेरे पूज्य पिता ने मुझे घर पर भी इस विषय में बहुत कुछ सिखलाया है।"

महामंत्री—"मुझे आशा है, यदि हमारे सम्राट् महोदय साम्राज्य के सैनिक विभाग में कोई उच्च पद प्रदान करना चाहें, तो प्रसन्नता-पूर्वक आपको स्वीकार होगा।"

पुष्यमित्र—"आर्य ! मैं इस कृपा के लिये शतशः धन्यवाद देता हूँ, किंतु अभी अपने को इस योग्य नहीं समझता।"

सम्राट्—"बड़े आश्चर्य की बात है, बेटे ! तुम्हारी जैसी उत्कृष्टता है, वैसा ही स्वार्थ-त्याग भी प्रदर्शित कर रहे हो।"

पुष्यमित्र—"दीनबंधो ! यह स्वार्थ-त्याग का उदाहरण न होकर सीधा-सादा, सच्चा, साधारण काम-काजू कथन-मात्र है। अभी मैं अपने में ऐसी योग्यता नहीं पाता कि खारवेल की सुशिक्षित सेना अथच रण-दुर्मद यवन-दल का निश्चित रूप से सफल सामना कर सकूँ।"

महामंत्री—"इस विचार का प्रयोजन यह निकलता है कि आप अभी हमारी सेना को उपर्युक्त दोनो कार्यों के लिये उपयुक्त नहीं समझते।"

पुष्यमित्र—"आर्य ! मेरे लिये ऐसा कथन छोटे मुँह बड़ी बात होगी। मैं हूँ ही क्या, और मेरी सम्मति ही क्या गौरव रखती है ?"

सम्राट्—"तुमसे मैं प्रत्यक्ष कहे देता हूँ कि जो तीन सेनापति तुमसे पराजित हुए हैं, वे हमारी सेना के छोटे अधिकारियों में प्रायः सर्वोत्कृष्ट थे। जब वे तुमसे तिगुनी सेना लेकर भी पराजित हो गए, फिर भी तुम अपने को योग्य नहीं समझते, तब हमारा सामरिक विभाग जो परसाल खारवेल से प्रचंड पराभव पा गया, वह मेरी समझ में आ रहा है।"

महामंत्री—"जब हम लोगों की सामरिक शिक्षा ऐसी अधूरी है, तब

भविष्य में क्या होगा, यह भी विचारणीय है। तुम्हारी अवस्था भी अभी छोटी है। क्या तुम २५ वर्ष-पर्यंत ब्रह्मचर्य पालन न करोगे ?"

पुष्यमित्र—"मैं तो अभी २० वर्ष का हूँ। शास्त्रानुसार ब्रह्मचर्य-पालन तो मैं चाहता था, किंतु मेरी पूज्या मातामही ने न माना, और पितृचरण को भी विवश होकर परसाल मेरा विवाह कर देना पड़ा। आपके एक पौत्र भी इन्हीं दिनों उत्पन्न हुआ है।"

सम्राट्—"मैं इस शुभ संवाद पर तुम्हें बधाई देता हूँ। किंतु परिषत् के नियमों का पालन तुम कैसे करते थे ?"

पुष्यमित्र—"देव ! मैं परिषत् में उन नियमों का पूर्ण पालन करता था, किंतु प्रतिवर्ष एक मास वहाँ से अवकाश लेकर घर में गृहस्थ की भाँति रहता था। वहाँ भी पितृचरण से शिक्षण प्राप्त होता था।"

सम्राट्—"तुम्हारी मातामही ने इतना हठ क्यों किया ?"

पुष्यमित्र—"देव ! मेरे मातामह का शरीरांत छोटी ही अवस्था में हो गया था, और पितृचरण ने भी प्रायः साल-भर से संन्यास-योग-सा ले रक्खा है। घर में सिवा मेरे कोई और था ही नहीं, जिससे पुत्र-पौत्रों से गार्हस्थ्य संपन्नता पाने के लिये उन्होंने स्वभावशः ऐसा किया।"

सम्राट्—"तुम्हारे मातामह थे कौन, और उनका स्थान कहाँ था ?"

पुष्यमित्र—"देव ! वह गया-निवासी मौर्य ही थे, और साम्राज्य के छोटे मंडलाधिप भी ! मैं अब भी वास्तव में दीनबंधु का सेवक हूँ।"

सम्राट्—"हमारे महासेनापति बहसतिमित्र शुंग प्रायः साल-भर से नहीं दिखलाई देते। यह भी पता नहीं लगा कि क्या हुए, और कहाँ गए ? क्या तुम उन्हें जानते हो ? मित्र शुंग-वंशी दोनो हो ही, इसी से हमने पूछा।"

पुष्यमित्र—"देव ! वही तो मेरे पूज्य पिता हैं। खारवेल से राजगृह में पराजित होने से उन्होंने समाज तक में सम्मिलित होना छोड़कर यौगिक क्रियाओं में ही मन लगा रक्खा है। यहाँ तक मुझे आज्ञा है

कि उनका पितृत्व प्रकट न करके उनके राशि-भर का नाम बताऊँ। केवल पूज्य अन्नदाता से कुछ छिपाया नहीं जा सकता।"

सम्राट्—(महामंत्री से) "क्यों आर्य! उनको बुलाया क्यों न जाय?"

महामंत्री—"मैं भी यह बहुत योग्य समझता हूँ। (पुष्यमित्र से) बेटा! आपको साम्राज्य की ओर से उनके लिये निमंत्रण-पत्र मिलेगा; समझा-बुझाकर उन्हें लाओ अवश्य।"

पुष्यमित्र—"मेरे कथनों का तो वह विशेष मान करेंगे नहीं, किंतु आशा है, राजाज्ञा के मान-रक्षणार्थ देव की सेवा में उपस्थित अवश्य होंगे।"

सम्राट्—"यह तो ठीक ही है। अच्छा, अपने विषय में तुम्हारी क्या इच्छा है?"

पुष्यमित्र—"देव! उन्हीं के मतानुसार मेरा ऐसा विचार है कि अभी, इतनी ही अवस्था में, अपनी शिक्षा समाप्त न करके मुझे तक्षशिला, पर्वतीय प्रदेशों, बल्ख, शाम आदि यवन-देशों तथा ठेठ दक्षिणी भारत और खारवेल की राज्य-परिषत् से चार-पाँच वर्षों में समर-शास्त्र की उच्चातिउच्च शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। आशा है, मैं इतने परिश्रम के पीछे कदाचित् साम्राज्य की सेवा के योग्य बन सकूँ।"

महामंत्री—"बात तो बेटा! तुम्हारी तुक की बैठती है। तुम्हारे पिता मेरे मित्रों में हैं, इसलिये तुम मेरे भतीजे भी होते हो। तुम्हारी इतनी योग्यता देख तथा उनके कुशल-मंगल का वृत्तांत सुनकर मैं और भी आह्लादित हुआ हूँ। फिर भी एक बात रह जाती है कि इतने दिनों में साम्राज्य का निश्चित रक्षण किस प्रकार हो? तुम्हारा प्रचंड विक्रम देखकर, सम्मति सुनकर तथा परसाल की पराजय का विचार करके अपने सामरिक विभाग के खोखलेपन का चित्र मेरे नेत्रों के सामने स्पष्ट रूप से नाचने लगा है।"

पुष्यमित्र—"आर्य-प्रवर ! यह बृहत् प्रश्न मेरी योग्यता के बाहर है। मैं तो भवदीय सेनापतियों के विषय में स्वमत-प्रकाशन भी धृष्टता समझता हूँ।"

सम्राट्—"बेटा ! इतना सौजन्य तुम्हारे अपूर्व गुणों को और भी चमत्कृत करता है। फिर भी एक प्रकार तुम्हारे कथन हैं यथार्थ। हम लोगों को वास्तव में इतना भारी बोझ एक बालक के कंधों पर न डालना चाहिए। अच्छा, तुम अपने ही विषय में कथन करो।"

पुष्यमित्र—"मैं तो विनय कर ही चुका। उस ओर बौद्ध-धर्म का भी न्यूनाधिक प्रसार है, इसलिये मैं यहाँवाले मठ के मुखआचार्य भदंत धर्मरक्षित से इस विषय में भी कुछ शिक्षण ग्रहण करना चाहता हूँ। हूँ तो मैं एक ब्राह्मण-कुमार, और आर्यमत के सिद्धांतों में बहुत पक्का, किंतु इतर मतों पर भी उचित ध्यान देना योग्य समझता हूँ, कम-से-कम शिक्षण-पूर्णार्थ।"

महामंत्री—"यह भी ठीक है, किंतु सम्राट् का प्रश्न तुम्हारी शिक्षा के संबंध में था।"

पुष्यमित्र—"वह तो मैं करूँगा ही।"

महामंत्री—"जब तुमने सम्राट् के सम्मुख ऐसी महती योग्यता का परिचय दिया है, तब उस शिक्षण के संबंध में व्यय साम्राज्य ही उठाना पसंद करेगा।"

पुष्यमित्र—"इसे मैं नत-मस्तक होकर सधन्यवाद स्वीकार करता हूँ, किंतु इतना विचार चित्त में अवश्य आता है कि बिना राजसेवा के वेतन कैसा ?"

सम्राट्—"बेटा ! यह वेतन न होकर छात्रवृत्ति-मात्र है। योग्य बालकों के उच्च शिक्षण का भार साम्राज्य ही पर है।"

पुष्यमित्र—"देव की इस कृपा के लिये मैं अत्यंत अनुगृहीत हूँ। फिर भी इतना तो कहना ही पड़ता है कि साम्राज्य का मंडलाधिप होने से क्या आज भी देव का ही अन्न-भोगी नहीं हूँ ?"

सम्राट्—"तुम्हारे साथ एक और छात्र ने तुम्हारे-से तो नहीं, किंतु फिर भी अच्छे काम दिखलाए थे। उनका क्या नाम है?"

पुष्यमित्र—"देव! उन्हें धनभूति कहते हैं। साधारण विषय तो हमारे विश्वविद्यालय तथा परिषत् में सभी को अवगत कराए जाते हैं, किंतु मुख्य विषयों में अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भेद रहते हैं। मेरा मुख्य विषय था अस्त्र-विद्या एवं समर-शास्त्र, और उनका समाज-शास्त्र।"

महामंत्री—"क्या वह भी विशेष योग्यतार्थ विदेश-यात्रा करेंगे, या यहीं कार्यारंभ करना चाहेंगे?"

पुष्यमित्र—"हम लोगों का ऐसा प्रगाढ़ मित्र-भाव है कि और नहीं, तो साथ ही निभाने को वह भी शायद बाहर जायँ।"

महामंत्री—"अच्छा, जब आप लोग आगे आवेंगे, तब इन प्रश्नों का निर्णय हो जायगा। अब आप अपने डेरे पधार सकते हैं। वहीं आपको अपने पिता के लिये निमंत्रण-पत्र मिल जायगा। यथासाध्य अति शीघ्र उन्हें लाकर धनभूति के साथ आप सम्राट् की सेवा में उपस्थित हों।"

पुष्यमित्र—"जो आज्ञा।"

द्वितीय परिच्छेद

उपवन-विहार

आज परिषत् के कार्यों से छुट्टी पाकर पुष्यमित्र महोदय अपनी धर्म-पत्नी के साथ पाटलिपुत्र के उपवन की सैर को पधारे हैं। यह उपवन गंगाजी के किनारे-किनारे एक योजन तक चला गया है, और चौड़ाई प्रायः अर्द्ध कोश तक है। चौड़ी-चौड़ी पक्की सड़कें नियमानुसार इधर-उधर बनी हैं, और उनके बीच-बीच यथास्थान पक्की ईंटों को चूरा करके लाल पगडंडियाँ बनाई गई हैं, जिन पर घूम-घूमकर दर्शकगण विविध क्यारियों में लगे हुए भाँति-भाँति के पुष्पों की छटा से आनंद उठाते हैं। एक-एक प्रकार के पुष्प-वृक्ष एक-एक क्यारी में फूले हुए देख पड़ रहे हैं। निर्गंध और सगंध पुष्पों से दोनो प्रकार के फूल अपनी-अपनी छटा दिखला रहे हैं। सगंध पुष्पों से घ्राणेंद्रिय को विशेष प्रसन्नता मिलती है, और निर्गंध फूलों में विविध रंगों के ऐसे-ऐसे मिलान हैं कि नेत्र हर्षित हो उठते हैं। बड़ी-बड़ी क्यारियों में एक-ही-एक प्रकारवाले पुष्पों के बाहुल्य और उनके सामूहिक प्रभावों से चित्त और भी प्रसन्न हो जाता है। सैकड़ों प्रकार के फूलों से उपवन सुशोभित है। एक-एक पुष्प की अनेक जातियाँ प्रस्तुत हैं, यहाँ तक कि अकेले स्थल-कमल (गुलाब) की २२३ जातियाँ इसे शोभा प्रदान करती हैं। मालियों ने स्थल-कमलों के भारी पौधों में से एक-एक पर अनेक जातियों के ऐसे पुष्पों की क़लमें चढ़ाकर एक-ही-एक पौधे में आठ-आठ, दस-दस प्रकार के स्थल-कमल उत्पन्न किए हैं, जिससे द्रष्टाओं के चित्त और भी प्रसन्न हो जाते हैं। कहीं-कहीं दूर तक

पुष्पों के खेत लहराते हुए अपूर्व शोभा बढ़ा रहे हैं। बीच-बीच में तड़ागादि में विविध प्रकार के कमल शोभित हैं, तथा नेवारा खेलने के लिये नौकाएँ पड़ी हैं। कहीं-कहीं कुछ ऊँचे स्थानों से वृक्ष बढ़कर तड़ागों के जल पर झुके हैं। उनकी दो-दो शाखाओं पर कहीं-कहीं मिलित स्थान बना दिए गए हैं, जिन पर अच्छे-अच्छे ग़लीचे आदि बिछे हैं। संध्या के समय माननीय दर्शकगण उन्हीं पर बैठकर तड़ागों की शोभा देखते और कुछ दूर पर आतशबाज़ी के खेलों का निरीक्षण करते हैं। ये आतशबाज़ियाँ छोटी-छोटी नौकाओं पर छुड़ाई जाती हैं, जिससे इनके प्रतिबिंब जल में पड़कर दोहरी-तेहरी शोभा दिखला रहे हैं। दर्शकों के प्रसन्नतार्थ तिथि-पर्वों के अतिरिक्त फुलझरियों के ये अग्निकांड साधारणतया प्रायः नित्य-प्रति दिखलाए जाते हैं। तड़ागों के किनारे-किनारे कहीं-कहीं दूर तक श्रेष्ठ दीपकों की भाँति-सी बना दी गई हैं, जिनके प्रतिबिंब जल में पड़कर और भी अपूर्व शोभा बढ़ाते हैं। विविध प्रकार के सुशोभित यंत्रों से जल ऊपर उठता है, और उसमें तीव्र ज्योतियों के बहुरंग प्रकाश डालने से कहीं-कहीं और भी अपूर्व शोभा निखरती है। ज्योति के ऐसे ही खेल कहीं-कहीं दूर तक श्रीगंगाजी के किनारे भी रक्खे गए हैं। एक ओर तो श्रीजाह्नवीजी कल्लोल करके बह रही हैं, और ऊपर से इन ज्योतियों के रूप धारा में हिल-हिलकर और भी अपूर्व आनंद देते हैं।

सैकड़ों बड़ी नावों में आठ-आठ, दस-दस कक्ष (कमरे) बनाए गए हैं, जिनमें रहकर लोग गृहों की सभी सुविधाएँ पा सकते हैं। इस प्रकार सहस्रों लोग नदी पर रहते हैं, और वहीं उनके लिये सभी सामग्रियाँ व्यापारी नावों द्वारा पहुँचाते हैं। श्रीगंगाजी तथा सोनभद्र से निकाल-निकालकर अनेक नहरें इधर-उधर ले जाई गई हैं। ये नगर तथा उपवनों के अनेक भागों में फिरती हुई फिर गंगाजी में गिर पड़ती हैं। इनके द्वारा लोग नावों पर से भी पाटलिपुत्र तथा उपवनों की शोभा देख सकते हैं। इनसे सेतुवार्ता (सिंचाई) के भी काम चलते हैं। उपवन में

एला, लवंग, पूगफल, चंदन, कदली, ताड़, रसाल, पनस, नारिकेल आदि के सैकड़ों वृक्ष लगे हैं। बहुतेरे लोग गोष्ठी बना-बनाकर, इन वृक्षों आदि के नीचे दो-दो पहर तक रहा-रहाकर भोजनादि से चित्त प्रसन्न करते हैं। ऐसी गोष्ठियाँ इन राजकीय उपवनों में प्रायः आया करती हैं। कहीं-कहीं खुले हुए प्रासाद भी बने हैं, जिनकी भित्तियों पर कहीं-कहीं बहुमूल्य रत्न भी जटित हैं, तथा किन्हीं-किन्हीं में सम्राटों, महामंत्रियों, नगर-श्रेष्ठियों आदि के चित्र भी बने हैं। उनमें तथा उपवन में यत्र-तत्र विविध भद्रासन रक्खे हैं, जिन पर बैठकर दर्शकों के विनोद होते हैं। पहाड़ों पर से चिनार, देवदारु तथा कई ऐसे वृक्ष लाए गए हैं, जिनकी पत्तियों से एला की-सी सुगंध आती है। इनके प्रसाद से सुगंधित पवन बह-बहकर दूर-दूर तक स्वास्थ्यप्रद स्थान बनाता है। विविध जल-वायु में होनेवाले पौधे शीशों के छतदार स्थानों पर लगाए जाकर समुचित जल-सिंचन एवं सौर किरणोद्भव उष्णता से सुपालित हो रहे हैं। पाकरि, वट, चलदल, जंबु आदि वृक्षों की सुखप्रद छाया दर्शकों को प्रसन्न करती है। विविध भाँति के शीतल छाया-युक्त कुंज प्रस्तुत किए गए हैं, जिनमें लोगों को सुवास मिलता है। वृक्षों पर भारी-भारी लताएँ चढ़ाई जाकर फूलों से लदी हैं। उपवन में जहाँ-तहाँ प्राचीन मौर्य-सम्राटों के स्मारक मंदिर भी निर्मित हैं, जिनमें उनके चित्र भी संचित हैं। स्मारक भवनों में महामंत्रियों तथा राजभक्त एवं अन्य प्रतिष्ठित प्रजावर्ग के भी चित्र सुरक्षित हैं। कहीं-कहीं बुद्ध भगवान् की सांकेतिक मूर्तियाँ प्रस्तुत हैं। श्रीदेवी के भी सांकेतिक चित्र यत्र-तत्र मिलते हैं, किंतु दैवत चित्रों में मानुष-मूर्तियों का अभाव है।

हमारे दंपति इस उपवन में एक उत्कृष्ट नौका द्वारा पधारे थे, और उनके लिये रथ पहले ही से उपस्थित था, जिस पर बैठकर उन्होंने देर तक उपवन की शोभा का निरीक्षण किया। अनंतर एक उच्च स्थान पर रक्खे हुए आसन पर विराजकर वे दूर तक जमी हुई ऐसी घास

देखने लगे, जो एक ही रूप में काटी जाकर शोभार्थ छोटी की जा चुकी थीं। उनकी रानी वैजयंतीदेवी प्राणपति के साथ इतनी सैर करके भी प्रसन्न न हो सकीं। पति-पत्नी में यों बातें होने लगीं—

वैजयंती—"आपने विद्या-प्राप्ति में परिषत् तथा घर पर प्रचुर परिश्रम करके अच्छा ज्ञान उपार्जित कर लिया है, फिर भी अपनी योग्यता पर संतोष क्यों नहीं कर पाते ?"

पुष्यमित्र—"घर पर इस विषय पर बहुत कुछ रोना-धोना करने पर तथा कई प्रकार के आश्वासन-युक्त मेरे कथन सुनकर भी क्या अभी तक आपको शांति-प्राप्ति नहीं हुई ?"

वैजयंती—"रोना-धोना तो स्त्री-सुलभ धर्म ही है, उसे पूर्णतया स्थगित करना मेरी शक्ति के बहुत कुछ बाहर है, फिर भी इस समय तर्क-पूर्ण बातें करने का भरसक प्रयत्न करूँगी।"

पुष्यमित्र—"बड़ी ही कृपा हुई; तब फिर मैं यही कहूँगा कि संतोष कैसे हो, जब न केवल मुझे अपनी योग्यता पर पूर्ण विश्वास नहीं है, वरन् स्वयं कक्कूजी की गौरव-पूर्ण सम्मति भी यही है। समझना चाहिए कि जब मेरे अतिरिक्त उनके कोई भी संतान नहीं, तब उनका पूर्ण प्रेम मुझी पर केंद्रित रहना परम स्वाभाविक है। उन्होंने इसे कई बार सिद्ध करके दिखला भी दिया है।"

वैजयंती—"यह तो प्रकट ही है। बेचारे सारा राज-पाट काकाजी पर छोड़कर उनसे ऐसा विरक्त रहे हैं, मानो महाराजा कभी थे ही नहीं। फिर भी योग-साधन करते हुए आपको सुशिक्षित करने के लिये जंगल न जाकर रहे नानीजी के ही हर्म्य में।"

पुष्यमित्र—"इससे बढ़कर कोई चित्त क्या रोकेगा ? यद्यपि मुझी को देखकर जीते हैं, तो भी मेरी विदेश-यात्रा की आज्ञा उन्होंने ही दी।"

वैजयंती—"यह तो मैं भी समझती हूँ कि यवन-राज्यों में भी जाने

से शिक्षण-पूर्णता के अतिरिक्त यात्राओं से अनुभव-वृद्धि भी अच्छी होगी, फिर भी तुम्हें अकेले इतनी दूर जाने देना मेरी शक्ति के बाहर है। क्या मैं भी साथ नहीं रह सकती?"

पुष्यमित्र—"प्राणप्रिये ! तुम्हारे स्नेह की प्रशंसा मैं शतमुख से करूँगा, किंतु तुम्हीं सोच लो कि कहाँ परिषदों में विद्याध्ययन और कहाँ गार्हस्थ्य जीवन ! अध्ययन के लिये तो तन मन-धन से उसी में जुटे रहने से ही पूर्ण साफल्य-प्राप्ति है, अन्यथा नहीं।"

वैजयंती—"पाटलिपुत्र की शिक्षा में क्या कोई कमी रही ?"

पुष्यमित्र—"यह तो नहीं हुआ, किंतु यवन-देशों में तुम्हारी-सी अनिंद्य सुंदरी को ले जाने में भय भी कम नहीं है। यहाँ घर पर तुम बनी रहती थीं, और साल में ग्यारह मास मैं पूर्ण ब्रह्मचारी समझ पड़ता था। तुम्हारे बाहर जाने से गृहादि का प्रबंध आवश्यक होगा, और कई प्रकार के गड़बड़ अध्ययन में बाधक होंगे। तुम्हारे बच्चे का स्वास्थ्य इतनी लंबी यात्राओं में कैसे ठीक रह सकेगा? फिर गुर्विणी स्त्री को कोई भी कठिन परिश्रम न करना चाहिए। मुझे आश्चर्य है, इस दशा में तुम्हारी ऐसी असंभव इच्छा हुई किस प्रकार?"

वैजयंती—"क्या कहूँ, देखती हूँ कि मेरी वर्तमान दशा मुझे तुम्हारे साथ न जाने देगी। तो भी तुम्हें इतनी दूर जाने देने को मेरा चित्त नहीं हुलसता। इतना लालच ही क्यों करना कि उच्चातिउच्च पद प्राप्त हो ही जाय? संकटों पर भी तो ध्यान रखना योग्य है।"

पुष्यमित्र—"लालच करता कौन है? यहाँ तो केवल उत्तरदायित्व का प्रश्न है। मेरे बाहर जाने में तुम्हें इतनी चिंता क्यों होती है? ईश्वर सभी कहीं रक्षक है। कुशल-मंगल जिस बुद्धि से घर पर रह सकता है, उसी प्रकार बाहर भी।"

वैजयंती—"यहाँ की शक्ति और विदेशों के पौरुष में, आर्यपुत्र ! पृथ्वी-आकाश का अंतर है।"

पुष्यमित्र—"यह तो माना, किंतु यहाँ जैसी शक्ति विशेष है, वैसे ही शत्रु भी तो सबल हैं। पूज्य पिताजी की महत्ता स्वयं राजगृह में बैठकर भी अक्षुण्ण न रह सकी, और सम्राट् सालिसूकजी पाटलिपुत्र में भी सुरक्षित न रहे।"

वैजयंती—"क्या हम दोनो किसी एकांत स्थल में प्रायः अकेले रहकर भी शत्रु-वर्ग से आक्रांत होंगे?"

पुष्यमित्र—"कोई भी एकाकी, निःसहाय पुरुष किसी सबल व्यक्ति की दया पाकर ही बच सकता है, नहीं तो उसे उबारे कौन लेता है?"

वैजयंती—"उससे किसी की शत्रुता ही क्यों होने लगी?"

पुष्यमित्र—"जब तक प्रत्येक पापी या सहसाकर्मी से दबकर चले, तभी तक ऐसा हो सकता है। ईश्वर ने तुम्हें अपूर्व सौंदर्य प्रदान किया है। यदि और नहीं, तो उसी के लालच से शत्रु उपस्थित हो सकते हैं।"

वैजयंती—"आपके कहने का प्रयोजन क्या यह है कि सारी महत्त्वाकांक्षाएँ छोड़कर भी हम लोग शक्ति-हीन होने से लोभियों की पाप-पूर्ण तृष्णा से सुरक्षित नहीं रह सकते?"

पुष्यमित्र—"तुम्हीं देख लो।"

वैजयंती—"इतना मैं फिर भी कहूँगी कि अति वृद्धिमती महत्त्वाकांक्षाएँ न रखने से जोखिम से भी मनुष्य बच सकता है।"

पुष्यमित्र—"प्राणप्रिये! क्या प्रियदर्शी सम्राट् अशोकवर्द्धन ने ऐसी आकांक्षाएँ छोड़कर ही धोखा नहीं खाया? जैसे सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य ने सारा देश जीतकर प्राचीन शासकों का बल पूर्णतया नष्ट कर दिया था, वैसा ही व्यवहार यदि वे भी कलिंग के साथ करते, तो खारवेल का ऐसा प्रचंड प्रताप बढ़कर आजदिन सारे साम्राज्य का शोषक क्यों हो उठता?"

वैजयंती—"क्या हमने सारे साम्राज्य का ठेका लिया है?"

पुष्यमित्र—"प्रत्येक भारतवासी का कर्तव्य है कि साम्राज्य, जाति और देश की श्री-वृद्धि में दत्त-चित्त रहे, नहीं तो वह खंड-खंड होकर छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो जायगा, जिससे केवल साम्राज्य का ही अनिष्ट नहीं, वरन् प्रत्येक भारतीय का धन-मान संशयाकीर्ण हो जायगा।"

वैजयंती—"संसार प्रेम-स्थल न होकर बड़ा ही विकट स्थान समझ पड़ता है।"

पुष्यमित्र—"इसमें क्या संदेह है। कोई महान् हो अथवा साधारण पुरुष, ऊपर-ऊपर देखने से सभी हेय हैं, तथा नीचे-नीचे दृष्टि डालने से सभी लोग महापुरुष दिखाई देने लगते हैं। ऐसा कौन है, जिसकी महत्ता पर कोई भी सांसारिक व्यक्ति लालायित न हो?"

वैजयंती—"इतना तो माना, किंतु लोभ की अंतःपर सीमा तक पहुँचना क्या गर्हित नहीं?"

पुष्यमित्र—"अवश्य है, जैसा मैं अभी कह चुका हूँ। मैं तो लोभ के निकट भी नहीं जाता; फिर भी साम्राज्य के महासेनापति का एक-मात्र पुत्र होने से क्या उसके रक्षण का भार मेरे ऊपर नहीं?"

वैजयंती—"कनकजी तो यह भार स्वयं कुछ काल से छोड़े बैठे हैं।"

पुष्यमित्र—"इसका भी फल तो विपरीत ही हुआ। पहले अपने राज्य-मात्र पर संकट आया, किंतु पीछे सारे साम्राज्य की दशा दल चलदल की क्या न हो गई?"

वैजयंती—"यह तो प्रकट ही है। बेचारे बड़े सम्राट् ने इसी मन-स्ताप से शरीर ही त्याग दिया। कितने दुःख की बात है?"

पुष्यमित्र—"इसीलिये तो संसारत्यागी होकर भी पूज्य पितृचरण ने मेरी सामरिक शिक्षा पर सदैव पूर्ण ध्यान रक्खा। समझने की बात है कि साम्राज्य की भिड़ंत आगे-पीछे खारवेल तथा यवन शक्ति से अनि-वार्य है। जब तक इन दोनों शक्तियों से गुरुतर सामरिक ज्ञान एवं बल न उपार्जित होगा, तब तक न केवल साम्राज्य का, वरन् प्रत्येक भारतवासी

का कल्याण अनिश्चित है। अग्निकसुंदर अपना बल देखते हुए क्षुद्र-शत्रु-मात्र था, किंतु खंड राज्यों में विभक्त सप्त सिंधु-देश उसने सुगमता-पूर्वक पद-दलित कर डाला।"

वैजयंती—"क्या यवन-देशों में भी जाना आपके लिये अनिवार्य है?"

पुष्यमित्र—"जब तक उनके सामरिक शिक्षण के गुप्त भेद मुझे न अवगत हो जायँगे, तब तक यवन-दल को ध्वस्त करने की शक्ति मैं अपनी सेना में कैसे स्थापित कर सकूँगा?"

वैजयंती—क्या वहाँ अथवा खारवेल के राज्य में जाने से तुम्हारे ऊपर जोखिम का संदेह नहीं किया जा सकता?"

पुष्यमित्र—"न्यूनाधिक संदेह तो प्रत्येक दशा में समझा जा सकता है, किंतु मैं तो वहाँ विद्यार्थी के रूप में, एक साधारण मंडलाधिप का उत्तराधिकारी कहलाकर, जा रहा हूँ, किसी महाराजा का पुत्र तो कहलाऊँगा नहीं; उधर पूज्य पिताजी चिरकाल से अपने राज्य से ऐसा मुख मोड़े हुए हैं कि यहाँ भी मुझे सिवा मंडलाधिप के किसी महाराज का उत्तराधिकारी प्रायः कोई भी नहीं समझता।"

वैजयंती—"बात तो तुम्हारी तुक की बैठती है, किंतु मेरा मन धीरज नहीं पकड़ता।"

पुष्यमित्र—"कोई कारण भी तो होना चाहिए, प्राणप्रिये!"

वैजयंती—"कारण है स्वार्थ। जब आपको मुझे छोड़ एवं चिरकाल के लिये बाहर जाकर वियोगानल में ही दग्ध करना था, तब आपने विवाह ही क्यों किया था? मैं अपने पित्रालय में सुख से थी, और वैवाहिक जीवन की चिंताओं से शत योजन दूर रहती थी।"

पुष्यमित्र—"यह तो मैं भी मानता हूँ, किंतु विवाह का मुख्य फल तो संतान है, जो आपको प्राप्त ही हो चुका है। उसी के पालन-पोषण में जी लगाओ।"

वैजयंती—"क्या परिषदों में इतने दिन मूड़ मारकर वैवाहिक जीवन

की महत्ताओं की अवधि आपने इतनी ही जानी है ? धन्य है आपकी विद्वत्ता को !"

पुष्यमित्र—"क्षमा कीजिएगा, देवि ! मुझसे बात कहते न बनी । मैं भी जानता हूँ, विवाह ऐंद्रिय सुख के लिये नहीं, वरन् प्रेम-पूर्ण जीवन निर्वाह उसका मूल-मंत्र है; फिर भी कर्तव्य-पालन के अभाव में सच्चा प्रेम भी नहीं निखरता । जो स्वार्थी व्यक्ति देश और जाति के ही प्रति अपना कर्तव्य पालन न करेगा, वह कौटुंबिक जीवन में क्या औदार्य दिखला सकेगा ?"

वैजयंती—"मैं तो इस समय स्वार्थ की ओर विशेष झुक रही हूँ ।"

पुष्यमित्र—"जब तुमने केवल मुझे पाने के लिये अपना सारा कुटुंब छोड़ दिया, तब यदि मुझसे किसी बात की इच्छा करो, तो अनौचित्य क्या है ? इसे मैं स्वार्थ नहीं समझता । कहो, तुम्हें क्या चिंता घेरे है ?"

वैजयंती—"वास्तविक बात यह है कि कलिंग, तक्षशिला आदि भारतीय स्थानों के लिये मुझे विशेष भय नहीं, किंतु यवन-देशों से मैं डरती हूँ । आपके देवताओं से भी बढ़कर सौंदर्य, गौरवर्ण, वर्तमान वयःक्रम, उन्नत ललाट, सुगठित बाहु, विशाल वक्षःस्थल आदि देखकर कौन सुंदरी धैर्य धारण कर सकती है ? उधर यवनों में भी गौरांग सुंदरियों की कमी नहीं । मैं इस यात्रा में अपने गृह-विच्छेद का भी भय देख रही हूँ ।"

पुष्यमित्र—"अब तुमने मन की बात कही । है इस बात में विशेष चिंता अवश्य, किंतु एक तो भाई धनभूतिजी मेरे साथ होंगे, और मैं यावज्जीवन उत्कृष्टता निभाने का व्रती हूँ । दूसरे, परिषदों के जीवन में स्त्रियों से विशेष संसर्ग भी होता नहीं । मैं तुम्हें वचन देता हूँ, यथाशक्ति स्त्रियों के संबंध में महात्मा बुद्धवाली आज्ञाओं—अदर्शन, अनालाप और अत्यंत सावधानी—का पूर्ण पालन करूँगा । तुम्हें इस विषय में भी पूर्ण निश्चय के साथ अपना चित्त अचंचल रखना चाहिए ।"

वैजयंती—"धन्यवाद ! अब मैं प्रसन्न हुई, क्योंकि मुझे भली भाँति ज्ञात है कि आपकी प्रतिज्ञाएँ अटल हैं। तथापि इतना अवश्य कहूँगी कि मेरी इच्छा तुम्हारे यवन-प्रदेशों में पधारने के प्रतिकूल अब भी न्यूनाधिक शेष है।"

पुष्यमित्र—"इसमें भी मैं तुम्हें दोष नहीं दे सकता। प्रत्येक दशा में स्वेच्छाओं का दमन लोगों के लिये सुगम नहीं, फिर भी यथाशक्ति सदैव प्रयत्नशील रहूँगा।"

वैजयंती—"अब मैं सुख से उपवन का मोदद निरीक्षण कर सकूँगी।"

पुष्यमित्र—"धन्यवाद प्रिये ! इतनी बातें होने से मैं आज तुम्हारे आचरण की उच्चता पर पूर्व से अधिक निश्चयवान् हुआ हूँ।"

इस प्रकार आलाप के अनंतर इन दंपती ने फिर से प्रसन्नता-पूर्वक उपवन-निरीक्षण में ध्यान लगाया। थोड़ी देर में वहाँ के एक पुष्पलावी (माली) ने आकर इन दोनो को एक-एक स्तवक (गुलदस्ता) भेंट किया। श्रीमती ने दो रजत-पण (रुपए) निकालकर उसे देना चाहा, पर उसने कानों पर हाथ रखकर उन्हें लेने से नाहीं की।

माली—"मारिस ! कल के ही स्नातक से मैं अपनी एक क्षुद्र भेंट पर पारितोषिक नहीं ले सकता; क्षमा का प्रार्थी हूँ।"

पुष्यमित्र—"तुम्हारे इस सौजन्य-पूर्ण व्यवहार से मैं हर्षित हूँ, फिर भी बात यह है कि मैं यहाँ स्नातक के रूप में न आकर मंडलाधिप की भाँति आया हूँ। इससे पारितोषिक लेने में तुम्हें संकोच न करना चाहिए, विशेषतया इस कारण से भी कि यह श्रीमतीजी तो स्नातिका हैं नहीं, और दान इनका है न कि मेरा।"

माली—"जो आज्ञा" कहकर पण लेता और बिनती करता है।

माली—"मारिस ! आपने उपवन तो आज भली भाँति देखा है, किंतु कुछ वस्तुएँ आपके निरीक्षण से अब भी छूट रही हैं।"

पुष्यमित्र—"कौन-कौन सी ?"

माली—"हमारे वन्य पशु-विभाग में सिंह, व्याघ्र, वराह, ऊँट, ज़ेबरे, सर्प आदि अनेक प्रकार के जंतु हैं। इसी भाँति शीशे की कई भीलें-सी बनी हैं, जिनके भीतर भरे हुए जल में रंग-रंग की मछलियाँ और अन्य छोटे-छोटे जल-जंतु फिरते हैं, जो देखने में भले लगते हैं। इसी प्रकार भाँति-भाँति के सर्प, नक्र आदि हैं। कुछ स्थानों पर पुष्प-वृक्ष ऐसे लगे हैं कि पहला फूल घने नीले रंग का है, दूसरा उससे कुछ उतरता हुआ, तथा तीसरा और भी उतरता हुआ। इस प्रकार उतार होते-होते अंत के फूल श्वेत हो जाते हैं। इसी भाँति हरी पत्तियों के पेड़ से प्रारंभ होकर प्रत्येक वृक्ष की पत्ती अधिक हरी होती जाती है, यहाँ तक कि अंत में घनी हरीतिमा से पत्ती काली दिखाई देती है। कई स्थानों पर बड़े-बड़े जल-प्रपात दिखलाए गए हैं। दो-चार प्रपातों में पानी की धार दूर जाकर गिरती है, और उसके बीच में कुछ कम ऊँची भित्ति बनी है, जिस पर कई दीपों के समुज्ज्वल प्रकाश किए गए हैं, जिनकी प्रभा पानीवाली धारा के भीतर से बहुत भली लगती है। कई स्थानों पर इन प्रपातों के मार्ग से तैरती हुई रंग-बिरंगी मछलियाँ नीचे से ऊपर चढ़ती हुई अपूर्व छटा दिखलाती हैं। यदि मारिस! आप लोग फिर से रथारोही हो सकें, तो उसी पर, सारथी के पास, बैठकर मैं ये सब दृश्य स्वल्प काल में आपको दिखला दूँ।"

"बहुत अच्छा" कहकर ये दोनो इन सारे दृश्यों के दर्शनों से प्रसन्नता लाभ करते हुए रथ से उतरकर व्यायाम के विचार से यत्र-तत्र वायु-सेवनार्थ विचरण करने लगे।

पुष्यमित्र—"यदि ऐसे समय में कहीं धनभूति भी मिल जाते, तो क्या ही आनंद आता?"

वैजयंती—"देखिए, वह भी वह घूम रहे हैं। आपके कंठ में इस काल सरस्वतीदेवी का निवास था; आप जो कुछ माँगते, पा जाते।"

पुष्यमित्र—"धनभूतिजी के दर्शनों का ही सुख क्या कम है?"

अनंतर ये दोनो आगे बढ़कर धनभूतिजी से मिले। उन्होंने वैजयंती-देवी को नमस्कार किया, और दोनो मित्र गले मिलकर प्रेम-पूर्वक वार्तालाप करने लगे।

वैजयंती—"देखिए धनभूतिजी! इनका विचार अध्ययनार्थ विविध भारतीय प्रांतों और यवन-देशों में भी जाने का है। इस पर आपकी क्या सम्मति है?"

धनभूति—"देवीजी! इसका पता मुझे मिल चुका है, और मैं भी इनके विचारों से सहमत हूँ। वर्तमान भारतीय स्थिति ऐसी है कि बड़े उद्दाम प्रयत्नों की आवश्यकता है, नहीं तो साम्राज्य गया-बीता है ही।"

वैजयंती—"सुन पड़ता है, सम्राट् का विचार आपको कोई श्रेष्ठ पद देने का है।"

धनभूति—"जब तक स्वयं साम्राज्य दृढ़ न हो, तब तक तद्दत्त पदों की ही क्या गरिमा है? फिर इनका साथ मैं छोड़ सकता नहीं। पितृ-चरण की छाया मुझ पर से उठने के पीछे स्वयं कक्कूजी मुझे अपने राज्य के प्रबंध पर, उन्हीं के स्थान पर, नियोजित करने के लिये आज्ञा देते रहे, किंतु मैंने उनके चरण पकड़कर किसी प्रकार मना लिया, और इनका साथ परिपत् में भी न छोड़ा।"

पुष्यमित्र—"विचार कर लीजिए मित्रवर! अभी आपको उच्च पद मिल रहा है। मैं तीन ही चार वर्ष बाहर रहूँगा। इतने दिनों में क्या हुआ जाता है? पलटने पर भी मित्रता बनी-बनाई है।"

धनभूति—"क्या अध्ययन-संबंधी पूर्णता के विचार से मुझे बाहर जाना आवश्यक नहीं? इतना मानता हूँ कि इस काल की भारतीय स्थिति देखते हुए सामरिक शिक्षा जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित किए हुए है, फिर भी सामाजिक ज्ञान यदि ठीक न हुआ, तो राजकीय व्यवस्था के लोक-प्रिय न होने से साम्राज्य में दृढ़ता की कमी रहेगी।"

पुष्यमित्र—"बातें आपकी सब शुद्ध हैं। आपके साथ मेरा भी

जी लगेगा, आत्मरक्षा का विषय श्रेष्ठतर होगा, तथा चरित्र-शुद्धता के लिये भी और नहीं तो एक निरीक्षक ही बना रहेगा। फिर भी इतना विषम और विचारणीय है कि कक्कूजी की प्रसन्नता हम दोनों में से एक के भी वहाँ न रहने से क्या पूर्ण रह सकेगी ?"

धनभूति—"कक्कूजी ऐसे निर्बल चित्त के नहीं हैं कि हम दोनों के बाहर जाने से उनका मन चंचल हो जाय। पौत्रों का मुख देखेंगे, तथा भाभीजी की उपस्थिति से क्या कम प्रसन्नता रहेगी ?"

वैजयंती—"मुझे आशा थी कि यदि आप जाना न चाहें, तो शायद इनका चित्त न हुलसे, किंतु अब आपके कथनों से यह बात भी कट रही है। जब जाना निश्चित है ही, तब आपके वहाँ साथ होने से मुझे भी विशेष धैर्य रहेगा।"

पुष्यमित्र—"तब मैं भी कहूँगा कि आपका चलना उचित है। आशा है, कक्कूजी आज्ञा दे दें।"

धनभूति—"इसमें क्या संदेह है ? मैं समझता हूँ, भाभी वैजयंतीजी की भी सुदृढ़ आज्ञा आपको प्राप्त कर लेनी चाहिए।"

पुष्यमित्र—"क्यों श्रीमतीजी ! अब तो आप सहर्ष आज्ञा देती हैं न ?"

वैजयंती—"मुझे काँटों में क्यों घसीटा जाता है ? भला, मेरी आज्ञा कैसी ? फिर भी बुद्धि आप लोगों के विचार ठीक समझती है, किंतु प्रेम चित्त को व्याकुल करेगा ही।"

पुष्यमित्र—"यह मैं नहीं जानता, आप निश्चय-पूर्वक एक बात कहिए।"

वैजयंती—"जब शौर्योपार्जन आवश्यक ही है, क्योंकि बिना उसके आत्मसम्मान भी नहीं रह सकता, और स्वयं कक्कूजी को तीन बार घोर कष्ट उठाना पड़ चुका है, तब मेरी पूर्ण स्वीकृति मान ली जाय।"

पुष्यमित्र—"बड़ी कृपा।"

धनभूति—"गयाजी चलने के पूर्व एक बार भदंत धर्मरक्षित से धर्म-चर्चा भी कर लेनी चाहिए, क्योंकि विदेशों में शायद इस ज्ञान की भी आवश्यकता पड़े।"

पुष्यमित्र—"चलिए, फिर कल ही हम दोनो वहाँ चलें।"

तृतीय परिच्छेद

विदेश-यात्रा की तैयारी

(अ) धार्मिक चर्चा

पाटलिपुत्र के भिक्षु-संघ में सहस्रों बौद्ध भिक्षु नियम-पूर्वक रहते हैं, जिनके आजीविकार्थ साम्राज्य से बहुतेरे ग्रामादि लगे हैं, तथा अन्य प्रकार से भी राजा और प्रजा, दोनो की ओर से भिक्षुओं का मान और पूजन होता है। बहुतेरे भिक्षु विद्या-दान तथा स्वाध्याय के भी कार्य करते हैं, और प्रचुर संख्या में वे बिना लोक-सेवा किए समझा हुआ धार्मिक जीवन व्यतीत किया करते हैं। उन सबमें भदंत धर्मरक्षित प्रधान हैं; जो नित्यप्रति नियत समयों पर सैकड़ों भिक्षुओं के साथ सम्मेलन-गृह में विराजकर धार्मिक चर्चा तथा धर्मोपदेश भी करते हैं। आज इसी सम्मेलन-गृह में पुष्यमित्र और धनभूति भी पधारकर प्रणामानंतर उचित आसनों पर बैठते हैं। इनका भदंत धर्मरक्षित से आलाप-संलाप प्रारंभ होता है—

धर्मरक्षित—"आप दोनो महाशयों को यहाँ देखकर मैं बहुत प्रसन्न हूँ। सम्राट् महोदय के यहाँ से समाचार आ चुका है कि आप लोग मेरे पास प्रेम-भाव से कुछ धार्मिक चर्चा करना चाहते हैं।"

पुष्यमित्र—"सम्राट् महोदय की ऐसी कृपा तथा तत्परता से हम लोग बहुत बाधित हुए। भदंत का अनुग्रह तो ज्ञानार्थियों पर सदैव रहता है, तथापि मैं बिनती किए देता हूँ कि हम लोग अपने सनातन-धर्म में बहुत पक्के हैं, और मत-परिवर्तन का कोई प्रश्न नहीं। धार्मिक वाद-विवादों

में अमर्ष भाव भी प्रायः आ जाता है। हम लोग केवल ज्ञान-प्राप्ति के अर्थ भदंत की सेवा में उपस्थित हुए हैं। यथाशक्ति उत्तर प्रत्युत्तर अवश्य करना चाहते हैं, किंतु केवल ज्ञान-पिपासा शांत करने को। हठ-धर्मी को किसी दशा में निकट न आने देंगे।"

धर्मरक्षित—"मारिस ! विद्यार्थियों को ऐसा ही होना चाहिए। आपने तो हमारी परिषत् का सिर अपनी योग्यता-प्रदर्शन से और भी ऊँचा कर दिया है। यदि आप लोगों के वादों में भी अमर्ष की छाया पड़ जाय, तो शुद्ध विवाद के उदाहरण इस हठवादी संसार में दुर्लभ हो जायँ। अच्छा, कहिए, आप क्या जानना चाहते हैं ?"

धर्मभूति—"भंते ! हमारी इच्छा ब्राह्मण तथा बौद्ध-धर्मों के गूढ़ तत्त्व जानने की है, किंतु *सबसे प्रथम यह कामना है कि* धार्मिक तत्त्व का मूल क्या है, यह जानें।"

धर्मरक्षित—"मारिस ! धर्म दो प्रकार का होता है, एक तो विश्वासा-त्मक और दूसरा तर्कात्मक, जिसे बौद्ध भी कह सकते हैं। विश्वासात्मक धर्म तर्काश्रित कम रहता है, क्योंकि वहाँ तो मान लेने की बात है। जैसे आप लोगों ने अपनी वेदत्रयी को अनादि मान रक्खा है, किंतु कोई भाषा के वाक्य किसी-न-किसी समय बिना गठित किए हुए जब एकत्र हो ही नहीं सकते थे, तब उनके सुगठन का कोई-न-कोई समय आ ही जायगा; जिससे अनादित्व का विचार एक खोखला विश्वास-मात्र रह जाता है।"

पुष्यमित्र—"भंते ! विद्वान् लोग वेदों की शाब्दी भावना को अनादि न मानकर केवल अर्थों को ऐसा समझते हैं। इस पर भी कहा जाता है कि जब प्रत्येक सत्य विचार अनादि हो सकता है, तब वेदों ही की क्या मुख्यता है ?"

धर्मरक्षित—"यही तो बात है।"

पुष्यमित्र—"इसका उत्तर हम लोगों की ओर से यह दिया जाता है कि

वेदों की मुख्य महत्ता ऐतिहासिक है । वे हमारे पूर्व-पुरुषों के प्राचीनतम रक्षित विचार होने से पूज्य हैं, और जब उनमें सत्यता का अंश विशेष है, और भारी प्राचीनता सिद्ध है ही, तब दार्शनिक रूप में मानार्थ उनकी आर्षी भावना अनादि मान लेने में विशेष दोष नहीं, क्योंकि चाहे सहस्रों और विचार भी अनादि हों, किंतु हैं तो वे भी अनादि तथा इतरों से बढ़कर प्राचीन ।"

धनभूति—"फिर उनके खोखलेपन का जो कथन किया जाता है, वह न-जाने किस आधार पर है ? आप लोग यज्ञों को अनुचित मानते तथा ईश्वरीय विचार का कथन अपने शास्त्रों में नहीं करते । इधर हमारे यहाँ भी यह भाव तर्काश्रित तो नहीं कहा गया है, किंतु शिष्टों के विचार-गम्य अवश्य है । इस विषय पर कठोपनिषत् द्रष्टव्य है ।"

धर्मरक्षित—"उससे भी यह विचार सिद्ध तो होता नहीं ।"

पुष्यमित्र—"यदि एक सेना को नियम-पूर्वक कार्य करते देखकर हम सेनापति की तत्स्थानीय अनुपस्थिति से भी उसका अस्तित्व मान सकते हैं, तो सांसारिक शक्तियों के धारण तथा आयोजनवाले भावों से बहुतेरे विचारवान् ईश्वरीय सत्ता को दृढ़ समझ सकते हैं ।"

धनभूति—"रही यज्ञों की बात, सो हमारे पूर्व-पुरुष शीत स्थानों के निवासी होने से स्वभावशः पावक-पूजक थे । यज्ञों की मुख्यता धार्मिक रूप की आड़ में सांसारिक उन्नति की विधायक है, जैसे राजसूय, अश्वमेध आदि से यजमान सम्राट् समझा जाता है । यहाँ यज्ञ लौकिक महत्ता-स्थापन का एक बाह्य रूप-मात्र है ।"

धर्मरक्षित—"तो आप भी इससे कोई पुण्य-प्राप्ति नहीं मानते क्या ?"

पुष्यमित्र—"भंते ! यह तर्क का विषय न होकर विश्वास-मात्र है ।"

धर्मरक्षित—"यज्ञों के संबंध में जो पशु-हिंसा होती है, उस पर आपको क्या कहना है ?"

धनभूति—"हम लोग तो समझते हैं कि पशु-हिंसा का निषेध बौद्ध-मत का मुख्य दूषण है। संसार शक्ति-प्रधान है। इतर जीवधारियों पर जो मनुष्य की मुख्यता है, वह केवल शक्ति के कारण। यदि सहस्रों मत्स्यों के विनाश से एक भी मानुष-शरीर सबल रह सके, तो हम वह बात ठीक समझेंगे। देखिए, भंते! सप्तसिंधु-देश में छोटे राज्य होने से अलिकसुंदर उन्हें हँसता हुआ विमर्दित कर सका, किंतु बृहदाकार मागध साम्राज्य का सामना करने का साहस तक उसे न हुआ। जब तक सुप्रसिद्ध मौर्य-साम्राज्य सम्राट् अशोकवर्धन के प्रारंभिक समय पर्यंत सबल रहा, तब तक देश में पौर जानपद सुखी रहे। जब से दया-बाहुल्य के विस्तार से साम्राज्य ने अपनी ज्वलंत शक्ति का न्यूनाधिक ह्रास देखा, तभी से कलिंग का एक छोटा-सा राज्य हम लोगों को दबाने लगा है।"

धर्मरक्षित—"तो क्या आपका विचार ऐसा है कि धार्मिक महत्ता सांसारिक उन्नति अथवा अवनति के फलाफल से आँकी जायगी?"

पुष्यमित्र—"भंते! अवश्य। धर्म का अर्थ ही है कर्तव्य-पालन। कर्तव्य उसी को कहेंगे, जिससे समस्त पौर जानपद सुख-संपन्नता-पूर्ण जीवन व्यतीत कर सकें।"

धर्मरक्षित—"तो क्या निर्वाण-प्राप्ति को आप तुच्छ मानते हैं?"

पुष्यमित्र—"भंते! आपने वेदों तथा ब्राह्मण-धर्म की तुच्छता का कथन तो तर्क छोड़ केवल विश्वासवाद के आधार पर ही किया था। अब आप भी विश्वास पर आए जाते हैं। जब अदृष्ट परमात्मा को बहुत कुछ विचार-गम्य होने पर भी केवल पूर्ण तर्काश्रय के अभाव में आप लोग असिद्ध मानते हैं, तब केवल विश्वास पर आधारित निर्वाण को हम कब माने लेते हैं? वह भी तो अदृष्ट अथच अज्ञेय है। किसने देखा या जाना है कि आत्मा तो नहीं है, किंतु कर्मानुसार नाम-रूप दूसरा जन्म पाते हैं?"

धर्मरक्षित—"यह कथन तो स्वयं तथागत का है।"

धनभूति—"क्या हम लोगों से विशेष वे षडिंद्रिय-युक्त थे ? थीं तो उनके भी पाँच ही इंद्रियाँ। उनके तर्क-हीन कथनों का मान विश्वासवाद पर ही आधारित बैठेगा।"

पुष्यमित्र—"यहाँ तक तो हम लोगों ने ब्राह्मण-मत का समर्थन किया, अब आपके श्रीमुख से बौद्ध-मत की मुख्यताएँ सुनना चाहते हैं। आपने हमारे कथनों को पूर्ण धैर्य के साथ श्रवण किया है, एतदर्थ हम आपको अनेकानेक धन्यवाद देते हैं। आप उनके भी प्रतिकूल बहुत कुछ कह सकते थे, किंतु यहाँ केवल तर्कों के मूल प्रकट करने का ही प्रयोजन है।"

धर्मरक्षित—"अच्छा, मारिस ! मैं अब आपको मूल-बौद्ध-मत के मुख्य सिद्धांत बतलाता हूँ। आजकल इसमें भी न्यूनाधिक विश्वासवाद बढ़ रहा है, किंतु मैं केवल स्वयं तथागत द्वारा वर्णित सिद्धांतों का कथन करूँगा।"

पुष्यमित्र—"भंते ! बड़ी कृपा होगी।"

धर्मरक्षित—"तथागत की आज्ञा है कि काम तथा शारीरिक क्लेश-नामक दोनो अंतों को त्यागकर परिव्राजक को मध्यमा प्रतिपदा ग्रहण करनी चाहिए। इसी प्रतिपदा को अष्टांगिक आर्य-मार्ग भी कहते हैं, जो ये हैं—सम्यक्कर्मांत, सम्यग्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यग्वाचा, सम्यग्व्यायाम, सम्यगाजीव, सम्यक्स्मृति, सम्यक्समाधि।"

धनभूति—"प्रयोजन आपके मत का यही रहा कि सभी मुख्य साधन सम्यक् प्रकार से हों। यहाँ तक हम लोगों को भी कोई आपत्ति नहीं, यद्यपि यह एक प्रकार से तपश्चर्या के प्रतिकूल जाता है, जो कई दशाओं में श्रेष्ठ भी है। फिर भी साधारण लोगों के लिये यह उपदेश ठीक समझ पड़ता है।"

धर्मरक्षित—"मारिस ! तथागत ने चार आर्य सत्यों का वर्णन किया

है। पहला सत्य दुःख है, दूसरा तृष्णा, तीसरा दुःख-निरोध और चौथा निरोधगामिनी प्रतिपदा, जिसे आष्टांगिक मार्ग भी कहते हैं। उनका मत है कि जन्म, जरा, व्याधि, मरण, प्रिय न मिलन, प्रिय-वियोग, इच्छा की अपूर्ति आदि पंचोपादान दुःख हैं, तथा पुनर्जन्म का कारण तृष्णा है।"

पुष्यमित्र—"यहाँ तक कथन तर्काश्रित समझ पड़ता है। केवल पुनर्जन्म को बुरा समझना विश्वासात्मक है, जिसके प्रतिकूल भी बहुत कुछ कहा जा सकता है।"

धर्मरक्षित—"मारिस! हमारे धर्म के सात रत्न सप्तत्रिंशच्छिदयमाग धर्म कहे गए हैं। वे ये हैं—स्मृत्युपस्थान, सम्यक्प्रहाण, ऋद्धिपाद, इंद्रिय, बल, बोध्यंग और मार्ग। इनके भी कई-कई अंग हैं, जिनके वर्णन से इस मत की महत्ता प्रकट होती है, और जिनके लिये मैं एक छोटी-सी पुस्तक आपको दूँगा।"

पुष्यमित्र—"भंते! बड़ी कृपा होगी।"

धर्मरक्षित—"अहिंसा और निर्वाण हमारे धर्म के मूल-मंत्र हैं। वासना से कर्म, उससे कर्मफल और उससे दुःख की उत्पत्ति है, जिसके निराकरणार्थ वासना का हनन योग्य है। बुद्ध, धर्म और संघ इस धर्म के रत्नत्रय हैं। बिना माता-पिता की आज्ञा के कोई बालक संन्यासी नहीं बनाया जाता। कष्ट जीवन्मुक्त को भी होते हैं, किंतु वह उनसे विचलित नहीं होता। ब्राह्मण और वृषल में भेद जन्मज न होकर कर्मज है।"

धनभूति—"भंते! इतना हम लोगों को भी मानना पड़ेगा कि यह धर्म बहुतेरे अनुचित अथच भद्दे विश्वासों से मुक्त है, और एक महोपदेशक द्वारा प्रचारित होने से बहुतेरे लोकायत विश्वासों तथा कृत्यों से श्रेष्ठतर है।"

पुष्यमित्र—"भंते! हम लोगों का निजू धर्म श्रीभगवद्गीता में प्रतिपादित आर्य-धर्म है, किंतु अहिंसा का झगड़ा छोड़ देने से ये दोनो धर्म हैं अच्छे।"

धर्मरक्षित—"आरिस ! आप दोनो के कथनों में हैं तो बहुतेरे अमान्य विवरण, जिन पर भिक्षु-संग बहुत कुछ कह-सुन सकता है, किंतु मैं समझता हूँ, मूल-रूप से तर्कों के कथोपकथन हम लोगों के वाद में आ गए हैं।"

पुष्यमित्र—"भंते ! अनेक धन्यवाद अर्पित करके अब हम लोग बिदा माँगेंगे।"

यह कहकर प्रणामानंतर आशीर्वाद पाकर दोनो मित्र अपने डेरों को सिधारे।

(ब) कौटुंबिक चित्र

यथासमय गयाजी जाकर मातामही और पितृचरण की सेवा में दोनो मित्र उपस्थित हुए। वहाँ इस प्रकार वार्तालाप हुआ—

बहसतिमित्र—"बेटे ! तुम दोनो ने सुना, सम्राट् के सम्मुख बहुत अच्छे काम दिखलाए, किंतु इतना पूछना है कि उन पर मेरा परिचय क्यों प्रकट कर दिया ?"

पुष्यमित्र—"जब अन्नदाता होकर उन्होंने आपका नाम लेकर पूछा, तब दुराव असंभव हो गया।"

बहसतिमित्र—"हुआ तो अवश्य, किंतु यह निमंत्रण-पत्र जो तुम ले आए हो, उससे तो मैं बड़े ही असमंजस में पड़ गया हूँ। मेरा मन यौगिक क्रियाओं में इन दिनों ऐसा लगा हुआ है कि उनसे उचटता ही नहीं।"

मातामही—"बेटा बहसति ! अब तुम्हें अपने भविष्य पर फिर से विचार करना योग्य है। प्रायः एक वर्ष से तुमने मेरा सदन पवित्र कर रक्खा है, जिससे यहाँ भी कुछ चहल-पहल दिखाई देने लगी है, नहीं तो युगों से तुम्हारे कक्कूजी के पीछे यहाँ क्या सुख शेष था ? अब भी सोचो। मैं बूढ़ी होने आई हूँ। ये बच्चे अब किसका मुख देखेंगे ?"

बहसतिमित्र—"अम्माजी ! आप चित्त उदास क्यों करती हैं ? आपको किस बात की कमी है ? कक्कूजी का शरीर तो फेरे फिरता नहीं, न

आपकी कन्या ही फिरकर मिल सकती है। फिर भी उसके पुत्र पुष्य को आप सदैव से उसी का प्रतिनिधि मानती आई हैं। अब तो घर में आपको अपनी कन्या के पौत्र के भी दर्शन हो रहे हैं। अभी आपका शरीर भी सबल है।"

मातामही—"इन्हीं कारणों से तो मैं फिर से मोह-माया में फँसी जा रही हूँ; यदि अपने लिये नहीं, तो पुत्र-पौत्रादिकों के अर्थ तो तुम भी अब फिर से अस्त्र उठाओ। देखो, तुम्हें त्यागी-सा देखकर मेरा कलेजा बैठा जाता है। अब किसे देखकर इस बुढ़ौती के जीवन को सुखी बनाऊँ? मान जाओ, बेटे! अब इन बालकों का उत्साह बढ़ाओ। सम्राट् के सम्मुख इन्होंने जो श्रेष्ठ कार्य दिखलाए, उन पर साधुवाद करने के स्थान पर तू इन्हें एक प्रकार से डाट रहा है। भला, अब ये किस प्रकार प्रसन्न हों?"

बहसतिमित्र—"अम्माजी! आपकी आज्ञा हर प्रकार से शिरोधार्य है। (बालकों से) मेरे लाड़िलो! तुम दोनो शत बार धन्य हो! आज साम्राज्य में मेरा मान अपने कारण न होकर एक प्रकार से तुम्हारी ही योग्यता पर हो रहा है।"

पुष्यमित्र—(पिता के पैरों पर सिर रखकर और उनके द्वारा हृदय से लगाया जाकर तथा फिर बैठकर) "पूज्य कक्‍कूजी! यह क्या आज्ञा होती है? हम लोगों में क्या योग्यता है?"

धनभूति—(पैरों पड़कर और बहसतिमित्र द्वारा उठाया जाकर) "कक्‍कूजी! हम लोगों ने जो कुछ थोड़ा-बहुत जाना है, विद्या वह पाई किससे है?"

मातामही—(बहसतिमित्र से) "बेटा! अब तुझे फिर से साम्राज्य सबल करना चाहिए।"

बहसतिमित्र—"अम्माजी! आज्ञा तो आपकी उचित है, किंतु मागध राजशक्ति आजकल गई-बीती हो रही है; पराजयों - पर - पराजय

पाकर भी नहीं सँभलती। अब मैं कहाँ तक इस लड़े ऊँट को दागूँ ?"

मातामही—"यदि कुछ न कर सकोगे, तो तुम्हारा महाराजा-पद कैसे बचेगा ? क्या साम्राज्य ही के साथ उसकी भी इतिश्री न हो जायगी ?"

बहसतिमित्र—"यह तो प्रकट ही है, अम्माजी !"

मातामही—"तब फिर क्या योग-मात्र से अपने दोनो कुटुंब स्वाहा न हो जायँगे ?"

बहसतिमित्र—"ऐसा तो प्रत्यक्ष ही दिखाई देता है।"

मातामही—"इतना सब जानकर भी बेटे ! तेरा मन यौगिक क्रियाओं में लगता कैसे है ?"

बहसतिमित्र—"किया क्या जाय ?"

मातामही—"आश्चर्य ! महदाश्चर्य !! आज मैंने जाना कि तुम सचमुच योगी हो। फिर भी मेरे इन बच्चों का भविष्य तो सोचो।"

पुष्यमित्र—"कक्कूजी ! सौ फूँकों से गीली वस्तु भी जलने लगती है। प्रयत्न एक बार फिर कीजिए न।"

धनभूति—"कक्कूजी ! इतना सब जान-बूझकर भी आप इतने प्रसन्न दिखाई दे रहे हैं, यह भी कठिन कार्य है। फिर भी आपको प्रयत्न करना आवश्यक दिखाई देता है।"

बहसतिमित्र—"जब सबकी यही सम्मति है, तब ऐसा ही हो। चलो, इस बार पूर्ण बल के साथ कथन करूँगा।"

मातामही—"धन्य बेटे, धन्य ! तुमसे मुझे यही आशा थी। ऐसी बातें करना, जिससे मेरे इन दोनो लालों का भविष्य समुज्ज्वल रहे।"

बहसतिमित्र—"यह तो है ही; क्या अपने लिये मुझे कुछ थोड़े ही चाहिए।"

मातामही—"अभी तेरी अवस्था ही क्या है, जो वृद्धों की भाँति मुझ तक से आलाप कर रहा है। अभी तो तूने ४९ वर्ष भी पूरे नहीं किए।"

बहसतिमित्र—"आपके मुख से ऐसे ही कथन मेरे लिये शोभा पाते हैं।"

धनभूति—"इस विषय में हम लोगों का कुछ कहना तो 'छोटे मुँह बड़ी बात' है, किंतु आयु आपकी साधारणी है ही, विशेषतया श्रीमती नानीजी के समक्ष।"

मातामही—"इसमें भी कोई संदेह है? जब से मेरी प्रिय पुत्री का स्वर्गवास हुआ, और मेरे कहने पर भी तूने दूसरा विवाह न किया, तभी से, प्रायः दस वर्षों से, तेरा चित्त संसारीपने से कुछ हट-सा रहा है, नहीं तो इस छोटी-सी अवस्था में यौगिक विचारों का क्या कथन? तुझसे अधिक तो मैं इन बच्चों से अनुरक्त हूँ।"

बहसतिमित्र—"बच्चों से बूढ़ों का प्रेम विशेष होता ही है; फिर भी मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि प्रयत्नों में अणु-मात्र शैथिल्य न आवेगा।"

धनभूति—"बड़ी कृपा हुई कक्कूजी!"

(स) छात्र-वृत्ति

इस प्रकार मंत्रणा करके महाराजा बहसतिमित्र दोनो बालकों को साथ लेकर पाटलिपुत्र पधारे। पहले उन्होंने महामंत्रीजी से संलाप करके दोनों मित्रों में मतैक्य उत्पन्न किया; अनंतर सम्राट् महोदय की सेवा में ये सब लोग उपस्थित होकर नत-मस्तक हुए।

सम्राट्—(मुस्किराकर) "कहिए महाराज बहसतिमित्रजी! हम लोगों को छोड़कर इतने दिनों तक आप कहाँ लोपांजन लगाए रहे?"

बहसतिमित्र—"यह देव की महती कृपा है, जो अब तक मुझसे प्रेम-पूर्ण संभाषण किया जाता है, नहीं तो क्या मैं अब भी मुख दिखलाने योग्य हूँ?"

सम्राट्—"अयोग्यता तो सारे साम्राज्य की प्रमाणित हुई है, केवल आप पर कोई विशेष भार नहीं है।"

बहसतिमित्र—"पराजय का पूर्ण भार यदि महासेनापति पर न होगा, तो क्या ग्राम्य भिक्षुकों पर पड़ेगा ? फिर एक नहीं, तीन-तीन पराजयों की दशा, वह भी एक क्षुद्र शत्रु से ! इन विपत्तियों से वह प्रचंड दुर्गंधि उड़ रही है कि नाक नहीं दी जाती, देव ! क्या कहूँ ? मैं कौन-सा काला मुख देव को दिखलाने योग्य रह गया हूँ ? अंतिम विपत्ति के शोक से स्वयं सम्राट् सालिसूकजी का शरीर ही छूट गया ! हा कैसे कहूँ, और क्या करूँ ?"

महामंत्री—"महासेनापतिजी ! आपका कहना अक्षरशः सत्य है । साम्राज्य की दशा अत्यंत शोचनीय है, किंतु जो कुछ शेष है, यदि उसकी रक्षा और उन्नति का प्रबंध न होगा, तो देश कहाँ रहेगा ?"

सम्राट्—"यही तो बात है, आर्य बहसति ! जो हुआ, वह तो हो ही चुका, अब भविष्य की चिंता आवश्यक है या नहीं ?"

बहसतिमित्र—"है क्यों नहीं ? देव ! कोई श्रेष्ठ महासेनापति खोजा जाना चाहिए, नहीं तो साम्राज्य की दशा और भी शोचनीय हो सकती है ।"

सम्राट्—"योग्य सेनापति भी क्या मूली-गाजर है कि हाट से तुलवा मँगाऊँ ? अपनी सेना की दशा ऐसी गई-बीती है कि एक अनुभव-शून्य, अल्पवयस्क विद्यार्थी को भी हमारे सेनापति पराजित न कर सके । अब कहिए, कहाँ से महासेनापति खोज निकाला जाय ? आपकी महती लज्जा का भाव पूज्य है, किंतु उसी के साथ प्रबंध-शैथिल्य का दोष लगा हुआ है । जो हुआ, हो ही गया, अब भविष्य पर विचार कीजिए ।"

बहसतिमित्र—"तीन बार पराजित किसी अयोग्य व्यक्ति की सम्मति ही क्या मूल्य रखती है ?"

महामंत्री—"आर्य ! आपकी प्रचंड आत्मप्रतारणा है तो समझ में आने के योग्य, किंतु इतना तो भी कहना पड़ता है कि यह प्रबंध नहीं है । कृपया अब कार्य-कौशल पर आइए ; प्रचंड आत्मभर्त्सना के वचन

छोड़कर भविष्य पर कथन कीजिए। यह विचारिए कि अब साम्राज्य की रक्षा कैसे हो?"

बहसतिमित्र—(नत-मस्तक होकर एक बार फिर सम्राट् का अभिवादन करके) "देव ! मैं सहस्र बार कृतज्ञता प्रकाश करता हूँ कि मेरी ऐसी प्रचंड असफलताओं को भुलाकर भवदीय आधिपत्य में साम्राज्य एक बार फिर मुझ पर विश्वास प्रकट करता है।"

सम्राट् "आर्य ! आपका हार्दिक क्लेश मैं भली भाँति समझता हूँ। अब केवल आपकी नहीं, वरन् सारे साम्राज्य की भूलों पर दृष्टिपात करना होगा।"

बहसतिमित्र—(महामंत्री से) "आर्य ! आप क्या सोचते हैं ?"

महामंत्री—"मेरा भी मत इस विषय पर देव की आज्ञाओं से पूर्णतया मिलता है।"

बहसतिमित्र—"तब मैं यही प्रार्थना करूँगा कि इन दोनो बालकों के मामलों पर आज्ञा हो जाय, और ये बाहर चले जायँ, क्योंकि साम्राज्य-संबंधी जो मंत्रणाएँ मैंने एक वर्ष एकांत-सेवन तथा तपश्चर्या से दृढ़ की हैं, उन्हें सुनकर ये दोनो चलित-धैर्य हो सकते हैं।"

सम्राट्—"ऐसा ! तब फिर मैं धनभूति से भी पूछूँगा कि क्या तुम अभी से कार्य-भार उठाना चाहते हो, या विदेश-यात्रा पर सन्नद्ध हो ?"

धनभूति—(हाथ जोड़कर) "देव ! यदि विपरीत आज्ञा न हो, तो अपने मित्र के साथ मैं भी विदेश-यात्रा का पूर्ण निश्चय कर चुका हूँ।"

सम्राट्—(बहसतिमित्र से) "क्यों आर्य ! इस विषय पर आपका विचार क्या है ?"

बहसतिमित्र—"चाहता तो मैं इन्हें यहीं रखना था, किंतु इनकी इच्छा अपने सहपाठी का साथ छोड़ने की नहीं होती। इनके भी उधर जाने से विदेश में दोनो के कल्याण पर मुझे विशेष आश्वासन रहेगा। इसलिये मैं भी प्रयाणार्थ इन्हें सम्मति दे चुका हूँ।"

सम्राट्—"तब फिर मैं भी स्वीकृति देता हूँ। छात्र-वृत्ति इन दोनो के लिये महामंत्रीजी उचित मात्रा में नियत कर देंगे।

बहसतिमित्र—"इसकी क्या आवश्यकता थी? देव! इन दिनों मैंने कौन-सी सफल राजसेवा की है, जो किसी पुरस्कार की भी पात्रता हो?"

सम्राट्—"पुरस्कार में आपको क्या दे रहा हूँ? क्या योग्य छात्रों को साम्राज्य की ओर से छात्र-वृत्ति न मिलनी चाहिए?"

बहसतिमित्र—"इतना बड़ा महाराज्य जो देव मुझे दिए हुए हैं, उससे क्या दो छात्र-वृत्तियाँ भी न निकल सकेंगी?"

सम्राट्—"आपको इससे क्या प्रयोजन? मैं तो अपने बच्चों का प्रबंध कर रहा हूँ।"

धनभूति—"कञ्चुकीजी महाशय! यह पारितोषिक तो हम दोनो ने देव की कृपा से उपार्जित किया है; आपका इससे क्या संबंध है?" (सब लोग हँसते हैं)

पुष्यमित्र—"यदि देव की आज्ञा हो, तो हम दोनो अब बिदा माँगें?"

महामंत्री—"हाँ, अब आप दोनो जा सकते हैं।"

अनंतर पुष्यमित्र और धनभूति सम्राट् और महामंत्री का अभिवादन करके बाहर जाते हैं। तब कुछ साधारण बातों के पीछे दरबार भी समाप्त होता है, और सम्राट् की सहर्ष आज्ञा से आर्य बहसतिमित्र महासेनापतित्व का कार्य फिर से करने लगते हैं, तथा इस संबंध का नैमित्तिक प्रबंध समाप्त किया जाता है।

चतुर्थ परिच्छेद

महामात्र

धर्मामात्य उपनाम महामात्र सम्राट् अशोक के समय में धर्म-प्रचारार्थ सारे साम्राज्य में परिभ्रमण किया करते थे। उनका मुख्य काम था समझे हुए उच्च धर्म का पौर जानपद द्वारा पालन कराना। यद्यपि उन सम्राट्-प्रवर ने जैन और बौद्ध-मतों को मिलाकर एक कमज़ाज़ू धर्म चलाया था, जिसे बहुतायत से राजमान प्रदान किया था, तथापि किसी पर उसके मानने का किंचिन्मात्र दबाव नहीं डाला जाता था। उसका जो कुछ मान हुआ, वह पौर जानपद के विचारों तथा राजमान के कारण। महामात्रों का कर्तव्य उस बौद्ध-मत का प्रचार न था, वरन् था ऐसी धार्मिक आज्ञाओं का चलाना, जिनका चलन साम्राज्य अनिवार्य समझता था। उनमें मुख्यता मांसाशन के साधारण निषेध तथा गुरुओं एवं माता-पिता के मान की थी। अशोक के पीछे इतिहास धर्मामात्यों के अस्तित्व का कथन तो नहीं करता, किंतु इस संस्था के पूर्णतया उठ जाने का भी विवरण नहीं है। समझ ऐसा पड़ता है कि अतिस्वल्प रूप में यह सम्राट् सोमशर्मन के समय पर्यंत चलती होगी।

आज गया में महामात्र महोदय का दौरा हुआ है। कई लोग अपने शत्रुओं पर मांसाशनादि के अभियोग चलाकर उन्हें न्यूनाधिक दंडित करा रहे हैं। एक विमाता ने आकर अपनी सौत के पुत्र पर यह अभियोग लगाया कि उसका पालन-पोषण उचित मान के साथ नहीं होता था। घटना इस प्रकार सिद्ध हुई कि पुत्र की माता की मृत्यु के पीछे जब पिता

के साथ इस विमाता का विवाह हुआ, तब इसने बेचारे मातृहीन बालक को भाँति-भाँति के कष्ट दिए, यहाँ तक कि उसे समुचित मात्रा में खान-पान-संबंधी वस्तुएँ भी नहीं मिलती थीं। अनंतर वह अप्रसन्न होकर घर से चला गया, और समय पर अपने निज पौरुष से प्रचुर संपत्ति एकत्र करने में समर्थ हुआ। उधर इसके पिता के पीछे उसकी छोड़ी हुई संपदा विमाता के कुप्रबंध से नष्ट हो गई। ऐसी दशा में लड़का अपनी विमाता को खाने-पहनने-भर को कुछ दे देता था, किंतु संपन्न प्रकार से रहने की सहायता नहीं करता था। उसका कथन था कि पैत्रिक संपत्ति तो उसने कुछ पाई नहीं, तथा प्रेम-पूर्ण व्यवहार विमाता ने जब उसके साथ किया नहीं, तब उसी पुत्र के द्वारा अर्जित धन में उस विमाता का कोई अधिकार न था। महामात्र का निर्णय ऐसा हुआ कि उपर्युक्त दशा में भी माता का मान आवश्यक था। अतएव उन्होंने समुचित मात्रा में सहायता-दान की राजाज्ञा दे दी। पुत्र ने प्रत्यक्ष कह दिया कि ऐसी अनुचित आज्ञा मानकर वह अपना धन एक अयोग्य व्यक्ति को न लुटाएगा, वरन् मौर्य-साम्राज्य छोड़कर कलिंग-राज्य में जा बसेगा।

एक शिष्य पर गुरु ने इसी प्रकार सहायता न करने का अभियोग चलाया। शिष्य का उत्तर ऐसा था कि उसके शत्रुओं द्वारा भड़काए जाकर गुरुजी अभियोग चलाते थे, यद्यपि शिष्यता की दशा में भी उन्होंने उसका योग्य मान नहीं किया था, तथा कई गुरुओं से समय-समय पर विद्या-लाभ करने से वह सारे जीवन-भर किस-किसको पूज सकता था, और इतना द्रव्य उसके पास कहाँ से आता? तो भी आज्ञा उसके प्रति-कूल हो गई।

इसी प्रकार के अनेकानेक अनुचित अभियोगों पर महामात्रों की ऐंड़ी-बेंड़ी आज्ञाएँ हुआ करती थीं। फलतः जहाँ वे जाने को होते थे, वहाँ सफल कार्यकर्ताओं में पहले ही से हाहाकार मचने लगता था, और वे बिलबिला-बिलबिलाकर यत्र-तत्र भागने लगते थे। बहुतेरे सफल कार्य-

कर्ता अन्य राज्यों को भाग जाते थे, और मौर्य-साम्राज्य में योग्यता का बहुत अनादर अथच फलतः अयोग्यता का मान होता था। काशी, अयोध्या, श्रावस्ती आदि में भी इसी प्रकार की आज्ञाएँ प्रचारित हो जाती थीं।

पंचम परिच्छेद

नवीन प्रबंध

पुष्यमित्र और धनभूति की विदेश-यात्रा के पीछे सम्राट् सोमशर्मन ने एक दिन केवल महामंत्री को साथ लेकर आर्य बृहस्पतिमित्र से राज्य-प्रबंध के विषय में वार्तालाप आरंभ किया—

सम्राट्—"अब तो दोनो विद्यार्थी विदेश जा ही चुके, और आपको कोई विशेष चिंता शेष है नहीं, राज्य-प्रबंध पर फिर से कथन हों न ? इन दो-चार दिनों में महामंत्रीजी तथा मैंने इस विषय पर विचार भी किया है।"

बृहस्पतिमित्र—"तब फिर देव की ही माननीय सम्मति पहले सुन न लूँ ?"

सम्राट्—"नहीं, पहले आप ही को मत-प्रकाशन योग्य है। आप सारा भय और संकोच छोड़कर अपना शुद्ध मत प्रकट कीजिए। विभाग आप ही का है।"

बृहस्पतिमित्र—"देव ! इस काल साम्राज्य पर प्रचंड संकट है, जिससे इसका अस्तित्व तक संशयाकीर्ण हो रहा है। हम लोग एक क्षुद्र शत्रु तक का सामना करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। कलिंग-पति खारवेल को जाने दीजिए, अपने चुने हुए तीन सेनापति तिगुनी सेना लेकर भी एक अनुभव-शून्य विद्यार्थी तक से पराजित हो गए। केवल इतना ही नहीं, मैं घोषणा करके कह सकता हूँ कि सारी साम्राज्य-सेना का कोई भी सेनापति इस बच्चे के सामने आकर कदाचित् यशभागी न हो सकेगा।"

महामंत्री—"यह तो प्रत्यक्ष ही दिखाई दे रहा है, आर्य ! यही फल देखकर तो अपने दल के खोखलेपन पर हमारी आँखें और भी खुल गई हैं।"

सम्राट्—"इस बालक को आपने कितना समर-कौशल सिखला रक्खा है ?"

बहसतिमित्र—"देव ! मुझे जितना कुछ सामरिक ज्ञान है, वह सब मैंने पाँच वर्षों के विकट प्रयत्न से इस स्नातक में कूट-कूटकर भर दिया है। मुझमें और इसमें अब केवल समरांगण के दीर्घकालीन अनुभव-मात्र का अंतर है।"

महामंत्री—सामरिक प्रबंध भी तो बेचारा अभी न जानता होगा।"

बहसतिमित्र—"सो तो हई है। मैं आपके लिये एक अजेय महासेनापति उत्पन्न कर रहा हूँ। अभी कोई शीघ्रता तो है नहीं, इसीलिये बाहर भी भेजकर तक्षशिला, पर्वतीय देशों, यवन-राज्यों, दाक्षिणात्य भारत और कलिंग के भी समर-शास्त्र का ज्ञान इसे कराना चाहता हूँ। अनंतर दो वर्ष फिर अपनी अधीनता में रखकर प्रबंध तथा वास्तविक रण-रंग का अनुभव करा दूँगा। आशा करता हूँ कि इस शिक्षण के पीछे कोई भी शत्रु-दल इसका सामना न कर सकेगा।"

सम्राट्—"आर्य ! क्या युद्ध का फल सैनिकों के शौर्य पर अवलंबित न होकर सेनापति पर ही आधारित रहता है ?"

बहसतिमित्र—"देव ! है तो मुख्यता सैनिकों की ही, किंतु उत्कृष्ट युद्धकर्ता मिल प्रायः सब कहीं जाते हैं, जिससे सेना के नियंत्रण का ज्ञान ही प्रधानतया जय-पराजय का कारण होता है।"

सम्राट्—"फिर भारी सेना रखते हुए भी हम कलिंगपति से क्यों हारे ?"

बहसतिमित्र—"दीनबंधो ! अपने पास वास्तव में सेना थी ही नहीं। सुशिक्षित कलिंग-दल के सम्मुख गँवदल क्या ठहरता ? महामंत्रीजी

को तो सारी व्यवस्था ज्ञात है। कहने-सुनने में मैंने सीमोल्लंघन पर्यंत कर दिया। विनती-ग्रामती करने में धृष्टता तक के आगे निकल गया। सम्राट्-प्रवर सालिशूकजी पराजय से ऐसे दुःखी हुए कि ग्रंततोगत्वा शरीर-पात ही हो गया। किंतु हा! क्या कहूँ?"

सम्राट्—"आर्य! अब कहते जाइए, स्पष्ट भाषण में त्रुटि न कीजिए। अभी तो एक ही बृहदाकार पराजय हुई है, कहीं ऐसा न हो कि भविष्य इससे भी बुरा हो पड़े।"

महामंत्री—"यही तो बात है, देव! इन्हें तो आत्मग्लानि ऐसा घेरे हुए है कि मुख से बात ही नहीं निकलती।"

सम्राट्—"क्या करें बेचारे, मामला ही वैसा ही हो गया। (बृहस्पतिमित्र से) आर्य! अब आप बेखटके होकर कह जाइए। मुझे भविष्य का परिशोधन करना ही पड़ेगा, नहीं तो साम्राज्य ही गल हो सकता है। कहते जाइए, आर्य! संकोच का समय नहीं है।"

बृहस्पतिमित्र—"देव की जो आज्ञा! बात भी वास्तव में ऐसी ही है। अच्छा, सुनिए। मैं कुछ प्राचीन ऐतिहासिक विवरण भी करना चाहता हूँ।"

महामंत्री—"अवश्य कीजिए, आर्य!"

बृहस्पतिमित्र—"अपने यहाँ आर्यों का इतिहास सत्ययुग से चल रहा है। उस काल अपने पूर्वपुरुषों ने छः मन्वंतरों के कथन किए हैं, जिनकी कथाओं से समझा जाता है कि वे ईरान, हिमालय तथा भारत में थे। कौन कथा कहाँ से संबद्ध है, इसका अनुमान तो किया जा सकता है, किंतु अभी तक पूर्ण निश्चय का अभाव है।"

महामंत्री—"ऐसा तो हई है, आर्य! वास्तविक इतिहास तो मनु-वैवस्वत के बुध के साथ भारत में पदार्पण से प्रारंभ होता है।"

सम्राट्—"यही बात है, आर्य!"

बृहस्पतिमित्र—"इन दोनों वंशों में पौरव कुल की प्रधानता रही। हमारे पौराणिक ग्रंथों में वास्तविक इतिहास पूर्व में अंग राज्य से पश्चिम में

इंद्रप्रस्थ तक के प्रांतों का मिलता है, तथा इतर प्रांतों की मुख्य घटनाओं-मात्र के कथन हो जाते हैं। पौरवों से इतर सूर्यवंशियों तथा यदुवंशियों के वर्णन प्राप्त हैं। प्राचीन भारत में सम्राटों के कथन तो हैं, किंतु वास्तविक सम्राट् कोई था नहीं। इस पद के संबंध में उस काल ययाति, मान्धाता, भरत, राम, जरासंध, युधिष्ठिर, जनमेजय, जनक मैथिल आदि के कथन आते हैं, किंतु आर्य-सभ्यता के विचार ऐसे थे कि सम्राट् इतर आर्य नरेशों पर प्रभाव-मात्र स्थापित कर ले, किंतु उनके राज्य न छीने। समस्त भारतीय एकता का विचार उस काल न उठा, तथा आर्य-संस्कृति नरेशों के अधिकारों का उचित से अधिक मान करके भारतमाता का उद्दीप्त रूप आँख से ओट रखती रही, और यही उच्च सभ्यता मानी गई। फल यह हुआ कि कथित सम्राटों के प्रभाव क्षणिक रहे।"

सम्राट्—"इस कथन से तो सिद्ध हो रहा है कि भलाई से भी अनौचित्य निकला।"

महामंत्री—"यह तो दिखाई ही दे रहा है, देव!"

बृहस्पतिमित्र—"अनंतर ११५ नंद-संवत् (४०२ ईसा-पूर्व) में गद्दी पर महापद्मनंद बैठा, जो मातृकुल से आर्य होकर भी पितृवंश में नापित शूद्र था। उसने उपर्युक्त आर्य-संस्कृति का मान न करके सारे बंग, मगध, मैथिल, कान्यकुब्ज आदि प्रांतों के सभी क्षत्रिय-नरेशों का मूलोच्छेदन कर डाला, जिससे विपासा-नदी के पूर्वी किनारे-पर्यंत एक साम्राज्य स्थापित हुआ, जो नंद-संवत् १९५ (३२२ ई० पू०) पर्यंत चलता रहा, और जिसके द्वारा अलिकसुंदर के मान का पराभव हुआ। फिर भी कई कारणों से सांसारिक महाशक्तियों के विचार में इस नव-नंद-वंश की संज्ञा सम्राटों में न हुई, और उसी संवत् में जो अपना मौर्य-साम्राज्य सम्राट् चंद्रगुप्त तथा महामंत्री विष्णुगुप्त चाणक्य के प्रयत्नों से स्थापित हुआ, वह संसार का सर्वप्रथम साम्राज्य कहला रहा है।"

सम्राट्—"यह तो बड़े ही हर्षोत्कर्ष की बात है।"

महामंत्री—"ऐसा तो हुई है, देव !"

बहसतिमित्र—"देव ! यह साम्राज्य एक प्रचंड सामरिक शक्ति थी, जिसमें रथ, गज, हयसादी तथा पदाति मिलाकर प्रायः सात लक्ष सेना रहती थी। सम्राट्-प्रवर चंद्र ने यवनों को भी पद-दलित करके दक्षिण में नर्मदा-पर्यंत और पश्चिम में वंक्षु-प्रदेश (अफ़ग़ानिस्तान) तथा बलूचिस्तान तक अपना विशाल साम्राज्य फैलाया। तत्पुत्र सम्राट् बिंदुसार ने उसे दक्षिण में कृष्णा-नदी-पर्यंत विस्तीर्ण किया, और प्रियदर्शी सम्राट् अशोकवर्द्धन का प्रभाव कलिंग पर भी फैला, किंतु उस समय पर्यंत उनके कोमल चित्त पर बौद्ध-मत का प्रभाव पड़ चुका था, जिससे कालिंग समर में एक लक्ष योद्धाओं और लाख-दो लाख इतर लोगों के विनाश से वह चलित-धैर्य हो गए, तथा आगे से कोई भी युद्ध न करने का घातक प्रण कर बैठे, जो अपने आगेवाले २८ वर्षों के शेष राज्य-काल में उन्होंने निभा दिया।"

सम्राट्—"इस उच्च-मानस-पूर्ण प्रण को, आर्य ! आप घातक क्यों कहते हैं ?"

बहसतिमित्र—"इसी के कारण तो साम्राज्य की वर्तमान दीन दशा हो रही है। सम्राट् को इतना समझानेवाला उस काल कोई न निकला कि यदि समरकांड से दस-पाँच वर्षों में कभी दो-चार लक्ष लोग कट सकते हैं, तो उन्हीं से वह बृहत् शांति स्थापित रहती है, जिससे प्रायः १० कोटि पौर जानपद सुख-चैन मनाते हैं, तथा और नहीं तो २५ लक्ष नवीन बालक प्रतिवर्ष उत्पन्न होकर जन-संख्या भी बढ़ाते हैं। इतनों के कल्याणार्थ यदि थोड़ी-सी संख्या की अनिवार्य क्षति हुई, तो कौन-सी बात है ?"

सम्राट्—"यह कथन तो उचित ही है, आर्य ! स्वयं आर्य कौटिल्य चाणक्य का मत है कि राज्य-शास्त्र वस्तुतः दंड-शास्त्र है।"

बहसतिमित्र—"फिर देखा जाय, देव ! कि प्रियदर्शी के युद्ध छोड़ने

से क्या साम्राज्य में शांति स्थापित हो गई ? फल केवल इतना हुआ कि अपनी शक्ति घट गई, जिससे दस-बारह वर्षों के भीतर ही बाह्लीक (बलख, बैक्ट्रिया) राज्य यवनों ने स्थापित करके अपने तद्देशीय प्रांत साम्राज्य से छीन लिए, तथा तब से उस ओर क्या विकराल मार-काट नहीं मची हुई है, और क्या लाखों का जन-विनाश प्रतिवर्ष नहीं होता आया है ?"

सम्राट्—"ऐसा तो प्रत्यक्ष ही है, आर्य !"

बहसतिमित्र—"अनंतर प्रियदर्शी ने वृद्धापा में सम्राज्ञी तिष्यरक्षिता से विवाह किया, जिस कुलटा ने राजपुत्र कुनाल से ही व्यभिचार करना चाहा, और उसके न मानने पर उसकी आँखें निकलवा लेने की झूठी राजाज्ञा भेजवा दी। बेचारा राजपुत्र फिर भी पिता का आज्ञाकारी बना रहा, किंतु तत्पुत्र संप्रति ने पियदर्शी के समय में ही पाश्चात्य भारत में एक स्वतंत्र राज्य-सा स्थापित कर लिया।"

महामंत्री—"यही तो हुआ ही, वरन् नंद-संवत् २८९ (२३२ ई० पू०) में सम्राट् प्रियदर्शी के स्वर्गवासी होते ही उन्होंने मगध-पर्यंत देश छीनना चाहा। वह तो आप ही का पराक्रम था, जिससे इस ओर सम्राट् का साम्राज्य बच गया, नहीं तो न-जाने क्या हो जाता।"

सम्राट्—"अच्छा, आर्य ! मैं पूछता हूँ, जिस सैनिक बल ने महाराज संप्रति से अपनी शक्ति बचाई, वह अब खारवेल के सम्मुख क्यों काम नहीं देता ?"

बहसतिमित्र—"देव ! ये दोनों शक्तियाँ समान रूप से खोखली थीं, जिससे राज्य का सामरिक नेतृत्व काम कर गया। इधर वर्तमान कलिंग-दल बहुत सुशिक्षित है, तथा उसका नेता भी पूर्ण गुणी है। इसीलिये अपना साम्राज्य डूबा-सा जाता है।"

सम्राट्—"यह बात है ?"

बहसतिमित्र—"मेरे समर-कौशल से प्रसन्न होकर नंद-संवत् २८८

(२२१ ई० पू०) में सम्राट् दशरथ ने मुझे दश सहस्र सेना रखने के लिये एक महाराज्य प्रदान कर दिया, जिसकी राजधानी राजगृह स्थापित की, तथा सम्राट् चंद्रगुप्त का सुगांगीय प्रासाद मेरे रहने को दिया गया। उसी वर्ष यह पुत्र उत्पन्न हुआ, जो देव की प्रसन्नता प्राप्त करने का सौभाग्य पा सका है।"

महामंत्री—"वह संवत् आपके लिये बड़ा शुभ रहा।"

बृहस्पतिमित्र—"जब स्वामी की कृपा हो गई, तब संवत् शुभ क्यों न होता? अनंतर मैं अब तक उस महाराज्य का एक कार्षापण भी अपने काम में नहीं लाया हूँ, वरन् दश सहस्र के स्थान पर विश्वभूति के सुप्रबंध से उसी आय से पचीस सहस्र श्रेष्ठ और विनीत सेना रखता आया हूँ। यदि प्रियदर्शी ने अपने पूज्य पितामह की भाँति कलिंग के भी राजकुल को उच्छिन्न कर दिया होता, तो साम्राज्य पर यह कुदिन क्यों आता? कलिंग-विजय से साम्राज्य की शत्रुता तो उस राजवंश से हो गई, किंतु अपने कथन-मात्र का प्रभाव स्थापित करके उसका स्वामित्व न हटाया गया, जिससे सिंधुवेला के समय तक तो मामला किसी प्रकार चलता रहा, किंतु जब से तत्पुत्र व्यवसायी खारवेल गद्दी पर बैठा, तभी (नंद-संवत् २९६) से कलिंग-बल की दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति हो रही है। उसने जैन होकर भी ब्राह्मणों से सारा कर लेना छोड़ दिया है, जिससे उसकी लोक-प्रियता बढ़ी। अनंतर नंद-संवत् ३०२ में उसने मेरे महाराज्य पर ७५,००० की सेना लेकर आक्रमण कर दिया।"

महामंत्री—"आपके पास केवल २५,००० सेना थी ही, वह उसका सामना कैसे कर पाती? उधर यवन दिमिति भी मथुरा की ओर से दोनों के प्रतिकूल बढ़ रहा था।"

बृहस्पतिमित्र—"मैं पराजित तो हुआ, किंतु सेन-संचालन का ऐसा कौशल रक्खा गया, जिससे उसकी सेना राजगृह और यवन-दल के बीच में आ गई। उससे हतप्रभ होकर यवन-दल मथुरा चला गया, तथा मेरी

थोड़ी ही-सी क्षति के पीछे कलिंग-दल भी अधिक युद्धोन्मुख न होकर स्वदेश पलट गया।''

सम्राट्—''युक्ति तो आपने अच्छी खेली।''

बहसतिमित्र—''इसके पीछे मैंने सम्राट्-प्रवर संगत से कई बार प्रार्थनाएँ कीं कि उच्च सामरिक नियमानुसार सैनिक-संख्या-वृद्धि, परमोच्च शिक्षण तथा शस्त्रास्त्र-संचय के कार्य तुरंत हों, नहीं तो राज्य का कल्याण नहीं।''

सम्राट्—''आपके सामरिक विभाग में दोष क्या-क्या थे?''

बहसतिमित्र—''देव! सैनिक कार्य परिश्रम माँगता है। योद्धाओं को सबल, सुशिक्षित, कार्य-कुशल और साहस-पूर्ण होना चाहिए। चमूपों को अपने योद्धाओं के साथ जुटकर तीन पहर नित्यप्रति कार्य करना चाहिए। व्यायाम, नियम, शस्त्राभ्यास तथा उत्साह सेना के जीव हैं। चमूपों का श्रमशील होना परमावश्यक है। अपने यहाँ यह दशा थी कि सैनिक तो मैदान में काम कर रहे हैं, उधर चमूप, सेनापति आदि घर में बैठे मौज उड़ाते हैं। कोई सेनापति किसी मंत्री का कृपा-पात्र है, तो कोई स्वयं सम्राट् या रनिवास का। मेरी आज्ञाओं की खुली-खुली अव-हेलना होती थी, और मैं कुछ कर न पाता था। युद्ध-कार्य तो जीवन-मरण का प्रश्न है, वहाँ अपने सैनिक सुख की नींद सोना चाहते थे। हो, तो क्या हो?''

महामंत्री—''उधर दो ही वर्षों में कलिंग-सेना फिर आ पहुँची।'

बहसतिमित्र—इस बार उसने अंग को भी लूटा, और स्वयं साम्राज्य का कुछ किया न हुआ। मैं फिर सम्राट् की सेवा में रोता-कलपता रहा, किंतु कोई फल न निकला, और दूसरे ही वर्ष नंद-संवत् ३०६ में सम्राट् का शरीर-पात ही हो गया। बेचारे सम्राट् सालिसूकजी जब तक कुछ करें, तब तक दूसरे ही वर्ष खारवेल का धावा मेरे राजगृह पर फिर हो गया। इस बार स्वयं सम्राट् डेढ़ लक्ष सेना लेकर युद्धार्थ पधारे। मैंने कुछ अपनी

भी सुशिक्षित सेना उसके साथ लगा दी। साम्राज्य का दल तो शत्रु की केवल एक लक्ष सेना के सम्मुख से पीठ दिखलाकर पलायित हो गया, किंतु मेरे निजू दल ने प्रयत्न करके शत्रु पर यह आलित न होने दिया। सम्राट् का शरीर तो बच गया, किंतु सुगांगीय प्रासाद में शत्रु गजारोही होकर आया, और मुझे स्वयं उसके आगे झुकना पड़ा।"

सम्राट्—"आपको बड़ा ही कष्ट हुआ होगा।"

महामंत्री—"इसमें क्या संदेह है? बेचारे मुँह छिपाकर अंतर्धान ही हो गए। सम्राट् की मृत्यु इनसे देखी न गई।"

बहस्पतिमित्र—"अब जो हुआ, वह तो हो चुका; यदि मुझसे सम्मति माँगी जाने की कृपा होती है, तो पहले मैं यही कहूँगा कि साम्राज्य देव का है ही, मेरे महाराज्य, शरीर, पुत्र, पौर जानपद, राजकीय वर्ग आदि भी सब देव ही के हैं। जैसा भक्त लोग प्रायः कहते हैं, मैं भी बिनती करता हूँ—

मेरा इसमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर;
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मोर?

मुझे अब किसी अधिकार की इच्छा नहीं। अब प्रायः दश वर्ष हुए, जब से पुष्य की माता ने स्वर्गारोहण किया, तब से द्वितीय विवाह न करके मैंने सैनिक कार्य और योग-साधन में ही अपना सारा समय दे रक्खा है। पुत्र का सामरिक शिक्षण-मात्र करता था, नहीं तो वानप्रस्थ हो रहता। मैंने सदैव जो चार सहस्र रजत पण मासिक वेतन पाया है, उसी से निर्वाह करता आया हूँ। महाराज्य न कभी अपना माना है, न अब भी रखने की इच्छा है। मैं तो महासेनापतित्व, महाराज्य और पुत्र के पितृत्व, तीनों से त्याग-पत्र देता हूँ। सम्राट् सब कुछ सँभालने की कृपा-मात्र करें।"

महामंत्री—"यह तो सब माना, किंतु दूसरे ही वर्ष जो खारवेल का आक्रमण होगा, उसका भी तो कुछ प्रबंध होना है।"

सम्राट्—"ये ही तो इनकी बातें हैं। लज्जा के मारे साम्राज्य और शरीर भी भूले जाते हैं।"

बहसतिमित्र—"देव! तो साम्राज्य की यह सेना न होने के बराबर है। मैं इनके बल पर कुछ भी नहीं कर सकता।"

सम्राट्—"आखिर कोई उपाय भी बतलाओगे, या यों ही रोते ही रहोगे? कलिंग का सामना क्या साम्राज्य के लिये अब असंभव है?"

बहसतिमित्र—"देव! अहंकार करना तो झख मारना है, और मुझमें शक्ति भी क्या है, किंतु सम्राट् का वह प्रताप है कि यदि केवल आज्ञा देते जायँ, तो यही अनुचर दो कालिंगों तथा दिमितियों को साथ-ही-साथ गर्द में मिला सकता है।"

सम्राट्—"धन्य महाराज! धन्य! अच्छा, फिर युक्ति बतलाइए।"

बहसतिमित्र—"देव तो साहित्य-शास्त्र के भी अभ्यासी हैं, मैं अपने सामरिक विचारों का सार तीन-चार छंदों में प्रकट करना चाहता हूँ।"

सम्राट्—(हँसकर) "अवश्य करो; अब मैंने जाना कि यह साम्राज्य नितांत नपुंसक नहीं है।"

महामंत्री—"क्या करें बेचारे! सम्मतियों के न चलने से शक्ति रखते हुए भी क्षुद्र शत्रुओं से तीन बार हारे; इनका विलाप समझ में आता ही है।"

सम्राट्—"अब विलाप की बात छोड़कर प्रसन्नता में आओ। पहले छंद ही सुनाइए।"

बहसतिमित्र—"जो आज्ञा। लीजिए, वही पढ़ता हूँ"—

करौ भरोसो सदा बाहु-बल को पनधारी;
एक खड्ग को गुनौ जीविका-साधन भारी।
जब लौं कर में रहै खड्ग, हिम्मति जनि हारौ;
सरबसहू चलि गए, न आपुहि निबल बिचारौ।

नित भूमि बीर-पतिनी रही, यहै मरम चित मैं धरहु ;
जग राखि बीरता-लाज सब रिपुगन कहँ मर्दित करहु ॥ १ ॥
एक निबल जनि हनौ, बार सबलन पर घालौ ;
सरनागत को सदा प्रान के सम प्रतिपालौ ।
नहीं बीरता साथ क्रूरता रंचक धारौ ;
क्रोध छोड़ि, गुनि धरम समर मैं सस्त्र प्रहारौ ।
पुनि प्रबल सत्रु सों भिरिकै नासहु जनि बहुमूल्य तन ;
कहुँ टरि, बचाय कहुँ, जुगुति सों करौ कुशलता-सहित रन ॥ २ ॥
धधकत अनल बिलोकि सलभ-सम जनि तनु जारौ ;
यह मूरखता गुनौ, बीरता नाहिं बिचारौ ।
उचित काल जनि प्रान छोड़िबे सों मुख मोड़ौ ;
पै नाहक तजि प्रान जनमभूमिहि जनि छोड़ौ ।
यहि जनमभूमि को मातु-सम गुनौ प्रीति-भाजन परम ;
नृप, याकौ हित-साधन गुनौ एक परम पावन धरम ॥ ३ ॥
राज न संपति गुनौ, राज गुरु भार बिचारौ ;
सुख-साधन गनि राज भूप जनि धरम बिसारौ ।
आपुहि सेवक-मात्र प्रजागन को अनुमानौ ;
परजा को हित परम धरम नृप का पहिचानौ ।
जो परजा सों कर लै खरच अन्य मारगन मैं करै ;
बिस्वासघात को पाप लहि घोर नरक मैं सो परै ॥ ४ ॥

महामंत्री—"धन्य आर्य ! आपने तो छंद ऐसे पढ़े, मानो अपनी वर्तमान दशा पर ही बनवाए हों।"

बृहस्पतिमित्र—"ऐसा तो हुआ ही था, आर्य ! साम्राज्य के एक कवि को अपने भाव बतलाकर उन्हें उनके द्वारा छंदोबद्ध करा लिया था।"

सम्राट्—"अच्छा, आर्य ! अब अपने निश्चित विचार बतलाइए।

भूमिका तो बहुत लंबी-चौड़ी हो चुकी, अब प्रथम अध्याय पर आइए।"

बहसतिमित्र—"जो आज्ञा। अब यही करता हूँ। मेरा विचार है, जब से यह साम्राज्य सामरिक रूप छोड़कर धार्मिक हो गया है, तभी से इसका सत्यानास हो रहा है। अपना राज्य भी प्रायः आधा रह गया है! उधर जो भाग महाराज संप्रति ने छीना था, वह भी सब जा चुका है, केवल विदर्भ में उनके वंश का कुछ अधिकार शेष है। यहाँ कलिंग में खारवेल बड़ा पराक्रमी है, तथा बलख की गद्दी पर यवन दिमिति उपनाम दंतिदुर्ग अधिष्ठित है, जिसका नाम वे लोग डिमिटियस कहते हैं। विदर्भ से भिड़ंत के तो कोई आकार-प्रकार सामने नहीं हैं, किंतु दंतिदुर्ग और खारवेल का सामना करना ही होगा।"

सम्राट्—"यह तो स्थिति हुई, अब अधिकारों का कथन कीजिए।"

बहसतिमित्र—"इस पर विनती यह है कि कम-से-कम चार लक्ष सेना मूल में रखनी होगी। धार्मिक विभाग पर व्यय बहुत बढ़ा है। साम्राज्य के आय-व्यय का दृढ़ अनुमान-पत्र बनाना होगा, और उसी के अनुसार पूर्णता के साथ चलना होगा। महासेनापति ही अक्षपटलाधिकृत भी होगा, और शेष मंत्री महामंत्री के पूर्णतया अधीनस्थ होकर दो ही प्रधान मंत्री रह जायँगे, अर्थात् महामंत्री तथा महासेनापति।"

सम्राट्—"यहाँ तक तो कोई कठिनता न पड़ेगी।"

बहसतिमित्र—"तब फिर विजय रक्खी हुई है। केवल एक ही बिनती और करनी है।"

सम्राट्—"वह भी कह डालो।"

बहसतिमित्र—"साम्राज्य की वर्तमान सेना में से केवल सुदृढ़ योद्धा रख लिए जायँगे, और शेष पृथक् हो जायँगे। मैं स्वयं जिसे योग्य समझूँगा, देव की आज्ञा लेकर नियत करूँगा। किसी धर्म-विशेष का

प्रश्न ही न होगा, जैसा वह इन दिनों मान्य होकर साम्राज्य का घातक हो चुका है। किसी भी व्यक्ति की नियुक्ति-संबंधिनी कोई सम्मति देव को अनुचित जँचेगी, तो हठ न करूँगा। हर दशा में देव की आज्ञा प्रधान होगी। जब तक मुझ पर सम्राट् का पूर्ण विश्वास रहेगा, तभी तक सेवा करूँगा, अन्यथा सारी संपत्ति तथा शरीर तक का त्याग-पत्र चाहे इसी समय स्वीकार हो जाय, वरन् अपने आचरण से मैं ऐसा कर ही चुका था।"

सम्राट्—"आपके नियम कुछ भी अनुचित नहीं समझ पड़ते। मुझे सब-के-सब सहर्ष स्वीकार हैं। आश्चर्य है, पहले क्यों न माने गए?"

महामंत्री—"उस काल तक इतना बृहत् संकट न समझा गया था।"

सम्राट्—तो महासेनापतिजी! आज क्या, अभी से साम्राज्य का प्रबंध बदला जाता है। कितने दिनों में आप सेना सन्नद्ध कर सकेंगे।"

बृहस्पतिमित्र—"देव! केवल षट् मास में। मैं कहूँगा इसी समय से मेरा पूर्ण उत्तरदायित्व माना जाय। इसी समय से समझ लिया जाय कि शत्रुवर्ग पद-दलित हो गया।"

सम्राट्—(हँसकर) "बहुत अच्छी बात है।"

षष्ठ परिच्छेद

बाह्लीक (बलख़, बैक्ट्रिया)

जब से महाराजा दंतिदुर्ग के पिता ने सम्राट् प्रियदर्शी की राजनीतिक शिथिलता से लाभ उठाकर बाह्लीक (बलख़) को राजधानी बनाया, तब से इस नगर की दिनोंदिन उन्नति होती आई है। आजकल राज-मार्गों, उपवनों, हाट आदि किसी पदार्थ की कमी नहीं। उच्च कुल के लोग प्रायः सायंकाल को वायु-सेवनार्थ निकला करते हैं। आज राजप्रासाद के सातों फाटकों को नाँघकर परम सुसज्जित चार घोड़ों के श्रेष्ठ रथ पर बैठी हुई दो कन्याएँ नगर-भ्रमण कर रही हैं। उन्होंने कुछ आभूषणों की दूकानें देख-भाल कर कई अलंकार मोल लिए, और फिर एक बढ़िया चित्रकार के कला-भवन में जा उनमें से एक ने अपना चित्र बनवाना प्रारंभ किया। कुछ कार्य उसमें हो चुका था, और कई बैठकें-भर शेष थीं। चित्रकार की तूलिकाएँ विविध रंगों के साथ ज्यों-ज्यों काम करती जाती थीं, त्यों-त्यों चित्र का रूप समुज्ज्वल होता जाता था। प्रायः दो घड़ी पर्यंत बैठक देकर ये दोनो कन्याएँ कला-भवन के अन्य उत्तमोत्तम चित्रों का निरीक्षण करने लगीं। चित्रकार क्या था; साक्षात् विरंचि का अवतार था; चित्रों में मानो जान फूँक देता था। कहीं जल-प्रपात का चित्र मिलता था, कहीं रम्य पर्वतीय दृश्यों का। उनमें भाँति-भाँति के वृक्ष, जंतु, गृहादि यथायोग्य स्थानों पर दिखलाए गए थे। कहीं बादलों के रंगीन चित्र संध्या समय क्षितिज-रेखा को छूते हुए अर्द्ध-आकाश-पर्यंत चित्रित थे। रंगों के चढ़ाव-उतार ऐसे रक्खे गए थे,

मानो वास्तव में आकाश सूर्यास्त का मनोरम रूप सामने रख रहा हो। दोनों युवतियाँ स्थान-स्थान पर चित्रकार की प्रशंसा करती जाती थीं, जिसे नत-मस्तक हो-होकर वह आदर-पूर्वक प्रणामों के साथ स्वीकार करता जाता था। इसी प्रकार देखते हुए उन्होंने एक युवा पुरुष का बहुत ही सुंदर, सजीव चित्र देखकर बड़ा आश्चर्य-सा किया। उस जगन्मोहिनी सुंदरता से बहुत प्रभावित होकर युवराज्ञी महोदया ने चित्रकार से पूछा।

युवराज्ञी—"मुसव्विर साहब ! आपने यह शबीह (तसवीर) बहुत ही बढ़िया बनाई है। तसवीर क्या है, गोया बोलना ही चाहती है। जिस तरफ़ से मुलाहिज़ा की जाय, आँख इसकी देखनेवाले की आँख पर ही जमी रहती है। आदमी क्या है, गोया ख़ूबसूरती का तबई नमूना किसी शायर ने सोचकर रख दिया हो। मैं आपकी लियाक़त की दिलोजान से तारीफ़ करूँगी। आपके ख़यालात में इतनी बलंद परवाज़ी आई कहाँ से ? यह तसवीर असली तो हो नहीं सकती।"

चित्रकार—"हुज़ूरे आलिया ! मुझमें शायरी की इतनी लियाक़त कहाँ है कि तबीयत से ऐसे ऊँचे नक़्शे बनाऊँ ? क़ुसूर मुआफ़ हो, यह तो हुज़ूर ही के दारुलइलूम में पढ़नेवाले एक तालिबेइल्म की तसवीर है। जैसे हुज़ूरे आलिया की तसवीर कई दिनों से बन रही है, उसी तर्ज़ से यह भी बनाई गई है। दो ही चार दिनों में मालिक के हवाले हो जायगी। अभी सिर्फ़ क़दरदानों के मुआइने के लिये रक्खी हुई है।"

युवराज्ञी—"यह बात तो समझ में आ नहीं रही है। क्या सचमुच यही बात है ? तमस्ख़ुर तो नहीं है ?"

चित्रकार—"हुज़ूरे आलिया ! मेरी क्या मजाल कि ख़ुदावंद नेमत के हुज़ूर में ऐसी बेअदबी सरज़द हो सके ? ग़रीबपरवर ! दरअसल यह एक तालिबेइल्म ही की तसवीर है।"

युवराज्ञी—"क्या नाम मालूम है ? पढ़ते कहाँ हैं ?"

चित्रकार—"नाम तो अच्छी तरह याद आता नहीं; यहाँ कुछ मित्तर-मित्तर-सा कहते थे। इल्मे-जंग की तालीम पा रहे हैं। हिंदोस्तान के किसी सूबे के बाशिंदे हैं।"

सखी— हुज़ूरे आलिया! अब महल वापस चलने का वक़्त आ रहा है, जनाब मलिका साहबा याद फ़र्मा रही होंगी।"

युवराज्ञी—(चित्र की ओर देखती हुई) "अच्छा, चलिए। देर सच-मुच हो रही है।"

इस प्रकार बात होने पर ये दोनो रथारोही होकर राजमहल की ओर चल पड़ीं। मार्ग में इस प्रकार बातें होती गईं—

सखी—"प्यारी हेलेन! आज आपको क्या हो गया था कि तसवीर देखकर कुछ आपे से बाहर-सी होती हुई समझ पड़ीं?"

हेलेन—"प्यारी इथ्यूज़ा! जल्दी में ग़लती तो ज़रूर कर गई। उस तालिबेइल्म की ख़ूबसूरती से मैं फ़रिश्ता-सी हुई जा रही हूँ। क्या कहूँ, तबीयत सँभाले नहीं सँभलती।"

इथ्यूज़ा—"क्या मैं उसका पता न लगा लेती?"

हेलेन—"इसमें बहन! क्या शक था, मगर कहती तो जाती हूँ कि तबीयत हाथ से बेहाथ हो गई।"

इथ्यूज़ा—"ज़रा अम्मीजान के सामने अपने को सँभाले रहिएगा, वर्ना दिक़्क़तें काफ़ी पेश आ सकती हैं।"

हेलेन—"अब ऐसा पागलपन बाक़ी नहीं है, मगर उसके खोज निकालने की कोशिश बहुत जल्द होनी चाहिए। अगर बहन! मेरी ज़िंदगी चाहती हो, तो इस मामले में तसाहुली न हो।"

इथ्यूज़ा—"मगर क़ुसूर मुआफ़, अगर वह शख़्स बुरे चाल-चलन का निकल जाय, तो?"

हेलेन—"सूरत से तो ऐसा ग़ैरमुम्किन है, मगर ऐसी हालत में तबीयत किसी तरह रोकनी पड़ेगी।"

इथ्यूज़ा—"तब तो ठीक है।"

अनंतर युवराज्ञी की सखी इथ्यूज़ा ने उपर्युक्त विद्यार्थी का पता लगा-कर दो-तीन दिनों के भीतर पूरे विवरण का निवेदन अपनी स्वामिनी से किया।

इथ्यूज़ा—"बहन हेलेन! वह तालिबेइल्म हिंदोस्तान का बाशिंदा गया की जागीरदारियों का वलीअहेद है। मंडल छोटा-सा है। चाल-चलन व तमीज़दारी में यकता समझा जा सकता है। कहता तो अपने को देहक़ानी है, मगर शाही आदाबो अल्क़ाब व तर्ज़-गुफ़्तगू से बख़ूबी वाक़िफ़ है।"

हेलेन—"तब फिर देहक़ानी क्यों बनता है?"

इथ्यूज़ा—"मालूम होता है किसी वजह से अपनी असली हैसियत ज़ाहिर करना नहीं चाहता।"

हेलेन—"तब फिर मेरी तबियत जो यकबारगी उस पर मायल हुई, उसके लिये काफ़ी वजूहात थे।"

इथ्यूज़ा—"वजूहात तो काफ़ी से ज़ायद थे, मगर एक बात बहुत बुरी है।"

हेलेन—"वह क्या?"

इथ्यूज़ा—"उसकी शादी हो चुकी है, बल्कि दो बच्चे भी हैं।"

हेलेन—"हिंदोस्तान में ऊँचे दर्जे के तुलबा तो २५ साल की उम्र के बाद शादी करते हैं। इधर इसका सिन अभी कम समझ पड़ता है।"

इथ्यूज़ा—"सिन तो २१ साल का है, अभी चंद ही रोज़ से उसे २२वाँ साल लगा है, मगर कमबख़्त शादी कर चुका है।"

हेलेन—"तब फिर यह पागलपन मुझे छोड़ना पड़ेगा।"

इथ्यूज़ा—"यही बात है। जूठी रकाबी पर निगाह क्या डालनी?"

राजकुमारी हेलेन ने निश्चय तो प्रीति न जोड़ने का कर लिया, किंतु इधर-उधर सोचते हुए दो-तीन बार परिषत् की ओर जा-जाकर ढोल से

उस विद्यार्थी के दर्शन यद्यपि दूर से हो किए, तथापि मन और भी बिगड़ा। मुँह पर पीलापन आने लगा, और किसी काम में चित्त ही न लगता था। ठंढी उसाँसें ले-लेकर बात करने लगी, यहाँ तक कि इथ्यूज़ा को संदेह हुआ कि यह दशा महारानी पर भी प्रकट न हो जाय। ऐसा सोचकर एक दिन उसने हेलेन से यों बात की—

इथ्यूज़ा—"बहन हेलेन! अब आपकी क्या हालत हो रही है? कुछ ग़ौर तो कीजिए।"

हेलेन—"सोचती तो बहन सब कुछ हूँ, लेकिन ज्यों-ज्यों उसे देखती जाती हूँ, त्यों-त्यों मुहब्बत का भूत और भी तेज़ी से सर पर सवार होता जाता है।"

इथ्यूज़ा—"इतनी बड़ी सल्तनत की वलीअहेदिया होकर यह क्या करती हैं? अपनी इज़्ज़त व हुर्मत का तो ख़याल कीजिए, बहन!"

हेलेन—"नानाजी साहब के ख़ानदान की शहज़ादी ख़ुद हेलेन साहबा ने भी सैंड्रोकोटस (चंद्रगुप्त) से शादी की थी, हालाँकि उनकी एक रानी पहले ही से मौजूद थीं।"

इथ्यूज़ा—"आप भी ग़ज़ब की बात फ़र्मांती हैं! कहाँ इतना बड़ा शहंशाहे-हिंद और कहाँ एक मामूली जागीरदार। फिर वह हुसूले-इल्म में इतनी तबीयत लगाए हुए है कि किसी की जानिब मुँह उठाकर देखता तक नहीं। हम दोनो कई बहाने कर-करके उस जा दोनो बार घड़ी-डेढ़घड़ी मौजूद रहीं, मगर उसने किसी जानिब रुख़ ही न किया, अपने हुसूले-तालीमे-जंग में ही मुब्तिला रहा। पढ़ने का भूत उस पर ऐसा सवार है, गोया इंसानियत से भी गुज़र गया है।"

हेलेन—"यही तो अज़्मत की निशानी है। वह क्या जानता था कि हम दोनो उसी के लिये ताक-झाँक कर रहे थे। तालिबेइल्म को अपने काम से बाहर निगाह ही न जाने देनी चाहिए। यही बात उसकी है। देखना बहन! किसी दिन बहुत बड़ा आदमी न हो जाय, तो अपना नाम बदल डालूँ।"

इथ्यूज़ा—"समझ तो मुझे भी यही पड़ता है, मगर जिस मामूली शख्स की एक शादी भी हो चुकी हो, उस पर क्या हुज़ूरे आलिया-शाँ वलीअहेद को ख्वाब में भी मायल होना चाहिए ?"

हेलेन—"यहीं तुम सोचतीं नहीं बहन ! मुहब्बत अंधी होती है। वह ऊँचा-नीचा थोड़े ही देखती । फिर जब मैं इतनी बड़ी सल्तनत की वलीअहेद हूँ, तब वह छोटा आदमी होकर भी मेरी वजह से आली-मर्तबा हो जायगा । भला, यह तो सोचो कि इधर मायल भी होगा । देखा तुम लोगों को भी उसने कई मर्तबा, मगर आँख नीची ही रक्खी, कनखियों से भी ज़्यादा देखने की परवा न की । मैं छिपे-छिपे सब ताड़ती रही । या तो वह ख़ुद किसी और पर मरता है, या तमीज़दारी ऐसी है कि किसी ख़ूबसूरत-से-ख़ूबसूरत बानू की तरफ़ छिपकर भी निगाह उठाना गुनाह समझता है । हैं उसके तरीक़े ग़ायत दर्जे के संजीदा व पाकीज़ा, मगर इस उम्दगी के अंदर कोई फ़साद न छिपा हो, यही मुझे ख़ौफ़ है ।"

इथ्यूज़ा—"आप भी हुज़ूरे आलिया होकर इस क़दर ख़याल फ़र्माती हैं कि तअज्जुब होता है ; अरे, जिस वक्त समझेगा कि हुज़ूर का रुख़ उधर है, तब सर के बल दौड़ेगा । ऐसी लाखों में एक ही परीज़ाद नाज़नीन और इतनी बड़ी सल्तनत का लालच कौन सँभाल सकेगा ?"

हेलेन—"ज़्यादातर मुमकिन यही है, मगर बहन, ऊँचे ख़यालात की बलंद परवाज़ी कहाँ तक जा सकती है, इसका पूरा अंदाज़ा अभी तुम नहीं कर रही हो ।"

इथ्यूज़ा—"मुमकिन है । अच्छा फिर हुक्म क्या होता है ?"

हेलेन—"अब तो अज़्मत का सब ग़ुरूर छोड़कर मैं कोशिश में मसरूफ़ होती हूँ ।"

इथ्यूज़ा—"मगर, बहन ! आप कभी किसी जानिब आँख उठाकर

देखती भी न थीं। नेकनामी की शोहरत सारी सल्तनत में हो रही है। आजकल यह क्या हो गया है ? मेरी अक़्ल चर्ख़ है।"

हेलेन—"यह क्या कहती हो ? अब भी क्या किसी बुरे रास्ते पर जा रही हूँ ? क्या नेकचलन लड़कियाँ शादी नहीं करतीं ? कुछ बद-चलनी की तरफ़ तो रुख़ है नहीं; क़ायदे से निकाह चाहती हूँ।"

इथ्यूज़ा—"मगर पैग़ाम पहले किधर से आना चाहिए ?"

हेलेन—"यह कोई आम तौर की शादी नहीं होगी। कोई मामूली जागीरदार इतनी बड़ी शाहज़ादी से पैग़ाम का हौसला कर ही कैसे सकता है, ख़ासकर जब उसकी एक शादी भी हो चुकी हो ?"

इथ्यूज़ा—"यहीं तो आपको भी समझना चाहिए।"

हेलेन—"समझूँ सब कुछ, मगर दिल माने तब न; कहती तो जाती हूँ, कोई तदबीर निकालनी चाहिए।"

इथ्यूज़ा—"तदबीर तो सहल ही है। वालिद माजिद ने आपको निशानेबाज़ी सीखने की इजाज़त क्या, बल्कि हुक्म दे रक्खा है। उसकी लियाक़त इस हुनर में बहुत बढ़ी हुई है ही। बस, उस्तादजी से कोई निशाना सिखलानेवाला माँगिए। ख़्वाहमख़्वाह उसी को भेजेंगे, और आपकी मतलबबरारी हो जायगी।"

हेलेन—"मुमकिन है, मगर यह भी हो सकता है कि ख़ुद ही मुझे सिखलाने को तैयार हो जायँ, या किसी दूसरे को नामज़द कर दें।"

इथ्यूज़ा—"हो सकता है, तब फिर क्या करना चाहिए ?"

हेलेन—"तुलबा के इम्तिहान लेने के हीले से चलकर ख़ुद उसे पसंद कर लाऊँ, तो कैसा ?"

इथ्यूज़ा—"यह और भी अच्छा है, ख़ुदा मालो मरातिब के साथ बरतर अक़्ल भी अक्सर अता फ़र्माता है। मगर बहन, एक बार फिर ग़ौर फ़र्मा लीजिए। वह आपकी अज़मत को पहुँचता नहीं है।"

हेलेन—"यह बहन, तुम्हारी ख़ामख़याली है। दरअसल ख़ुद मैं उसकी असली अज़्मत को नहीं पहुँचती।"

इथ्यूज़ा—"यह तो, हुज़ूरे अक़दस ! हुई शायरी, मगर इतना मेरी समझ में आ ही गया कि मामला अब आगे बढ़े बग़ैर न रहेगा।"

हेलेन—"दरीं चे शक।"

अनंतर राजप्रासाद से आज्ञा पहुँचाई गई कि परिषत् में शस्त्रास्त्र-परीक्षा के लिये युवराज्ञी महोदया पधारेंगी, अथच कुछ देर के लिये महाराजा तथा राजमहिषी का भी विराजना होगा। सारा प्रबंध शीघ्रता-पूर्वक ठीक किया गया, क्योंकि परीक्षा की तिथि बहुत निकट स्थिर की गई थी। यथासमय महाराज, महाराज्ञी, युवराज्ञी तथा इथ्यूज़ा परिषत् में पधारीं, और शस्त्रास्त्र-परीक्षा चलने लगी। महाराज ने मुख्याचार्य से यह भी कहलाया कि युवराज्ञी के लिये लक्ष्य-भेदन बतलाने को कोई प्रवीण विद्यार्थी भी चुना जायगा। शस्त्रास्त्र-प्रदर्शन के कार्य में पुष्यमित्र का पद सुगमतया सर्वश्रेष्ठ हुआ, और इनके पीछे धनभूति की भी प्रवीणता अच्छी ठहरी। परीक्षा देखने में शाह तथा मलिका ऐसी प्रसन्न हुईं कि अंत पर्यंत दोनो वहीं वर्तमान रहे तथा पुष्यमित्र की योग्यता से वे अत्यंत हर्षित हुए। अंत में इन दोनो को पुरस्कार देकर तथा सबकी यथायोग्य प्रशंसा करके राजमंडल प्रासाद को वापस गया। परिषत् के आचार्य पुष्यमित्र से बहुत प्रसन्न हुए, और इस प्रकार बातचीत होने लगी—

आचार्य—"बेटा पुष्य ! तुम्हारी लियाक़त ने आज मेरे दारुलउलूम का सर ऊँचा कर दिया है। मुझे भी पढ़ाते-पढ़ाते ज़माना बिसियार गुज़र गया है, मगर अब तक किसी तालिबेइल्म में मैंने अपने सारे तजुर्बे में न तो इस क़दर जुस्तजू-ए-इल्म पाई, न ऐसी हाथ की सफ़ाई। तुम्हें पढ़ाकर मैं ख़ुद अज़्मत को पहुँच गया। ताक़त अजब ही है। तुमने पहले से ही बहुत कुछ सीख रक्खा था, इससे जितनी

लियाक़त तुम्हें सिर्फ़ नौ माह में हासिल हो गई है, उतनी किसी शागिर्द को सालों में नहीं होती।"

पुष्यमित्र—"आचार्य-श्रेष्ठ! यह आपकी कृपा है, जो ऐसी आज्ञा देते हैं, नहीं तो मुझमें अभी कौन-सी योग्यता है? एक बात मैं और पूछना चाहता हूँ कि अभी कितने दिन और मुझे यहाँ ठहरना चाहिए, जिससे समर-शास्त्र अथच शस्त्रास्त्र-प्रयोग के ज्ञान में कोई कच्चापन शेष न रहे?'

आचार्य—"इसकी तो कमी तुममें आज नहीं है, सिर्फ़ तीन-चार माह और ठहर जाओ, तो तुम्हें फ़न्ने-जंग में ऐसा माहिर कर दूँ कि वैसी लियाक़त किसी सिपहसालार में भी न होगी।"

पुष्यमित्र—"आप ही की कृपा से तो मैंने थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त किया है। जब तक आज्ञा होगी, तब तक और ठहरूँगा। मुझे कोई शीघ्रता थोड़े ही है।"

आचार्य—"यही तो बात है; हुसूले-इल्म में उजलत से काम थोड़े ही चलता है। एक बात और भी ख़ुशी की तुम्हें बतलाता हूँ—शहंशाह सलामत तुम्हारे काम से ऐसे ख़ुश हुए हैं कि वलीअहेद साहबा को निशानेबाज़ी सिखलाने को भी तुम्हीं चुने गए हो। मैं तुम्हें इस कारे मुतबर्रिक़ की मुबारकबादी देता हूँ!"

पुष्यमित्र—(घबराकर) "इसके लिये मैं अनेकानेक धन्यवाद देता हूँ, किंतु एक बिनती भी है।"

आचार्य—"कहो, क्या कहते हो?"

पुष्यमित्र—"यदि किसी प्रकार से आप मुझे इस कार्य से बचा सकते, तो बड़ी ही कृपा होती।'

आचार्य—"बड़ा ही तअज्जुब है कि तुम इतनी अज़ीम इज़्ज़त अफ़ज़ाई से न सिर्फ़ शाद नहीं हुए, बल्कि इससे बचना भी चाहते हो। यह पागलपन अच्छा नहीं।"

पुष्यमित्र—"आपको महात्मा बुद्ध की अदर्शन, असालाप आदि की आज्ञा स्मरण होगी ही। विदेश में मुझे स्त्री-समाज में न पड़ना चाहिए।"

आचार्य—"हुसूले-इल्म के अलावा हमारे दारुलउलूम में तुम्हारा चाल-चलन भी नमूना हो रहा है। फिर भी समझना चाहिए कि वह अहकाम शादीशुदा औरतों के निस्बत हैं। इधर हमारी वलीअहेद साहबा हनोज़ ग़ैरमंसूब हैं। उनसे बात करने में क्या ऐब है? औवल तो बात ग़ैरमुमकिन है, दोयमश अगर तुम्हें पसंद फ़र्मा लें, तो भी तुम्हारी क़िस्मत खुल जाय। समझे न, बल्ख़ की शाही क्या कोई मामूली शै है? बेटा! ऐसी बेवकूफ़ी के ख़यालात से दूर ही रहो।"

पुष्यमित्र—"आचार्य महोदय! मैं विवाहित हूँ। आप क्या आज्ञा कर रहे हैं?"

आचार्य—"बेटा! शाहों और महाराजाओं की मुताद्दिद शादियाँ हुआ ही करती हैं।"

पुष्यमित्र—"अपराध क्षमा हो, मैं अपनी स्त्री को इतना चाहता हूँ कि दूसरा विवाह कर ही नहीं सकता। फिर मैं कोई महाराजा भी नहीं हूँ।"

आचार्य—"बहरहाल, शाही हुक्म टालने की ताक़त मुझमें तो है नहीं। अगर तुम्हारे ख़यालात ऐसे मज़बूत व पाकीज़ा हैं, तो भी तुम्हें कोई बिगाड़ न सकेगा; यह भी मुझे यक़ीन है। उधर हमारी शाहज़ादी साहबा का चाल-चलन भी एक नमूना है; कभी किसी जानिब आँख उठाकर देखतीं तक नहीं। सारी सल्तनत में उनकी नेक-चलनी मशहूर है। तुम बेख़ौफ़ रहो।"

पुष्यमित्र—"बड़ी कृपा! अब मैं इस विषय में स्वयं प्रयत्न कर लूँगा।"

अनंतर दूसरे ही दिन शाही नाज़िर दारुलउलूम में आकर पुष्यमित्र

से मिला, और राजकीय आज्ञा सुनाकर पारितोषिक पाने का प्रार्थी हुआ ।

पुष्यमित्र—"पारितोषिक तो आपको मैं पूरा दे सकता हूँ, किंतु इस काम से बचा देने की दशा में ।"

नाज़िर—"अब मुझसे न उड़िए, मित्तर साहब ! अच्छा, तशरीफ़ ले चलिए । मैं समझ गया कि फ़न्ने-जंग के अलावा चालाकी भी आपने अच्छी हासिल करली है । अभी यह हाल महलों में ज़ाहिर कर दूँ, तो मालूम हो जाय कुछ वाक़ियत ।"

पुष्यमित्र—"ऐसा, नाज़िर साहब ! आप एक बार अवश्य कर दीजिए । बड़ी कृपा होगी ।"

नाज़िर—"क्या सच-ही-सच कहते हो ?"

पुष्यमित्र—"हाँ, सचमुच ।"

"अच्छा, फिर मैं जाता हूँ ।" कहकर नाज़िर साहब चले तो गए, किंतु दो ही घड़ियों में रथ वापस लाकर बोले—

नाज़िर—"जनाब मित्तर साहब ! आज का दिन मेरे लिये तअज्जुबों से भरा हुआ है । आपका इनकार करना, फिर ऐसा सुनकर महलात में नाख़ुशी न होनी, और सिर्फ़ इल्तिजा के साथ आपको ले चलने का हुक्म मिलना, ये सारी बातें ख़्वाब में भी मैं ग़ैरमुम्किन समझता, लेकिन सामने देख रहा हूँ ।"

पुष्यमित्र—"अच्छा, नाज़िर साहब ! मैं कृतज्ञता प्रकाश करके अब आपके साथ चल रहा हूँ ।"

अनंतर पुष्यमित्र महोदय राजप्रासाद में पहुँचे, और श्रीमती इथ्यूज़ादेवी के द्वारा युवराज्ञी के दरबार में ले जाए गए । आपने युवराज्ञी को नत-मस्तक होकर अभिवादन किया, और तीनों व्यक्ति उचित आसनों पर विराजे । अनंतर आलाप-संलाप प्रारंभ हुआ—

इथ्यूज़ा—"ताबिबेइल्म साहब ! बड़ी मेहरबानी हुई, जो आपने

हमारी वलीअहेद साहबा की ख़िदमत में तशरीफ़ लाना बिल आख़िर मंज़ूर तो फ़र्माया। फिर भी मुझे कुछ तअज्जुब ज़रूर हुआ। तकलीफ़-दिही मुआफ़ कीजिएगा।"

पुष्यमित्र—"मुझे इस बात का बड़ा गर्व है कि युवराज्ञी महोदया ने मेरे ऊपर इतनी भारी कृपा की है। दो-तीन बार मैंने यों भी आप दोनो को परिषत् में देखा है। यहाँ न आने की इच्छा प्रकट करने की मैं क्षमा माँगता हूँ।"

हेलेन—"तालिबेइल्म साहब! आपके ख़यालात निहायत पाकीज़ा हैं। हम लोगों को वहाँ देखकर भी आपका मुत्तवज्जेह न होना कुछ बेजा न था।"

पुष्यमित्र—"बड़ी कृपा, राजपुत्रीजी! हमारे देश में बिना संबोधित हुए गण्य-मान्य राजकुलों की महिलाओं से बोलना या उनकी ओर विशेष दृष्टिपात भी करना राजकीय महत्ता के प्रतिकूल समझा जाता है।"

हेलेन—"यही क़ायदा हमारे मुल्क में भी है, लेकिन आप इज़्ज़त के साथ बुलाए जाने पर भी नहीं आना चाहते थे, इसमें कुछ तअज्जुब है।"

पुष्यमित्र—"युवराज्ञी महोदया! बिनती यह है कि मैं यहाँ विद्या-पठनार्थ उपस्थित हुआ हूँ, न कि उच्च समाज में भाग लेने को। समय मेरे पास थोड़ा ही है, और उससे भी बढ़कर बात यह है कि मैं एक साधारण मंडलेश्वरी-मात्र का दौहित्र तथा उत्तराधिकारी हूँ; ऐसे उच्च समाज के योग्य मैं अपने को नहीं समझता।"

हेलेन—(हँसकर) "तालिबेइल्म! लोग तो अपना दर्जा बढ़ाकर कहते हैं, एक आप ही को मैंने ऐसा पाया, जो अपनी लियाक़त का गिरा हुआ बयान करने में ही महज़ूज़-से होते हैं।"

पुष्यमित्र—"कथन तो मेरा सत्य-ही-सत्य था, किंतु क्षमा का भी प्रार्थी हूँ।"

हेलेन—"मुआफ़ी माँगने की क्या ज़रूरत है ? आप इस सल्तनत के न तो रिआया हैं, न जागीरदार। फिर हमारे अहकाम का मानना आप पर लाज़िम तो है नहीं। इसीलिये मैंने मार्फ़त नाज़िर के अर्ज़ दाश्त करके आपको बुलवाया था।"

पुष्यमित्र—"अब मुझे काँटों में घसीटा जाता है। जब मैं यहाँ की एक महती संस्था से विद्या-लाभ कर रहा हूँ, जिसके लिये कोई शुल्क भी नहीं देना पड़ता, तब इस राज्य की आज्ञा मुझ पर बाध्य क्यों नहीं है ?"

हेलेन—"कितने ज़माने से यहाँ तशरीफ़ रखते हैं ?"

पुष्यमित्र—"नौ महीने हो गए हैं, और अभी तीन-चार मास और रहना है। यह भी एक दूसरा कारण है, जिससे राजाज्ञा मुझ पर बाध्य है।"

हेलेन—"अपनी तहक़ीर करनी आप क्यों बायसे-फ़ख़्र समझते हैं ?"

पुष्यमित्र—"यथार्थ भाषण मैं आवश्यक मानता हूँ।"

इथ्यूज़ा—"आपके वालिद बुज़ुर्गवार का क्या नाम है, और वह क्या करते हैं ?"

पुष्यमित्र—"बानू साहबा ! उनका शुभ नाम बृहस्पति है। वह एक योगी कहे जा सकते हैं। मैं तो अपनी मातामही के यहाँ गया में रहता हूँ।"

इथ्यूज़ा—"उनका इस्म शरीफ़ क्या है ?"

पुष्यमित्र—"यह तो मैं जानता नहीं; मैं उन्हें नानीजी कहा करता हूँ। मेरे स्वर्गवासी नानाजी का नाम मकरंद मौर्य था।"

हेलेन—"जनाब तालिबेइल्म साहब ! क्या मैं पूछ सकती हूँ कि उनकी सालाना आमदनी क्या है ?"

पुष्यमित्र—"भली भाँति तो मैं जानता नहीं, किंतु अनुमान से कह सकता हूँ कि चार-छः सहस्र पण होगी।"

हेलेन—"इतनी आमदनी से वह आपको बाहर पढ़ने कैसे भेज सकी ? देखने में तो आपके पास नौकर-चाकर काफ़ी हैं !"

पुष्यमित्र—"राजपुत्री ! मैं साम्राज्य से छात्रवृत्ति पा रहा हूँ । नालंद-विद्यापीठ की सम्राट् महोदय ने स्वयं परीक्षा ली थी ।"

हेलेन—"अगर ऐसे ही इम्तहान से यह रियासत भी आपको वज़ीफ़ा देना चाहे, ख़ासकर इसलिये कि आपसे कुछ काम भी लेना है, तो कैसा ?"

पुष्यमित्र—"युवराज्ञी महोदया ! मेरे पास आपकी कृपा से नियमित व्यय के कारण कोई धनाभाव नहीं है । राजसेवा करना मेरा धर्म यहाँ भी है, किंतु नैमित्तिक कार्य के लिये हाथ नहीं बढ़ा सकता, विशेषतया इसलिये कि मैं अब कुछ ही मास और यहाँ रहनेवाला हूँ । अपने ही राज्य से क्या कम मिलता है ? क्षमा का प्रार्थी हूँ ।"

इब्यूज़ा—"ऐसी ही बातों से तो आपकी ग़रीबी और भी साबित हो रही है ।"

पुष्यमित्र—"यदि संसार में बहुतों को धनाधिक्य का गर्व होता है, तो मुझे अपने धनाभाव का भी गर्व हो सकता है ।"

हेलेन—"क्यों नहीं, ऐसा तो मुनासिब ही है । (एक मिष्क निकाल-कर) देखिए, यह हार कैसा है ?"

पुष्यमित्र—(उन्हीं के हाथ में कुछ ध्यान-पूर्वक देखकर) "यह तारहार बहुत बढ़िया समझ पड़ता है । इसका एक-एक नग चमाचम चमक रहा है । नौलखा से कम न होगा । क्या ही सुंदर बहुमूल्य वस्तु है ।"

हेलेन—"तो नज़र है, क़बूल फ़र्माकर क्या मुझे महज़ूज़ कर सकते हैं ?"

पुष्यमित्र—"इसके लिये देवि ! क्षमा का प्रार्थी हूँ । ऐसी वस्तुएँ सुंदरियों के ही गले में शोभा पाती हैं, मुझ-सरीखे निर्धन जानपदों के

नहीं। इनकी भी देवी-सरीखी राजपुत्रियों से ही दीप्ति है। किसी कौए के गले में तोहारी शोभा नहीं पाती।"

हेलेन—"अपनी ग़रीबी के सुबूत आप एक-से-एक बढ़िया दे रहे हैं।"

पुष्यमित्र—इसे लेने से मेरी प्रिय निर्धनता भी तो लुप्त हो जायगी।"

हेलेन—"ऐसे हार तो आपने देखे न होंगे। फिर इसे नौलखा कैसे जान लिया?"

पुष्यमित्र—"तो न होगा; मैंने यों ही एक बात कह दी।"

हेलेन—"नहीं, है यह नौलखा ही, मगर इसे परखने की ताक़त आप-जैसे मिस्कीन को कैसे हासिल हुई?"

पुष्यमित्र—"महापुरुषों में भी जाने-आने के अवसर मिला न किए हैं।"

हेलेन—"फिर हार लेते क्यों नहीं?"

पुष्यमित्र—"कन्याएँ मुझसे कुछ लें कि उलटे मैं उनसे लेने लगूँ?"

हेलेन—"अच्छा, मैं ही कुछ माँगूँ, तो दोगे?"

पुष्यमित्र—"मुझ निर्धन के पास रक्खा ही क्या है, जो दूँ?"

हेलेन—"मैं ऐसी ही वस्तु माँगूँगी, जो आपके पास होगी।"

पुष्यमित्र—"तब अदेय न होने से नाहीं न करूँगा।"

हेलेन—"लगे न हीलासाज़ी करने?"

पुष्यमित्र—"सोचा जाय, तो बात सत्य ही है, देवि!"

हेलेन—"अच्छा, मैं पूछूँगी कि आपको खेल-कूद में क्या पसंद है? पढ़ना-लिखना तो सभी का रहता है, लेकिन दिल ख़ुश करने की भी ज़रूरियात होती है?"

पुष्यमित्र—"राजपुत्री महोदया! विद्याध्ययन के अतिरिक्त मैं मृगया और चौगान खेलना बहुत चाहता हूँ। पैदलवाला भी चौगान खेलता हूँ। कुछ चतुरंग का अभ्यास है तथा चौपड़ का भी।"

हेलेन—"इतने दिनों से तो शिकार हुआ न होगा। क्या शाही शिकार में जाना पसंद करेंगे ?"

पुष्यमित्र—"इससे तो मैं अहोभाग्य समझूँगा, किंतु देवी को कोई कष्ट नहीं देना चाहता।"

हेलेन—"इसमें मुझे दिक़्क़त ही क्या होगी ? तालिबेइल्म साहब !"

पुष्यमित्र—"मैं युवराज्ञी की भाषा समझ लेता हूँ, किंतु बोल नहीं पाता। आपको कष्ट तो नहीं होता ?"

हेलेन—"यही हालत मेरी भी है। तालिबेइल्म को आप शायद विद्यार्थी कहते हैं। आपकी ज़बान बहुत ही मीठी है। क्या आप मुझे कमोबेश वह भी सिखला सकेंगे ?"

पुष्यमित्र—"यदि काम करने लगा, तो इसमें क्या कठिनता है ?"

हेलेन—"अच्छा विद्यार्थी ! आपका शहर पाटलिपुत्र कैसा है ?"

पुष्यमित्र—"देवीजी ! वह परम श्रेष्ठ राजधानी गंगाजी के किनारे-किनारे बसी हुई है। नौ अर्द्ध कोस लंबी और डेढ़ कोस चौड़ी है। काष्ठ-निर्मित प्राचीर है। उसमें ६४ फाटक तथा ५७२ चतुष्क (बुर्ज) हैं। सोन-नदी से भी जल आकर गंभीर परिखा से वेष्ठित है। गंगाजी के कारण वह एक पोत्र (बंदरगाह) भी समझा जा सकता है।"

इथ्यूज़ा—"सड़कें वग़ैरह भी अच्छी होंगी ?"

पुष्यमित्र—"जी हाँ महाशया ! रथ-पथ, महापथ, पशु-पथ, पौरपथ, चक्र-पथ आदि सभी कुछ हैं। भवन प्रायः काष्ठ-निर्मित हैं।"

इथ्यूज़ा—"तो आग भी लगा करती होगी ?"

पुष्यमित्र—"अवश्य, इसके निवारणार्थ प्रायः सभी मुख्य गृहों में दशमूली संग्रह रहता है, और पंचघट्यः तो प्रत्येक सदन में जल-पूर्ण रहती हैं, तथा चौगैलों पर ऐसे सहस्रों घट संचित किए जाते हैं।"

हेलेन—"अच्छा विद्यार्थी ! हमसे चतुरंग खेलोगे ? मैं अच्छी तरह खेलना जानती तो नहीं, मगर देखूँ, आप कैसा खेलते हैं ?"

पुष्यमित्र—"आज अभी तक, देवि ! मेरा पाठ नहीं हुआ है । कभी और खेल लीजिएगा ।"

हेलेन—"तो जाने दो । भला, आपको अपनी मा की याद है ?"

पुष्यमित्र—"क्यों नहीं देवि ! उनको स्वर्गवासिनी हुए अभी प्रायः १२ वर्ष ही तो हुए होंगे ।"

हेलेन—"आपके यहाँ नानी के अलावा कोई और तो होगा नहीं ?"

पुष्यमित्र—"है क्यों नहीं, देवि ! मेरी धर्मपत्नी है ही ।"

हेलेन—"आपका विवाह हुए कितने दिन हुए ?"

पुष्यमित्र—"प्रायः तीन साल हुए होंगे । आपकी कृपा से एक बच्चा अग्निमित्र छोड़कर आया हूँ, और मेरे विदेश-निवास के समय एक कन्या भी हुई है । उसकी प्रत्याशा में घर से चला था ।"

हेलेन—"इस खुशखबरी की आपको मुबारकबादी देती हूँ ! अब मामले पर आकर पूछना चाहती हूँ कि क्या आप मेहरबानी करके मुझे निशानेबाज़ी और कुछ तलवार व कटार के काम सिखला सकेंगे ?"

पुष्यमित्र—"देवीजी महोदया ! मैं अपने को धन्य समझता हूँ कि आपने विदेशीय स्थिति में भी मेरा इतना मान किया, तथा एक बाहरी व्यक्ति पर ऐसा भारी विश्वास कर रही हैं; फिर भी एक बिनती करनी पड़ती है ।"

हेलेन—"वह क्या है, विद्यार्थी !"

पुष्यमित्र—"मेरे पास यहाँ के निवासार्थ अब समय थोड़ा है, तथा स्वयं मुझे आचार्य से अभी बहुत कुछ सीखना है ।"

हेलेन—"मैं उनसे पूछ-ताछ कर चुकी हूँ, उनका खुद यही कहना है कि जो कुछ आपको सीखना है, वह मेहनत करने से दो ही महीनों में जाना जा सकता है ।"

पुष्यमित्र—"यह ठीक होगा ही, किंतु अभी मुझे अपने सामरिक ज्ञान से पूर्ण संतोष नहीं है।"

हेलेन—"ऐसा ख़याल हर लायक़ तालिबेइल्म को रखना चाहिए; फिर भी हीलेसाज़ी से क्या फ़ायदा?"

पुष्यमित्र—"मैं देवीजी को निश्चय दिलाता हूँ कि इस कथन में कोई बहाना नहीं है।"

ऐसी बातें हो ही रही थीं कि मध्याह्नकालीन भोजन की घंटी बज गई। अब ये तीनो उठकर भोजनालय के भारी कक्ष में पधारे। वहाँ क्रमशः अट्ठारह लोग एकत्र हो गए, जिनमें ८ युवतियाँ थीं, और दस पुरुष। इनमें कुलिक, नगर-श्रेष्ठी, निगम-संचालक, सार्थवाह, दंडपाशाधिकरण, सांधि-विग्रहिक, महादंडनायक, अक्षपटलाधिकृत, महामंत्री आदि सम्मिलित थे, जिनमें से कुछ लोग सपत्नीक पधारे थे। महाराज के सामरिक मंत्री तथा उनके दो सहायकों ने सबको नम्रता-पूर्वक मेज़ के निकट उनके आसनों के स्थान बतला दिए। मेज़ पर सबके नाम पृथक्-पृथक् पत्रों पर अंकित थे। अनंतर दूसरी घंटी के बजते ही अट्ठारहों व्यक्ति दो पंक्तियों में खड़े हुए, और उनके बीच में होकर महाराज तथा महारानी के पधारने का मार्ग रक्खा गया। अब महाराज और महारानी भी पधारीं। जिसके-जिसके पास होकर ये दोनो निकलते जाते थे, वे पुरुष अभ्यर्थना-सूचनार्थ कुछ झुक जाते थे। ऐसी दशा में उनके दोनो हाथ बग़लों से लंबे लटका करते थे। स्त्रियाँ यही अभ्यर्थना अपना एक पैर पीछे की ओर मोड़कर करती थीं। महाराजा तथा महारानी सबसे कर-मर्दन करती जाती थीं। इस प्रकार सबसे हाथ मिलाए गए, और श्रीमहाराज महामंत्री की धर्मपत्नी की बाहु से बाहु मिलाकर मेज़ के मध्य में दो आसनों पर ये दोनो विराजे। इसी प्रकार महारानी को लेकर पुष्यमित्र महोदय उनके सम्मुखवाले दो आसनों पर ये दोनो बैठे। इनकी दूसरी बक्ष पर युवराज्ञी महोदया थीं, तथा इतर सज्जन भी यथास्थान बैठे। सूद लोग श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ

भोज्य पदार्थ परोसने लगे। सब लोग बहुत धीमे-धीमे स्वरों में अपने निकटवाले दोनो साथियों से बात भी यदा-कदा करते जाते तथा महाराजा की बातों पर सभी ध्यान देते थे। उनका तथा महारानी का विशेष आलाप-संलाप नवीन आतिथ्य के कारण पुष्यमित्र ही से हुआ। संसार-भर की प्रधान राजनीतिक घटनाओं, मृगया, चौगान, हँसी-दिल्लगी, धनुष-बाण, खड्ग, भालों आदि पर भाँति-भाँति की बातें होती रहीं। प्रायः तीन घड़ी तक जेवनार रही, जिसमें पंद्रह प्रकार के भोज्य पदार्थ सामिष तथा निरामिष पट्रस-युक्त एक दूसरे के पीछे लाए गए। प्रत्येक मुख्य वस्तु के साथ उसी के योग्य अमुख्य वस्तुएँ भी रहती थीं। हरएक वस्तु उसी समय बनकर गरमागरम आती थी, और वैद्यकीय नियमों के अनुसार भोजनों का पूर्वापर क्रम ऐसा था कि पाचन-शक्ति को कुछ भी कठिनता न पड़े। इतना बड़ा भोजन होकर भी पच वह सबको गया। किसी को दुष्पच का लेश-मात्र कष्ट न हुआ। अनंतर सारे स्त्री-अतिथि उठ गए, और तब पुरुषों में किसी-किसी ने धूम्र-पान का व्यवहार किया। फिर कई बृहदकार कक्षों में सब अतिथि कुछ दूर-दूर योग्य आसनों पर बैठे, और सामरिक मंत्री आदि प्रत्येक पुरुष-अतिथि को क्रमशः प्रत्येक स्त्री-अतिथि के पास बिठला आते थे। कुछ देर बात करने पर वे अन्य स्त्री-अतिथि के पास ले जाए जाते थे। सब अतिथियों में से प्रत्येक को या तो महाराजा या महारानी से भी संलाप करने का अवसर मिला। पुष्यमित्र महाराज के पास ले जाए गए, और उन्होंने इनके द्वारा युवराज्ञी के शिक्षण पर प्रसन्नता प्रकट की। यह आलाप-संलाप का क्रम प्रायः दो घड़ी तक चला, और तब महाराजा दंपति के पधार जाने पर सारे अतिथि अपने-अपने स्थानों को चले गए। इधर पुष्यमित्रजी युवराज्ञी तथा इथ्यूज़ा के साथ उन्हीं के कक्ष में जाकर फिर बातचीत में प्रवृत्त हुए—

हेलेन—"हाँ विद्यार्थी साहब ! मैं आपसे क्या पूछ रही थी ?

आपकी ज़ौजा साहबा की ख़ुशक़िस्मती की मैं बहुत कुछ तारीफ़ करूँगी। वह हैं किस ख़ानदान से ?"

पुष्यमित्र—"मेरे कुटुंब की ओर इतना कृपा-पूर्ण ध्यान देने पर मैं युवराज्ञी महोदया के प्रति शतशः कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। देवि ! वह कात्यायन-गोत्री एक ब्राह्मण महाराजा की कन्या हैं, जो स्वभावशः मुझ पर बड़ी दया करते हैं।"

हेलेन—"क्या उन्होंने आपकी पढ़ाई के लिये ख़र्चा देना पसंद न किया ?"

पुष्यमित्र—"वह तो बहुत कुछ कहते रहे, किंतु मैंने ही स्त्री का धान्य लेना ठीक न समझा।"

हेलेन—"विद्यार्थी ! आप ग़रीब होकर हैं फिर भी शेर-दिल। भला, शिकार किन जानवरों का खेलते हैं ?"

पुष्यमित्र—"शेर, चीते, गैंडे, भालू, बनैले शूकर आदि का।"

हेलेन—"इनसे भय नहीं लगता क्या ?"

पुष्यमित्र—"अस्त्र-विद्या तथा लक्ष्य-भेदन का समुचित अभ्यास कर न चुका हूँ ? यदि फिर भी भय करूँ, तो खड्ग धारण क्यों हो ?"

हेलेन—"अपनी पढ़ाई के बाबत मैंने आपसे गुफ़्तगू छेड़ी थी, और अब्बाजान ने भी शायद फ़रमाया हो। आप क्यों पीछे हटते हैं ?"

पुष्यमित्र—"इतना दर्प भला मैं कर सकता हूँ कि राजसेवा से मुख मोड़ूँ; सोचता केवल यही था कि तीन-चार महीनों में मैं पढ़ा ही क्या दूँगा ? मुझसे बढ़कर यहाँ कई योग्य व्यक्ति हैं, स्वयं आचार्य महोदय प्रस्तुत हैं। उनकी दक्षता भी अनुपमेय है।"

हेलेन—"बुड्ढों से सीखने में मेरा दिल नहीं लगता। आपसे बरतर कोई और यहाँ दिखाई भी नहीं देता। कमी वक़्त की आड़ साफ़ हीलासाज़ी है।"

पुष्यमित्र—"मैं देवीजी को कैसे विश्वास दिलाऊँ कि बात वक्र नहीं है ?"

हेलेन—"यक़ीन कैसे हो, जब दलील ही लचर है ।"

पुष्यमित्र—"वास्तव में देवि, एक बात और भी है ।"

हेलेन—(हँसकर) "फिर वही क्यों नहीं कहा ? इधर-उधर की क्या हाँकते हो ? हो तुम भी शायद पूरे चालबाज़ ।"

पुष्यमित्र—"अब तो मेरा पक्ष पराजित हो ही रहा है, किंतु वह बात मैं मुख पर ला नहीं सकता । क्षमा का प्रार्थी हूँ ।"

हेलेन—"यह भी चालबाज़ी है । कहते क्यों नहीं ? मर्द हो कि औरत ? कहो, तो एक बुर्क़ा मँगवा दूँ ।"

पुष्यमित्र—"इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद ! किंतु वह बात एकांत की है, और मुझे इतना क्या, इसका एक अंश भी अधिकार नहीं कि इतने उच्च पद की राजमहिला के समक्ष ऐसे भद्दे कथन करूँ ।"

हेलेन—"अब तो विद्यार्थी साहब ! आप बहुत ही दूर की ले रहे हैं । यहाँ तनहाई है ही । प्यारी इथ्यूज़ा के सामने मैं कोई भी बात कर सकती हूँ ।"

पुष्यमित्र—"जब कोई बात हो भी; कहूँ, तो क्या कहूँ ?"

इथ्यूज़ा—"यह मेरे सामने न कहेंगे, बेचारे शर्माते हैं । क्या हुआ, मैं आधी घड़ी के लिये दूसरे कमरे में जाती हूँ ।" (जाती है ।)

हेलेन—"अच्छा, अब फ़र्माइए, क्या अनोखी-सी बात है ? होगी बेवक़ूफ़ी ही ।"

पुष्यमित्र—"है पूरी मूर्खता । युवराज्ञी महोदया को मुझसे ऐसे प्रश्न न करने चाहिए । मैं एक विदेशी निर्धन व्यक्ति-मात्र हूँ । इतनी बड़ी राजमहिला से ऐसी बातें कहने का मुझे अणु-मात्र अधिकार नहीं ।"

हेलेन—"अजी कहो भी, दीबाचों की इतनी ज़रूरत नहीं ।"

पुष्यमित्र—"क्षमा का वचन पहले ही से मिल जाय ।"

हेलेन—"ठीक है, अब कहो।"

पुष्यमित्र—"आप मेरे ऊपर बड़ा अत्याचार कर रही हैं। यह जगन्मोहक, जाज्वल्यमान सौंदर्य देखकर धैर्य धारण क्या सुगम है? हूँ तो अंततोगत्वा मैं भी एक नवयुवक! क्या शिष्या और कन्या में कोई अंतर होना चाहिए? यदि कहीं कुदृष्टि पड़ गई, तो यहाँ की कौन कहे, नरक में भी स्थान न मिलेगा। ऐसी दशा में मैं कैसे नित्य के दर्शनों का भार स्वीकार कर लूँ? क्या आप इतना भी नहीं समझतीं कि नववय तथा अतुल सौंदर्य का संसर्ग भय-प्रद है? धृष्टता क्षमा कीजिएगा, देवि! तरुणावस्था ऊँच-नीच का विचार नहीं कर पाती। उधर मैं अयोग्य होने के अतिरिक्त विवाहित भी हूँ। अब तो मानना आपको भी पड़ेगा? कहिए, अब कुछ उत्तर क्यों नहीं देतीं?"

हेलेन—"विद्यार्थी! आपके यह कहने से इतना तो साफ़ है कि मैंने चालबाज़ी का ख़याल जो आपके ख़िलाफ़ किया था, वह बेबुनियाद था, मगर अब सीधेपन का मामला जमता है। मैं कब आपको अपना उस्ताद बना रही हूँ, जो पिदर व दुख़्तर का-सा रिश्ता क़ायम हो? मैं तो सिर्फ़ ज़बान और अस्लहा के काम सीखना चाहती हूँ। आपने जो मेरी ख़ूबसूरती की अज़हद तारीफ़ की, वह भी ख़ाली अज़तअल्ली नहीं है। बहर कैफ़ क्या तुमको अपनी नेकचलनी व मेरी मज़बूती-ए-मिज़ाज पर एतबार नहीं, जो इस क़िस्म की बात दिल में आती है?"

पुष्यमित्र—"अब मैं पराजित हो गया। जब इतनी बात पर भी बुद्धिहीनता ही मानी जाती है, तब बिनती क्या की जाय? अच्छा, मुझे राजाज्ञा प्रसन्नता-पूर्वक स्वीकार है।"

अब हेलेन घंटी बजाती है, जिससे इथ्यूज़ा फिर आ जाती है।

हेलेन—'समझीं बहन! हमारे विद्यार्थी साहब को शायद शुबहा था कि हम लोगों की नौउम्र के सबब से रियाया में कोई गुफ़्तगू न होने लगे।"

इथ्यूज़ा—"ऐसी ख़ामख़याली आपको न करनी चाहिए।"

पुष्यमित्र—"अब तो मैं पराजय मानकर सेवार्थ सन्नद्ध ही हो गया हूँ। आशा है, आज के समान समय न लगा करेगा, तथा प्रतिसप्ताह मेरी तीन बार की तीन-तीन घड़ीवाली सेवा ठीक समझी जायगी।"

हेलेन—"और शिकार के बाबत क्या कहते हो ?"

पुष्यमित्र—"इसके लिये जब सुअवसर होगा, प्रस्तुत रहूँगा।"

हेलेन—(हँसकर) "बहुत ठीक है। शुक्रिया।"

पुष्यमित्र—"तो क्या अब परिषत् को पलटने की आज्ञा है ?"

हेलेन—"अभी एक बात और पूछनी है ?"

पुष्यमित्र—"जो आज्ञा।"

हेलेन—"भला, आप नाचना भी जानते हैं या नहीं ?"

पुष्यमित्र—नृत्य-कला तो हमारे यहाँ भारत में आवश्यक समझी जाती है, विशेषतया उच्च समाज में।"

हेलेन—(हँसकर) "आप तो नीचे दर्जे में अपना होना फ़र्माते हैं।"

पुष्यमित्र—"यह तो यथार्थ है, किंतु नृत्य-कला का न्यूनाधिक अभ्यास किया है।"

हेलेन—"कैसा नाचना जानते हैं ?"

पुष्यमित्र—"एकाकी और मिलित, दोनो प्रकारों का।"

हेलेन—"बहुत ही अच्छी बात है; क्या मेरे साथ नाचिएगा ?"

पुष्यमित्र—"देवि ! हमारे यहाँ भारत में राजकन्याएँ केवल एकाकी नृत्य पसंद करती हैं।"

हेलेन—"यहाँ तो मिलकर भी नाचती हैं।"

पुष्यमित्र—"किंतु केवल उच्च कक्षावालों के साथ।"

हेलेन—"इसका फ़ैसला मुझ पर छोड़िए; आप अपनी तरफ़ से फ़र्माइए।"

पुष्यमित्र—"मैं तो विद्यार्थी-जीवन के लिये ऐसे उच्च समाज में भाग लिया जाना उचित समझता नहीं, किंतु भवदीय आज्ञोल्लंघन भी नहीं करूँगा।"

हेलेन—"बड़ी मेहरबानी हुई।"

पुष्यमित्र—"किसी सायंकालीन प्रीति-भोज में शायद ऐसा अवसर आवे।"

हेलेन—"यही बात है। शाही डिनरों में ऐसे मौक़े आया करेंगे।"

इस प्रकार संलाप करके जब पुष्यमित्र महोदय परिषत् को पलट गए तब ये दोनो सखियाँ बहुत ही प्रसन्न हुईं। इथ्यूज़ा ने गुप्त कथनों को सुनकर कहा।

इथ्यूज़ा—"मैंने पहले ही अर्ज़ न की थी कि सर के बल दौड़ेगा? अब पदिन फँसा हुआ समझिए।"

हेलेन—"मुझे तो यक़ीन नहीं है। कमबख़्त बड़ी नख़रेबाज़ी करता है।"

इथ्यूज़ा—"कहना मानिए बहन! अब किसी तरकीब से महारानी साहबा की मंज़ूरी हासिल करनी होगी।"

हेलेन—"मगर बहन! अभी मुझे शक बहुत कुछ बाक़ी है। उसके बयामात में असली सिदाक़त झलकती थी, कोई मक्र, फ़रेब या हीले-साज़ी की बात न थी। बड़े ही आला तबक़े का आदमी है।"

इथ्यूज़ा—"इसमें शक की गुंजाइश नहीं है।"

हेलेन—"बातचीत तो निहायत सलीक़े से क्या, बल्कि ख़ुशामद के दर्जे तक करता है, मगर परवा शिम्मे-भर नहीं है।"

इथ्यूज़ा—"कमबख़्त बनता तो जाता है ग़रीब, मगर नौलखे के दाम परखने में देर न लगी, हालाँकि उसमें हाथ भी नहीं लगाया था।"

हेलेन—"फिर इतना क़ीमती हार पहले ही दिन देती रही, मगर फ़ौरन् मुस्तहकम तरीक़े से इनकार कर दिया। ख़ुद मुझी पर कोई मराआत करने को तैयार है। बड़ा आदमी है।"

इथ्यूज़ा—"यही बात है। दूसरा कोई होता, तो नौलखा देखकर राल टपक पड़ती। उधर फ़हीम ऐसा है कि शाही इनआम का याबू लेने में ज़रा भी चूनोचरा न की।"

हेलेन—"वह तो बहैसियत तालिबेइल्म के पाया न था? मैं कहती हूँ कि समझ नहीं पड़ता, इसे किस तरह क़ाबू कर सकूँगी? इस मामले में मालोज़र काम नहीं आ रहे हैं।"

इथ्यूज़ा—"मेरा ख़याल है, सादिक़ मुहब्बत व उसकी अद्म तवज्जो ही बर्दाश्त के औसाफ़ अगर ज़ाहिर होते रहेंगे, तो फ़तह यक़ीनी है। कम-से-कम मामला उसी रास्ते पर चल रहा है।"

हेलेन—"इतना तो मुझे भी समझ पड़ता है। असर अपना भी उस पर काफ़ी पड़ रहा है।"

इथ्यूज़ा—"इसमें क्या शक है? मगर बहन, एक बात और भी कहनी है। उसके दोस्त धनभूति पर मेरा भी दिल ऐसे ही आया हुआ है। कई बार उधर जा चुकी हूँ, और वह मुख़ातिब भी समझ पड़ता है; इसकी तरह रूखा नहीं है।"

हेलेन—"तब तो और भी अच्छा है। उसके ज़रीए से शायद मेरी भी मतलबबरारी सहल हो जाय। मगर मित्तर साहब को आप रूखा क्यों समझती हैं?"

इथ्यूज़ा—"और नहीं, तो क्या समझूँ? ग़रीब तो वह दरअसल हैं नहीं, क्योंकि अगर मिस्कीन देहेक़ानी होते, तो इस उम्दगी से मजालिस शाहान में कैसे चल सकते?"

हेलेन—"और फिर अगर इनके वालिद सिर्फ़ फ़ुक़रा में से होवे, तो एक महाराज इनके साथ अपनी लड़की मंसूब क्यों करता? बल्के

बड़े सयाने हैं, मगर इतनी बातें उन्हीं की ज़बान से साबित हो चुकी हैं।"

इय्यूज़ा—"जल्दी में असल बात कह गए। मगर इस क़दर रूखापन क्यों है, यह समझ में नहीं आता ?"

हेलेन—"दरअस्ल बहन! रूखापन भी नहीं है। उनकी आँखों व लहजों से पूरी मुहब्बत टपकती है। किसी ख़ास वजह से गोया मर्ज़ी के ख़िलाफ़ हट रहे हैं।"

इय्यूज़ा—"फिर काम करने की मंज़ूरी में भी हीलासाज़ी ज़रूर करते रहे, मगर बिल आख़िर मान ही तो लिया। समझ पड़ता है, या तो औरत से कोई क़ौल हारे हुए हैं, या जोगी होने से अपने वालिद का बहुत लिहाज़ करते हैं।"

हेलेन—"कुछ ऐसा ही होगा।"

इय्यूज़ा—"यह भी हो सकता है कि वज़ीफ़ा देते वक्त शहंशाह ने कोई ख़ास हुक्म सादिर फ़र्मा रक्खा हो।"

हेलेन—"ज़ार के निस्बत मुझे कोई सवाल नहीं समझ पड़ता, क्योंकि इतना तो जानते ही होंगे कि यहाँ की मदद से दीनारों के मामले चुटकी बजाते हल हो सकते हैं।"

इय्यूज़ा—"मगर बहन! इतना ज़ब्त मैं आपकी आदात में न समझती थी। उन्होंने कुछ भी ज़ेबा या नाज़ेबा कहा, मगर हुज़ूर आलिया के चेहरे पर शिकन न आई।"

हेलेन—"औवल तो इस मामले में अपने स्वभाव से मजबूर हूँ, दोयमश यह भी साफ़ है कि उनकी बेरुख़ी असली न होकर महज़ मसनूई है। मुझसे ज़्यादा मुहब्बत उनकी समझ पड़ती है, मगर किसी ख़ास वजह से मजबूर-से दिखाई देते हैं। ऐसी हालत में बुरा क्या लगे ?"

इय्यूज़ा—"आपकी ज़ूदफ़हमी भी क़ाबिले-तारीफ़ है।"

हेलेन—"ये तो बिलकुल मामूली मसले समझ पड़ते हैं।"

इधर यों विचार-विनिमय हो रहा था, और उधर पुष्यमित्र जब अपने मित्र धनभूति से एकांत में मिले, तब यों बातें होने लगीं—

धनभूति—"जो बातें भाभी साहबा सोचती थीं, वे मित्र ! अब सामने आती हुई दिखाई देती हैं।"

पुष्यमित्र—"आती हुई क्या, वरन् आ ही चुकीं। करूँ, तो क्या करूँ ? मैं तो बहुत बड़े गड़बड़ में पड़ा जाता हूँ। साँप-छछूँदर की-सी गति हो रही है।"

धनभूति—"यदि यिचण अस्वीकार कर ही देते, तो क्या असंभव बात थी ?"

पुष्यमित्र—"असंभव तो कुछ होता नहीं, किंतु उच्चाति उच्च भाव रखने का प्रयत्न करते हुए मनुष्य भी तो हूँ, केवल पाषाण नहीं। ऐसा अपूर्व रूप मैंने तो आज तक देखा नहीं। उस पर इतनी भारी सहन-शीलता, शालीनता और प्रेम इस स्वार्थी संसार में दुर्लभ क्या, अलभ्य है। इतना बड़ा पद होकर भी इतनी नम्रता है कि एक अज्ञात, निर्धन व्यक्ति के भी सभी ढकोसले सहे जा रहे हैं। कुछ असह्य ही नहीं। मैं तो इस स्त्री-रत्न से पराजित हो रहा हूँ।"

धनभूति—"तब फिर भाभीजी से जो प्रतिज्ञा की थी, वह क्या तोड़ते हो ?"

पुष्यमित्र—"उसमें यथासाध्य का शब्द था। प्रयत्न अब भी करूँगा। लालच न करूँगा। यदि हार गया, तो भी बिना उनकी आज्ञा के कुछ होगा नहीं।"

धनभूति—"इतना भी क्या कम है ? इधर मैं भी प्रेम-पाश में बद्ध हुआ जाता हूँ।"

पुष्यमित्र—"तुम्हारे लिये प्रतिज्ञा-भंग का प्रश्न थोड़े ही है।"

सप्तम परिच्छेद

प्रेम-परीक्षा

प्रायः दो मास तक राजकुमारी हेलेन शिक्षा लेती रहीं। उन्होंने भारतीय भाषा सीखने में विशेष प्रयत्न किया, तथा लक्ष्य-निपात एवं खड्ग-विद्या में भी योग्यता संपादित की। इन दोनो की मित्रता भी दिनोंदिन बढ़ती गई, क्योंकि दोनो ओर से आंतरिक प्रेम था; यद्यपि वासना की प्रधानता एक ही ओर से थी, किंतु थी वह भी संयत। एक दिन महारानी महोदया ने शिक्षा-स्थल पर पधारकर कहा—

महारानी—"तालिबेइल्म! आजकल यहाँ एक मर्दुमखोर शेर आ गया है, जो शहर के बेरूनेजात में बड़ा गड़बड़ मचाए हुए है। क्या उसका कोई इंतिज़ाम आपके ज़रीए मुम्किन है? शिकार खेलने में तो आप यकता हैं, फिर इसमें भी शायद कामयाब हो सकें।"

पुष्यमित्र—"पूज्यवरे! कोई कठिन बात नहीं है; क्या पड़ा आदि बाँधकर सफलता नहीं हो रही है?"

महारानी—"वह ऐसा सयाना है कि एक से ज़्यादा शिकारी होने से नज़दीक नहीं आता, और एक को किसी वक्त ग़ाफ़िल पाकर काम बना लेता है।"

पुष्यमित्र—"उसके मिलने का नियत स्थान क्या कोई है?"

महारानी—"शहर के बाहरवाले पुल के इधर-उधर अक्सर जंगल में देखा गया है।"

पुष्यमित्र—"तब तो काम बन जायगा। महादेवीजी उस पुल के

दोनो ओर बीस-बीस डगों-भर पर काँटे बिछवा देने की कृपा करें; मैं स्वयं उसे अपना ही शरीर पड़े के स्थान पर अर्पण करूँगा। राम में किसी-न-किसी समय आएगा अवश्य।"

युवराज्ञी—"क्या कहते हो, विद्यार्थी! कहीं ज़रा भी ऊँघ गए, तो जान ही गई। ऐसे खटके में भी पड़ना कोई अक़्लमंदी है?"

महारानी—"है तो यही बात। मैं ऐसा हुक्म कैसे दे सकती हूँ?"

पुष्यमित्र—"थोड़ी-सी जोखिम तो हर मृगया में रहती है, किंतु कोई विशेष भय नहीं है। चैतन्य रहूँगा।"

महारानी—"होशियार रहना, बेटे! कहीं चूक न जाना।"

युवराज्ञी—"अम्मीजान! आप क्या हुक्म सादिर फ़र्मा रही हैं? बड़ी तशवीश की बात है। (पुष्यमित्र से) मैं तुम्हें ऐसा काम करने न दूँगी।"

पुष्यमित्र—"बड़ी ही कृपा हुई, देवीजी! किंतु जब आपके पौर जानपद पर विपत्ति है, तब उसका निवारण क्या राज्य का कर्तव्य नहीं? मैं भी तो आजकल राजसेवक हूँ।"

महारानी—(हँसकर) "बिना तनख़्वाह की नौकरी कैसी?"

पुष्यमित्र—"अवैतनिक सेवक भी तो है सेवक ही। जब अपने योद्धा युद्धार्थ भेजे जाते हैं, तब क्या उन पर कोई जोखिम नहीं होती?"

युवराज्ञी—"होती क्यों नहीं, मगर रात-भर अकेले जागना बहुत दहशतनाक बात है।"

पुष्यमित्र—"युवराज्ञी महोदया! आप कुछ भी चिंता न करें। ऐसी-ऐसी साधारण बातों में मुझे अणु-मात्र खटका नहीं है। काँटों के कारण शब्द होगा ही, और उसे कुछ रुकना भी पड़ेगा। इतने ही में समाप्त हो जायगा। चिंता की कोई बात नहीं।"

अनंतर दूसरे ही दिन आपने उस नर-भक्षक मृगराज का शव राजप्रासाद के सम्मुख उपस्थित करा दिया। राजमहिलाओं ने बड़ी

प्रसन्नता प्रकट की। मृगयार्थ आप जाया प्रायः करते थे, तथा महाराज की मृगया में सदैव जाते थे। इनकी सफलता औरों से बढ़ी-चढ़ी रहती ही थी।

एक बार बनैले शूकर की मृगया हो रही थी। महाराज का घोड़ा एक नाले के कूदने में गिर गया, जिससे वह भी गिर पड़े, तथा बनैला इन पर झपट पड़ा। इतने ही में पुष्यमित्र ने झपटकर बाणों से उसे समाप्त कर दिया। महाराज ने अनेक धन्यवाद दिए। बनैले के शिकार में पुष्यजी भाला लेकर पृथ्वी पर खड़े हो जाते थे। जब वह दौड़ता हुआ आता था, तब उसके निकट आ जाने पर दो डग उसकी बाईं ओर हटकर भाला चला देते थे। बनैला तीव्रता से दौड़ने पर बाईं ओर शीघ्रता में मुड़ नहीं पाता, तथा उसके वक्ष में भाला जा पड़ता है। प्रायः प्रत्येक पशु शीघ्रता में वाम पार्श्व की ओर कम मुड़ पाता है। युवराज्ञी भी कई बार इन्हीं के साथ मृगयार्थ पधारीं, और इनके साफल्य से बहुत प्रसन्न हुईं। एक बार बोलीं—"अब तो मैं निशानेबाज़ी तुमसे अच्छी कर लेती हूँ। उत्तर इन्होंने हँसकर यही दिया—"इसमें क्या संदेह है?"

हेलेन—"नाच तो आप अकेले और साथ, दोनो तरीक़ों का ऐसा बढ़िया जानते हैं कि इसके भी उस्ताद कहे जा सकते हैं।"

पुष्यमित्र—"किंतु आपके लिये नहीं। मैंने आज तक किसी बालिका का ऐसा बढ़िया नाच नहीं देखा। आपके साथ नृत्य करने में जी चाहता है कि बराबर नाचा ही करें। मेरी पद-संचालन-गति से आपकी गति मिल भी ख़ूब जाती है।"

हेलेन—"अब तो अपनी बलख़ में आमद आप शायद ख़ुशक़िस्मती का बायस मानेंगे?"

पुष्यमित्र—"इसमें क्या संदेह है? फिर भी स्वार्थीपन के दोष से प्रत्येक पुरुष को बचना चाहिए, विशेषतया परमोच्च समाज में प्रविष्ट होकर।"

हेलेन—"क्या इसीलिये मैं देखती हूँ कि सभी मामलों में आपका दिल बहुत लगता नहीं।"

पुष्यमित्र—"लगता क्यों नहीं, किंतु विद्यार्थियों के लिये साफल्य-प्राप्ति विषयांतरों से बचाव द्वारा हो सकती है, अन्यथा नहीं। अच्छा, एक बात पूछता हूँ कि देवीजी की गान और वाद्य में भी क्या कुछ गति है ?"

हेलेन—"क्या ग़ज़ब किए डालते हो ? तालिबेइल्म साहब !"

पुष्यमित्र—"क्षमा कीजिएगा, युवराज्ञी महोदया ! क्या कोई मूर्खता कर गया ?"

हेलेन—"पूरी-की-पूरी ग़लती हो रही है; ऐसे सवालात से मुझे आपमें इंसानियत के होने का कहीं शक न हो जाय ?"

पुष्यमित्र—"क्या देवी मुझमें केवल जंतुपन देखना चाहती हैं ?"

हेलेन—"मैं तो हर तरीक़े से इंसानियत देखना चाहती हूँ, मगर क़िब्ला आप ही मुतादिद अफ़आल से उस ख़याल के हटाने की पूरी फ़िक्र करते आते थे।"

पुष्यमित्र—(हँसकर) "अच्छा, एक प्रयत्न तो उसके अनुकूल कर रहा हूँ।"

हेलेन—"हज़ार-हज़ार शुक्रिया; तो अर्ज़ है कि वायोलिन, बीन वग़ैरह की कमोबेश मश्क़ है ही। गाना भी सिखलाया गया है। आपका भी दख़ल इन बातों में होगा ही ?"

पुष्यमित्र—"पूरा ज्ञान तो नहीं है, किंतु न्यूनाधिक प्रवेश है ही।"

इथ्यूज़ा—"तब आज पढ़ना छोड़कर दोनो तरफ़ों से यही हो न जाय ?"

पुष्यमित्र—"जैसी इच्छा।"

अनंतर इन तीनो व्यक्तियों ने एक दूसरे को गाने-बजाने का अपना-अपना परमोच्च ज्ञान और कलाएँ दिखलाईं। तीनो व्यक्ति अत्यंत प्रसन्न हुए। अनंतर जब फिर भी पुरानी उदासीनता चलती रही, तब एक

दिन इथ्यूज़ादेवी ने पुष्यमित्र से एकांत में मिलकर कुछ सूक्ष्म संलाप किया।

इथ्यूज़ा—"मित्तरजी ! हम लोगों के लिये आपका तरीक़ा भी एक मुअम्मा हो रहा है।"

पुष्यमित्र—"देवीजी ! यह मेरा दुर्भाग्य है। मैं तो अपना ढंग नितांत प्रकट समझता हूँ।"

इथ्यूज़ा—"आपकी खुली हुई आदतें ही तो भोलेपन की हद के भी आगे निकल जाती हैं। ऐसे सीधे-सादे नज़र आ रहे हैं कि सादालौह तक हुए जाते हैं। दुनिया में शायद मुज़क्कर व मुअन्नस का फ़र्क़ भी हुज़ूर पर ज़ाहिर न हो।"

पुष्यमित्र—"तो क्या आप मुझे इस छंद का उदाहरण बनाना चाहती हैं?—

"झुंड लखे तरुनीन के आयके, गुंड बने न छिनौ अरसा भई;
लुंड-से ठाढ़े रहे मुँह बाय औ' तुंड की खाल सबै चरसा भई।
चारि घरी लौं बटी हुवाँ हुंड-सी, रुंड-सी देह सबै करसा भई;
ह्वाँ ते गए जल-कुंड को न्हान, ह्वाँ मुंड पै मुंडन की बरसा भई।"

इथ्यूज़ा—(हँसकर) "इतनी दूर बढ़ने की क्या ज़रूरत है, मगर आप ही के पढ़ाए हुए मुंदर्जा ज़ैल अशआर का भी नमूना न बनें—

"हँसत सबै करतार दै नागरता के नावँ;
गयो गरब गुन को सबै बसे गमेले गावँ।
करि फुलेल को आचमन मीठो कहत सराहि,
रे गंधी ! मति-अंध तू अतर दिखावत काहि।"

पुष्यमित्र—"आपका प्रयोजन क्या है, सो मेरी समझ में नहीं आ रहा है। मैं तो पहले ही बिनती कर चुका हूँ कि मैं एक ग्रामीण पुरुष-मात्र हूँ। आपके-से नागर भावों का अर्थ कैसे समझ सकता हूँ?"

इथ्यूज़ा—"क्यों नहीं, ऐसे दस-बीस गँवार और हों, तो दुनिया

आबाद हो जाय। समझे क़िब्ला, आप एक-एक शिम्मा हैं, अगर जो कोई जान-बूझकर ऊँघना चाहे, उसे कोई होशियार क्या करे?"

पुष्यमित्र—"मैं समझता हूँ, कुछ दिन और ठहर जाइए, फिर आपका संदेह स्वयं ही दूर हो जायगा।"

इस प्रकार आलाप के पीछे दो-चार दिनों में राजकुमारी हेलेन से भी इनकी बातें यों होने लगीं।

हेलेन—"विद्यार्थी साहब! अब तो आपकी मेहरबानी से मुझे हिंदुस्तानी तहज़ीब की दो-चार बातें मालूम ही हो गई हैं।"

पुष्यमित्र—"थोड़ी क्या, देवीजी! अब आप बहुत कुछ जान गई हैं।"

हेलेन—"अच्छा, मैं जानना चाहती हूँ कि आपके मुल्क में जो कमोबेश मज़हबी तफ़र्क़ा देख पड़ता है, उसकी बुनियाद क्या है? बौध और सनातन धर्म में असली फ़र्क़ क्या है?"

पुष्यमित्र—"चले दोनो विचार पुराने आते हैं, किंतु चार-पाँच सै वर्षों से इनका भेद प्रकट हुआ है। बौद्ध मत महात्मा बुद्ध ने चलाया है, तथा सनातन-धर्म वर्तमान रूप में महात्मा बादरायण व्यास द्वारा श्रीभगवद्गीता में प्रतिपादित हुआ है। इसमें ईश्वर तथा यज्ञों का भी मान है। बहुत करके इतना ही मोटा अंतर इन दोनो में है। निर्वाण-प्राप्ति का ध्येय कामना-त्याग से दोनो में सम है। भेदों के कथन विशेष किए जाते हैं, किंतु मूलतः कार्मिक सिद्धांत अथच इतर विचार चले प्राचीन काल से आते हैं। वही कुछ परिवर्तित एवं विकसित रूप में दोनो में पाए जाते हैं।"

हेलेन—"आप ख़ास अपने ख़यालात में राम और कृष्ण को कैसा मानते हैं?"

पुष्यमित्र—"उन्हें ईश्वर का अवतार मानना तो विश्वास का विषय

हैं, किंतु व्यक्ति के रूप में दोनो हमारे महापुरुष थे। राम ने एकस्त्री-व्रत निभाया, तथा कृष्ण के रुक्मिणी और सत्यभामा-नाम्नी दो प्रधान रानियाँ थीं।"

हेलेन—"आप इन्हें कैसा समझते हैं ?"

पुष्यमित्र—"दोनो साम्राज्य बना सकते थे, किंतु उन्होंने इस विषय पर समुचित क्या, प्रायः कुछ भी ध्यान न दिया। राम ने धर्म-पालनार्थ अपने को मानो मिटा डाला। प्रजा-प्रेम ऐसा था कि प्रियतमा महिषी भी उनके अनुचित संदेह-मात्र पर छोड़ दी, और दांपत्य प्रेम यहाँ तक निभाया कि द्वितीय विवाह न किया। उधर श्रीकृष्ण ने यावज्जीवन दोनो रानियों से प्रायः सम प्रेम निभा दिया।"

हेलेन—"आप इन दोनो में भला-बुरा किसे समझते हैं ?"

पुष्यमित्र—"दोनो प्रायः सम थे। न्यूनाधिक एक भी नहीं कहा जा सकता।"

हेलेन—"क्या एक नेक रानी के होते हुए दूसरी से शादी करना वाजिब था ?"

पुष्यमित्र—"उन्होंने पहली रानी को मना लिया होगा। कोई झगड़ा तो दोनो में कभी हुआ नहीं। निंदा कैसे की जा सकती है ?"

हेलेन—"यह बात है। अच्छा, अब सम्राट् चंद्रगुप्त और अशोक-वर्द्धन पर आइए।"

पुष्यमित्र—"चंद्रगुप्त ने तो साम्राज्य स्थापित किया ही। एक रानी के होते हुए आपके ही वंश की राजपुत्री हेलेनदेवी से दूसरा विवाह भी किया। दोनो से पूर्ण प्रेम निभा दिया। बड़ी रानी के मरने पर छोटी से भी अपने को प्रसन्न रक्खा, किंतु जब उनका भी शरीरांत हो गया, तब महाप्रेम का उदाहरण दिखलाते हुए सारा राज-पाट छोड़, भिक्षु बनकर शेष जीवन टेर कर दिया।"

हेलेन—"क्या आपके ख़याल में दो शादियाँ करने पर भी उनका चाल-चलन एक नमूना था ?"

पुष्यमित्र—"इसमें क्या संदेह ? उधर सम्राट् अशोक ने एक दूसरे के पीछे तीन विवाह किए। वृद्धावस्था में भी स्त्री का लोभ न छोड़ा, जिससे तथा अनुचित प्रकारेण वृद्धिमती धार्मिक नीति से सारा साम्राज्य चौपट हो गया।"

हेलेन—"तो उनके चलन को आप ठीक नहीं समझते क्या ?"

पुष्यमित्र—"नितांत दृढ़ता के साथ नहीं।"

हेलेन—"हमारे दारुलउलूम के बड़े मुअल्लिम अब्बाजान से अर्ज़ करते थे कि आप अपनी तालीमे-जंग ख़त्म करके जल्द-से-जल्द घाम जाने के इरादे में हैं।"

पुष्यमित्र—"बहुत शीघ्रता में तो नहीं हूँ, किंतु पुरोगम मेरा था, और है ऐसा ही।"

हेलेन—"क्या यहाँ से तबीयत उकताई हुई है ?"

पुष्यमित्र—"ऐसा तो नहीं है, किंतु प्रायः दो वर्षों से बाहर हूँ, और शायद डेढ़-दो साल और लगें। घर शीघ्र पलटने की इच्छा स्वाभाविक है ही।"

इथ्यूज़ा—"विद्यार्थी ! अगर हम लोग बहुत ही बेमुरौवत समझें, तो शायद आपको तअज्जुब न हो।"

पुष्यमित्र—"होगा अवश्य, क्योंकि कम-से-कम राजपुत्री के साथ मैंने शील निभाया ही है। प्रतिसप्ताह जितने दिनों की सेवा स्वीकार की थी, उससे प्राय ड्योढ़े लगे, तथा प्रतिदिन की मात्रा में दूने समय से कम किसी दिन लगा न होगा। शिक्षा भी पूर्ण मनोयोग के साथ दी है, तथा समयाधिक्य पर कभी असंतोष नहीं प्रकट किया।"

इथ्यूज़ा—"इतना मानना ही पड़ेगा कि नौकर आप बहुत अच्छे हैं, मगर उससे आगे कुछ नहीं।"

पुष्यमित्र—"सेवा-धर्म में विशेष मेरा उत्तरदायित्व ही क्या था ? देवीजी के मानस-बल तथा अपने चरित्र पर विश्वास करता हूँ ।"

इथ्यूज़ा—"यह भी क्यों नहीं कहते कि चुटकी के बदले बकोटा काटता हूँ ?"

पुष्यमित्र—"ऐसा कहना तो शायद शुद्ध न्याय न हो । हाँ, इतना तो भी कहा जा सकता है कि अमृत पीने से इनकार करता हूँ ।"

हेलेन—"यह क्यों नहीं कहते कि आबेहयात को ज़हर समझता हूँ ?"

पुष्यमित्र—"सत्य तो ऐसा हो सकता है कि अमृत पाने को अपनी योग्यता नहीं समझता ।"

इथ्यूज़ा—"आप शायद यह भी समझते हों कि दो और दो मिलकर चार नहीं, पाँच होते हैं ।"

पुष्यमित्र—"इतनी दूर तो मेरी बुद्धि जाती नहीं, किंतु शीलाभाव का अभियोग शायद पूर्णतया यथार्थ न उतरे ।"

हेलेन—"इसके लिये हज़ार-हज़ार शुक्रिया अदा करती हूँ । लेकिन अगर कोई अंधा कहे, तो शायद आपको बुरा लगे ।"

पुष्यमित्र—(हँसकर) "जब सूक्ष्म-से-सूक्ष्म लक्ष्य सुगमता-पूर्वक बेधा करता हूँ, तब अंधता का संदेह करनेवाला शायद अशुद्ध निकले ।"

हेलेन—"अगर मैं ही ऐसा कह बैठूँ, तो कैसा ?"

पुष्यमित्र—"तो मैं नाहीं न कह सकूँगा, क्योंकि मेरी बहुतेरी बातें आप मुझसे भी अधिक जानती हैं, तथा मेरे विषय में अनुचित अथवा अपमान-जनक बात कभी कहेंगी नहीं ।"

हेलेन—"अगर कोई बहरा कहे ?"

पुष्यमित्र—(हँसकर) "जब मृगया में सूक्ष्म-से-सूक्ष्म शब्द

ताड़कर बाण चलाने में भूल नहीं करता, तब बधिरपन का भी संदेह निर्मूल ही होगा।"

हेलेन—"अगर मैं ऐसा शक करूँ?"

पुष्यमित्र—"तब तो मानना ही पड़ेगा।"

हेलेन—"अगर कोई यह सोचे कि आप ज़ुम्लों के मुआनी नहीं समझ पाते?"

पुष्यमित्र—"इस प्रश्न के भी उपर्युक्तानुसार उत्तर हैं। ध्यान में नहीं आ रहा है कि ऐसे अनोखे प्रश्न आज क्यों हो रहे हैं? पदार्थ-निर्णय में लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि-भेद आदि का अध्ययन जब कर ही चुका हूँ, तब ऐसे संदेहों के क्या कारण हैं?"

हेलेन—(आँसू पोछती हुई) "क्या आप सवालों के जवाब दे रहे हैं? क्या इतनी समझ आपमें दरअसल नहीं है?"

पुष्यमित्र—"क्षमा का प्रार्थी हूँ युवराज्ञी महोदया! मैं आपके लिये वास्तव में अंध, बधिर और वाक्यार्थों से अनभिज्ञ रहा हूँ। एक बार क्षमा कर दीजिए। अंतस्तम हार्दिक पुकारों के लिये मैं वास्तव में ऐसा ही रहा हूँ।"

हेलेन—(कई बार आँसू पोछती हुई) "मैं नहीं समझ सकती कि आपका संग-दिल किस तरह पसीज सकता है? क्या मेरे सवालात के वे ही जवाब थे, जो आपने दिए?"

पुष्यमित्र—(हेलेन के अश्रु रूमाल में लेकर हृदय में लगाते हुए) "नहीं थे। अब दूँगा; आपको कष्ट विशेष न हो, इस कारण से ही मैं आपके प्रश्नों को हँसी में टालता रहा हूँ। करुणा छोड़िए। इससे मेरा हृदय विदीर्ण हुआ जाता है।"

इथ्यूज़ा—"क्या आपके पास दिल है भी, जो पाश-पाश हो?"

पुष्यमित्र—"इसका मैं क्या उत्तर दूँ?"

इथ्यूज़ा—"हमारी वलीअहेद साहबा ने आपसे हमेशा कैसा बर्ताव रक्खा है?"

पुष्यमित्र—"बाप्रू साहबा ! कहाँ मैं एक निर्धन विदेशी विद्यार्थी, और कहाँ इतने बड़े महाराज्य क्या साम्राज्य की युवराज्ञी ! हम दोनो में पृथ्वी-आकाश का अंतर है। महापुरुषों को साधारण जानपदों पर जैसी कृपा रखनी चाहिए, उससे कहीं अधिक मुझ पर रक्खी गई है।"

हेलेन—"विद्यार्थी ! क्या यह जवाब सच है ?"

पुष्यमित्र—युवराज्ञी महोदया ! यह उत्तर भी अयथार्थ है। हाय, मैं क्या कहूँ, और क्या न कहूँ ? मैं तो किं-कर्तव्य-विमूढ़ हो रहा हूँ।"

हेलेन—"क्या क़सम खा ली है कि इस मामले में सिवा तमस्खुर के बात न होगी ?"

पुष्यमित्र—"अच्छा, अब प्रश्न करने की कृपा हो। मैं हृदय-हीन उत्तर देकर आपको कष्ट नहीं देना चाहता था, किंतु अब दुःख अनिवार्य समझकर प्रस्तुत हूँ।"

हेलेन—"तो पहले यह बतलाओ कि तुम हो कौन ? देहक़ानी तो हो नहीं सकते।"

पुष्यमित्र—"कारण-वश मुझे अपना व्यक्तित्व छिपाना पड़ रहा है। यदि यह वचन दे दिया जाय कि यह वार्ता यथासाध्य आप दोनो के अतिरिक्त आगे न पहुँचेगी, तो यथार्थ उत्तर दे सकता हूँ।"

हेलेन—"अच्छा, हम दोनो इस बात का वादा क़सिमया करती हैं।"

पुष्य मित्र—"तब सुनिए। आपके सम्मुख मैं एक साधारण व्यक्ति-मात्र अवश्य हूँ, किंतु निर्धन नहीं। मेरी मातामही साधारण मंडलेश्वरी अवश्य हैं, तथा मैं उनका उत्तराधिकारी भी हूँ। मेरे पूज्य पिता योगी हैं, किंतु राजगृह के महाराजा भी। जो सुगांगेय प्रासाद सम्राज्ञी हेलेन को निवासार्थ मिला था, उसी में मेरा भी जन्म हुआ है। मैं ही पिता का एकमात्र पुत्र हूँ।"

हेलेन—"क्या आप महासेनापति बहसतिमित्र के बेटे हैं ?"

पुष्यमित्र—"जी हाँ, युवराज्ञी महोदया !"

हेलेन—"फिर उन्हें बृहस्पति क्यों कहते थे ? क्या झूठ बोलना भी हिंदुस्तानी लोग सीखने लगे हैं ?"

पुष्यमित्र—"बहसति शब्द संस्कृत बृहस्पति का ही प्राकृत रूप है। झूठ न बोला था।"

हेलेन—"उनका महाराज्य कितना है ?"

पुष्यमित्र—"बहुत छोटा। केवल २५ सहस्र सेना उससे सन्नद्ध की जा रही है।"

हेलेन—"सम्राट् के दरबार में आप जाते-आते होंगे ही ?"

पुष्यमित्र—"ऐसा न होता, तो राजभोजों के नियमों से अभिज्ञता कैसे प्राप्त होती ?"

इथ्यूज़ा—"अच्छा, हमारी वलीअहेद साहबा ने आपसे बर्ताव कैसा रक्खा है ?"

पुष्यमित्र—"क्षमा कीजिएगा, बड़ी भूल का।"

हेलेन—"कैसे ?"

पुष्यमित्र—"अभी आपकी अवस्था १७ साल से अधिक न होगी, यद्यपि शारीरिक वृद्धि कुछ विशेष दिखाई देती है। मेरा चित्र देखकर जो उचित से अधिक प्रसन्नता प्रकट की गई, उसे चित्रकार तो अपनी योग्यता की प्रशंसा-मात्र समझकर मुझसे पुरस्कार का प्रार्थी हुआ, किंतु उससे मेरा पता भी पूछा जाने से मैं तुरंत ताड़ गया कि कुछ दाल में काला है। दो ही तीन दिनों में आप दोनो को परिषत् में अनुचित समय बिताते देखकर मुझे ज्ञात हो गया कि मेरा संदेह निर्मूल न था। चंद्रवत् दीप्तिमान् सौंदर्य देखकर मेरा चित्त उस काल तो आपे से बाहर हो गया था, किंतु समय के साथ अपने विद्यार्थी-जीवन के धर्म सोचकर धैर्य धारण करना पड़ा।"

इथ्यूज़ा—"भूल हम लोगों की क्या हुई ?"

पुष्यमित्र—"बिना गुण-दोषों की जाँच किए एकाएकी किसी पर

अनुरक्त हो जाना महत्ता के प्रतिकूल है। इतनी बड़ी युवराज्ञी को किसी साधारण पुरुष पर मोह न करना था, विशेषतया ऐसी दशा में, जब वह एक विदेशी तथा विवाहित व्यक्ति था। बे जाने हुए लोगों के आचरणों का क्या भरोसा हो सकता है?"

इथ्यूज़ा—"अब क्या होना है?"

पुष्यमित्र—"यही तो कठिन प्रश्न है। मैं अपनी रानी से वचन-बद्ध हो चुका हूँ कि विदेशों में आचरण पूर्णतया शुद्ध रहेंगे। इसका परिहार उनके पैर पकड़कर हो सकता है। सम्राट् का सेवक हूँ ही। उनसे भी किसी प्रकार क्षमा-याचना संभव है। तीसरी बात ऐसी है, जिसका मार्ग नहीं है।"

इथ्यूज़ा—"वह क्या है विद्यार्थीजी! लोगों को देखकर भी उनके चाल-चलन का बहुत कुछ अंदाज़ा मिल सकता है।"

पुष्यमित्र—"मैं देवी को प्राणों से अधिक चाहता हूँ। इनके भी प्रत्येक कर्म, कथन और चेष्टा से मेरे ऊपर अमोघ प्रेम का परिचय मिलता है। इन्हीं के आग्रह से पहले ही दिन के भोज में मेरा ऐसा आदर किया गया, जो ध्यान में भी नहीं आ सकता था। मेरे अनेकानेक ढकोसलों पर अणु-मात्र क्रोध प्रकाश किए बिना देवी ने साथ न छोड़ा। तो भी न मैं इन्हें पा सकता हूँ, और न यह मुझे। इसीलिये मैं दूर रहना चाहता था।"

इथ्यूज़ा—"इस मोअम्मे के मुआनी क्या हैं? आख़िर क्यों आप एक दूसरे को नहीं पा सकते?"

पुष्यमित्र—"युवराज्ञी महोदया इतने भारी साम्राज्य की उत्तराधिकारिणी हैं कि एक साधारण महाराजा का उत्तराधिकारी होकर भी मैं इनके सम्मुख कीट-पतंग से बढ़कर नहीं हूँ। फिर यह मेरी पत्नी कैसे हो सकती हैं? पत्नी पति के यहाँ जाती है। यह अपना राज्य कैसे छोड़ सकती हैं? फिर मेरे पास भारत में रक्खा ही क्या है, जो मैं इन्हें इतनी हानि सहने दूँ?"

हेलेन—"क्या आपको इतनी बड़ी शाही नापसंद है ? ज़रा होश में आ जाइए, विद्यार्थी साहब !"

पुष्यमित्र—"यही तो बात है; पुष्यमित्र आपको पाकर धन्य से भी बढ़कर महान् अपने को समझेगा, किंतु वह बिक नहीं सकता।"

हेलेन—"फिर स्त्री ही क्यों बिके ?"

पुष्यमित्र—"यह तो सनातन से होता चला आया है। आपकी माताजी ही शाम छोड़कर यहाँ क्यों पधारी हैं ?"

हेलेन—"सोच लो विद्यार्थी ! इतनी बड़ी सल्तनत क्या हेच है ?"

पुष्यमित्र—"यह क्या, इसका शतांश भाग त्याज्य नहीं। फिर भी मैं यवन-पति होकर भारत पर आक्रमण करने न जाऊँगा, वरन् आर्य-सेनापति होकर यवनों का बल चूर्ण करने में यत्नवान् हूँगा। हम दोनों के एक दूसरे से प्रेम बहुत ऊँचे होकर भी सीमित हैं; न तो मैं भारतीयता छोड़ सकता हूँ, न युवराज्ञी महोदया यवनपन, अथवा कम-से-कम युवराज्ञी-पद। हम दोनो की स्थिति हमारे प्रेम की बाधिका है। इसीलिये अंत में विफलता से कष्ट के बचाने को मैं इस लीला को बढ़ने ही नहीं देना चाहता था। इन्हीं कारणों से अंध, बधिर, बेसमझ, मूर्ख आदि बना रहता था। समझता एक-एक कर्म और कथन के ध्वनि और व्यंजनाभव भाव पूर्णतया था, किंतु जान-बूझकर मूर्ख बना हुआ था।"

हेलेन—"विद्यार्थी ! क्या तुम संग-दिल नहीं हो ?"

पुष्यमित्र—"अन्य धर्मों के पालनार्थ दिखाई ऐसा अवश्य दे रहा हूँ। विवश हूँ। आपने बिना गुण-दोषों पर समुचित ध्यान दिए प्रेम की भिक्षा न माँगनेवाले किसी व्यक्ति को यह अमूल्य रत्न क्यों सौंपा ? कुपात्र को दान क्या योग्य है ?"

इथ्यूज़ा—"फिर सोचो विद्यार्थी ! इतनी बड़ी सल्तनत, यह ख़ूबसूरती, ऐसी उजली मुहब्बत बिना कोशिश किए तुम्हें मिल रही है, जिसके लिये बड़े-बड़े शहंशाह लट्टू रहते हैं। सोच लो, मौक़ा हाथ से न

जाने दो। उम्र-भर में तक़दीर की शाख़ एक ही बार झुकती है। क़ाबू में करो विद्यार्थी ! मौक़े पर मत चूको।"

पुष्यमित्र—"देवीजी ! आपकी शिक्षा है मुझे मान, प्रेम तथा महा-राज्य, तीनो को देनेवाली, किंतु हम दोनो का प्रेम असीम नहीं है। मैं देश-प्रेम नहीं छोड़ सकता, तथा देवीजी को स्वार्थ-वश इतना बड़ा महाराज्य त्याग करने की शिक्षा नहीं दे सकता। क्या करूँ, और क्या न करूँ ?"

हेलेन—"विद्यार्थी ! तुम्हारा मिज़ाज बड़ा सख़्त है। अगर मुझे भी ग़ुस्सा आ जाय, तो कैसी ठहरे ?"

पुष्यमित्र—"धर्म-रक्षा साफल्य पर निर्भर न होकर प्रयत्न पर होती है। आप मुझे बंदी बना सकती हैं, अथवा वध-दंड तक दे सकती हैं। मैं जानता हूँ, आपका सौजन्य किसी निर्दोष को बंदी न बनाने देगा, तथा मुझ पर अगाध प्रेम वध-दंड से मुझे रक्षित करेगा। क्रोध का भी कथन आप कर रही हैं, किंतु मुझ पर क्रुद्ध हो नहीं सकतीं।"

इय्यूज़ा—"अगर बड़े हुज़ूर को ग़ुस्सा आ जाय, तो ?"

पुष्यमित्र—"भाग्य और प्रयत्न से बहुतेरे काम बन सकते हैं। यदि देवीजी को पत्नी-रूप में पा सकूँ, तो अपने को धन्य समझूँ, किंतु जो कठिनता है, वह प्रकट की जा चुकी है। मुझे बड़ा दुःख है कि युवराज्ञी महोदया को मेरे कारण कष्ट हो रहा है। अपने भाग्य को भी कोसता हूँ, किंतु देश-प्रेम न छोड़ने में विवश हूँ।"

हेलेन—"विद्यार्थी ! कुछ मेहरबानी का सबक़ भी सीखो। देखो, इतनी बड़ी सल्तनत की वलीअहेद होकर आपसे मोहब्बत की भीख माँगती हूँ।"

पुष्यमित्र—"भिक्षा क्या, प्रेम तो मैं स्वयं पूर्णता के साथ इन चरणों में अर्पित ही किए हुए हूँ, किंतु अपनी शिक्षा और चरित्र से विवश हूँ। अब मुझे क्षमा-प्रदान करके ग्राम जाने की आज्ञा मिल जाय।"

हेलेन—"विद्यार्थी ! क्या अब तालीमदिही भी छोड़ते हो ? हाय ! मैं कैसी बदक़िस्मत हूँ ।"

पुष्यमित्र—"क्या एक हृदय-हीन व्यक्ति के संग से आपको कष्ट न होगा ?"

हेलेन—"कुछ दिनों तक तो यह अज़ीज़ सूरत और देखने को मिलेगी ।"

पुष्यमित्र—"विचार कर लीजिए, युवराज्ञी महोदय ! मैं आपको दुःख नहीं देना चाहता । मैं तो एक निर्धन पुरुष होकर मनश्चांचल्य रोकने में सक्षम हूँ, किंतु राजन्यवर्ग चित्त-निग्रह का अभ्यासी कम होता है ।"

हेलेन—"आपको वक़्त पर इसका भी तजुर्बा हो जायगा ।"

पुष्यमित्र—"जैसी आज्ञा । अभी मुझे प्रायः एक मास यहाँ और रहना है ।"

हेलेन—"जैसी आपकी तबीयत । आज की गुफ़्तगू का मज़मून जानिबैन से बिलकुल खुफ़िया रहे । आइंदा भी हम लोग उस्ताद और शागिर्द ही रहेंगे, जैसे अब तक रहे हैं । क्या कभी आप कोई मेहेनताना न लेंगे ?"

पुष्यमित्र—"पारिश्रमिक से तो क्षमा ही किया जाऊँ । समाचार का प्राकट्य किसी प्रकार न होने पाए ।"

इस भाँति बातचीत के पीछे पुष्यमित्रजी अपने काम में लगे । उधर युवराज्ञी दो-तीन दिनों तक बहुत विकल रहकर अपने भाग्य को कोसती रहीं । अनंतर ऊँच-नीच पर पूरा ध्यान देकर एक दिन एकांत में इनसे फिर आलाप करने लगीं—

हेलेन—(पुष्यमित्र के हृदयस्थल को हाथ से थपथपाकर) "जानेमन ! इस जगह पर दिल न होकर शायद पत्थर का एक टुकड़ा रक्खा हुआ है ।"

पुष्यमित्र—"देवीजी ! मैं आपके शुद्ध प्रेम पर प्राणों तक की निछा-

घर कर सकता हूँ। यदि आपको पा सकूँ, तो अपने जीवन को धन्य समझूँ, किंतु आप नहीं देखतीं कि अपने प्रेम के कारण आप आत्म-समर्पण न करके मुझसे ऐसा चाहती हैं। मैं यह मानने को प्रस्तुत नहीं कि मेरे ऊपर आपका प्रेम आपके ऊपरवाले मेरे प्रेम से गुरुतर है। स्त्री-जाति उतना प्रेम कर ही नहीं सकती, जितना मैं इन चरणों पर अर्पण किए हुए हूँ, किंतु स्वदेश तथा आर्य-संस्कृति पर भी मेरा प्रेम कम नहीं है। आपका जैसा नाम है, उससे बढ़कर रूप तथा गुण उससे भी गुरुतर है।"

हेलेन—"क्या सचमुच दिल से ऐसा फ़र्माते हैं?"

पुष्यमित्र—"मैं इसी खड्ग की शपथ खाकर कहता हूँ कि सिवा अपनी आर्य-संस्कृति के और सब कुछ इन चरणों पर अर्पित कर सकता हूँ।"

हेलेन—"सोचो तो प्यारे पुष्य! तुम्हारे यहाँ की शहंशाही कहलानेवाली सल्तनत से सिर्फ़ शाही समझी जानेवाली अब्बाजान की रियासत बड़ी है। उधर मथुरा और सिंध तक सोचो, और इधर ग़रबी एशिया व नीज़ दमिश्क़ तक की आधी सल्तनत पर ग़ौर करो। क्या यह मोरिया सल्तनत हाल से छोटी नहीं है?"

पुष्यमित्र—"है अवश्य।"

हेलेन—"शादी के जहेज़ में मेरे अलावा एक दिन यह कुल्ला रियासत भी तुम्हें मिलेगी। इससे क्यों नफ़रत करते हो?"

पुष्यमित्र—"प्रिय देवीजी! इसे मैं तुच्छ नहीं समझता, किंतु यवन-सम्राट् बनने से मुझे शुद्ध हृदय से यवनोन्नति में यत्नशील होना होगा। इसके प्रभाव-विस्तार में आर्यों से संघर्ष अनिवार्य है। ऐसी दशा में मैं क्या करूँगा? अपनी निजी उन्नति के लोभ में क्या आर्यों के मूलोच्छेदन में प्रवृत्त हो जाऊँ? नाम-भर को यवन-पति होकर भी मैं वास्तव में यवन-संस्कृति तथा सामूहिक विचारों का दास रहूँगा या नहीं?"

हेलेन—"विद्यार्थी! तुम्हारे ऊँचे ख़यालात मेरा कलेजा पाश-पाश किए देते हैं। कहना तुम्हारा है सच, मगर मैं क्या करूँ? मेरी मुहब्बत के मुक़ाबले में तुम्हारी हेच समझ पड़ रही है। करते तो हो उसकी बड़ी तारीफ़, लेकिन कई और बातों पर नहीं जाते। मैंने अपना दिल एक देहक़ानी अजनबी को दे डाला। फिर भी कैसी बदक़िस्मत हूँ कि दिल और सल्तनत, दोनो देकर भी उसकी सादिक़ मुहब्बत नहीं हासिल कर पाती।"

पुष्यमित्र—"एक ग्रामीण का तो आदर आपने नहीं किया था।"

हेलेन—"एक मामूली जागीरदार का तो किया था। आबेहयात के जवाब में पत्थर पा रही हूँ या नहीं? ऐ संगदिल, ज़ालिम! तू मुझसे अपनी मुहब्बत की क़ीमत क्या माँगता है? मुझे उसे ख़रीदना हर हालत में मंज़ूर है।'

पुष्यमित्र—"देवी! आप बालिका-मात्र हैं, और अभी समर्थ आयु को नहीं पहुँची हैं। आप तो संभवतः राज्य भी छोड़कर प्रेम निभाना चाहेंगी, किंतु मैं ऐसा स्वार्थी नहीं हो सकता। आपको ऐसा न करने दूँगा।"

हेलेन—"तब फिर अर्ज़ मंज़ूर कीजिए।"

पुष्यमित्र—"क्या करूँ? चाहे प्राण दे दूँ, किंतु भारतीयता नहीं छोड़ सकता। आर्य-संस्कृति मेरा अंग हो गई है। उसे छोड़ने से मैं अपना हाथ आत्महत्या से नहीं रोक सकता। करूँ, तो क्या करूँ? आप ही विचार कर लीजिए।"

हेलेन—"मुहब्बत का जो अंदाज़ा आपने बतलाया, उसमें तो कमी नहीं है?"

पुष्पमित्र—"अणु मात्र नहीं।"

हेलेन—"तब फिर मुझे सल्तनत छोड़नी पड़ेगी; यह जान से अज़ीज़ सूरत नहीं छोड़ सकती।"

पुष्यमित्र—"आज से इन चरणों पर अपना जीवन अर्पित किए देता

हूँ। किसी-न-किसी समय आपकी कामना सफल होगी, किंतु मैं आपको अधिकार छोड़ने न दूँगा।"

हेलेन—"फिर सुदआबरारी कैसे होगी ?"

पुष्यमित्र—"प्रकट है कि मुझे देखकर आपकी क़िस्मत बुरा पलटा खा रही है। एक बालिका-मात्र होने से आप ऐसे भारी प्रश्नों का उचित निर्णय नहीं कर सकतीं। कैसा अच्छा होता, यदि आपने मुझे कभी देखा ही न होता।"

हेलेन—"ऐ संगदिल ! क्या अब भी तुम्हें इतना तफ़क्क़ुर लाज़िम है ?"

पुष्यमित्र—"अब मैं दमिश्क़ जाने ही वाला हूँ। वहीं सोच-साचकर आपको सुखद कोई निर्णय लाऊँगा। जब तक मेरा अध्ययन समाप्त नहीं होता, तब तक ब्रह्मचर्य-व्रत चलेगा ही।"

हेलेन—"इसमें मुझे इनकार नहीं, लेकिन जाऊँगी मैं भी दमिश्क़; वहीं मेरा ननिहाल है ही।"

पुष्यमित्र—"प्राणप्रिये ! ऐसी शीघ्रता योग्य नहीं। वहाँ हम लोगों के व्यवहार पर किसी को बुरा लग सकता है, जिससे कष्ट संभव है।"

हेलेन—"मुझसे यहाँ रहा न जायगा। जो होगा, देखा जायगा। अब इस मामले में ज़िद मत करो। तबीयत मेरी इस क़दर क़ाबू में नहीं है।"

पुष्यमित्र—"तब फिर विवशता है। अच्छा, इतना निश्चित रहा कि प्रकट में हम दोनों का संबंध गुरु-शिष्या का ही रहेगा। कम-से-कम मेरी उदासीनता सब पर विदित रहे।"

हेलेन—"यह बिलकुल दुरुस्त है।"

इस प्रकार विचार दृढ़ करके ये दोनों पृथक् हुए। अनंतर युवराज्ञी माता से अपने ननेरे जाने की बात चलाने गई।

महारानी—"बेटी ! तू आजकल अपने को कुछ-कुछ भूली

नज़र आती है। तेरे अब्बाजान को शक भी हो चला था, मगर तेरे उस्ताद के बाबत जब मुअल्लिम ने सब हालात ज़ाहिर किए, तब वह फिर बेफ़िक्र हो गए।"

हेलेन—"अम्मीजान! मैं इन दिनों नानिहाल जाना चाहती हूँ। बड़े हुज़ूर को एक ज़माने से नहीं देखा है?"

महारानी—"आजकल वह तालिबेइल्म उधर ही जानेवाला है, तेरे अब्बा तेरा उधर जाना शायद पसंद न फ़र्मावें।"

हेलेन—"आपसे क्या छिपाने की बात है, अम्मीजान! मैं उन्हें चाहने ज़रूर लगी हूँ।"

महारानी—"क्या कहती है, बेटी! एक मामूली शख़्स के निस्बत क्या सोच रही है?"

हेलेन—"मामूली कैसे? वह तो महाराज-ए-राजगिरह के वलीअहेद हैं! सूरत-शकल, लियाक़ते-जंग व नीज़ दीगर अख़्लाक़ के आला औसाफ़ में एकता हैं। फिर भी बवजूहात चंद वह अपना वलीअहेद होना ज़ाहिर नहीं करना चाहते। आप भी सिवा अब्बाजान के और किसी से फ़र्माइएगा नहीं।"

महारानी—"रियासत तो उनकी बड़ी है नहीं।"

हेलेन—"ऐसा ज़रूर है, मगर हैं तो आला ख़ानदान से। फिर भी एक सुक़्म बाक़ी है कि वह मुझसे पीछा भी छुड़ाना चाहते हैं।"

महारानी—"यही तो मैं भी समझती हूँ, बल्कि ख़ुद हज़रत का भी यही ख़याल था। ऐसी हालत में तू ही उसके पीछे क्यों फिरती है? अपना मिज़ाज क़ाबू क्यों नहीं करती?"

हेलेन—"इसी बात में तो, अम्मीजान! सख़्त मजबूरी हो रही है। अब्बाजान से ये बातें चाहे न बतलाइए, सिर्फ़ दमिश्क़ की इजाज़त हासिल कर लीजिए। मुझे उम्मीद है, चंद माह में मामला तय हो जाएगा।"

महारानी—"आख़िर इस क़द्र जद्दोजहद की ज़रूरत ही क्या है ?"

हेलेन—"मुआफ़ी ब ख़ुशी जाय, अम्मीजान ! मिज़ाज क़ाबू नहीं आता। आपकी दुआ चाहिए। क्या करूँ, मजबूर हो रही हूँ।" (रोने लगती है)

महारानी—"ख़ैर, जब तुम्हारा दिल नहीं मानता, और आदमी आला-ख़ानदान, पहले दर्जे का नेकनीयत व हर तरह से क़ाबिल पसंदीदगी है, तब मैं भी मंज़ूरी देती हूँ। उम्मीद है, बग़ैर अपने को ज़लील किए हुए तुम मामला तय कर सकोगी।"

हेलेन—"इसमें शक न होगा, अम्मीजान !"

महारानी—"मगर समझ लो कि यह मेरी महज़ शख़सी मंज़ूरी है।"

हेलेन—"इतना तो समझ ही रही हूँ।"

जब शाहे-बल्ख़ ने जाना कि पुष्यमित्र दूसरे ही दिन दमिश्क़ के लिये चलनेवाले थे, तब मध्याह्नकालीन भोजन के पीछे अपने सामरिक मंत्री के द्वारा निज़ कक्ष में बुलवाकर इनसे यों बातचीत की—

दंतिदुर्ग—"बेटा ! तुमने तालिबइल्मी की हालत में भी सिर्फ़ एक साल यहाँ रहकर इस शाही के कई बरतर कार नुमायाँ किए। उस मर्दुमख़ोर शेर को एक ही रात की कोशिश में ख़त्म कर दिया, मेरी अज़ीज़ अज़ जान बेटी को बिला कुछ लिए ऊँची-से-ऊँची तालीम दी, और ख़ुद मेरी जान बचाई। अलावा इन ख़ास कामों के अपना चाल-चलन हमेशा एक नमूने के मुताबिक़ निहायत ऊँचा रक्खा। चूँकि अब तुम यह सल्तनत छोड़ रहे हो, लिहाज़ा मुझसे जो चाहो, इनआम माँग लो। मैं नहीं न करूँगा। अगर इस शाही में कोई फ़ौजी या दीगर ओहदा ऊँचे-से-ऊँचा चाहो, तो मुझे और भी ख़ुशी होगी।"

पुष्यमित्र—"देव ! मैं आपकी कृपाओं से बहुत ही कृतज्ञ हूँ। मुझसे इस शाही का बर्ताव एक कौटुंबिक व्यक्ति के समान हुआ है, यद्यपि मुझमें ऐसी कोई पात्रता न थी, न मेरा भारतीय पद ही इस योग्य था।"

दंतिदुर्ग—"इसके बाबत तो हाल ही में खुफ़िया तरीक़े से मलिका से मालूम हुआ है कि आप महाराजा बहसतिमित्र के वलीअहेद हैं। चूँकि आप यह बात ज़ाहिर नहीं करना चाहते, लिहाज़ा मैं भी इसे पोशीदा रखते हुए हूँ।"

पुष्यमित्र—"बड़ी कृपा। इस बात के जानने से पहले भी देव का बर्ताव मुझसे बहुत ही अच्छा रहा। इस पितृवत् व्यवहार के पीछे पारितोषिक का प्रश्न तो रह जाता नहीं। परीक्षा के संबंध में अज्ञात भाव से जो याबू मुझे मिल चुका है, वह दश सहस्र पणों से न्यून मूल्य का तो होगा नहीं, तथा मेरे मित्र धाभूतिवाला भी पाँच सहस्र से कम न होगा। वह पुरस्कार विद्यार्थी के रूप में लेने में मैंने कोई आगा-पीछा न किया। अब गुप्तरूपेण प्रकट होने से कैसे क्या लूँ? यदि विचार किया जाय, तो अश्रुत पण मेरे एक वर्ष के प्रारंभिक वेतन से कम नहीं हैं। सेवक मैं पाटलिपुत्र का आज भी समझा जा सकता हूँ। इसके अतिरिक्त यदि कभी कोई सेवा ली जायगी, तो अपने को धन्य समझूँगा। राजसेवक यहाँ का कैसे हो सकता हूँ?"

दंतिदुर्ग—(दो लक्ष पण के मूल्य का माल अपने गले से उतारकर पुष्यमित्र को पहनाते हुए) "बेटों को भी तो वालिद अपनी पसंद के ज़ेवर पहनाते हैं। अब इससे इनकार न करना। मैं हमेशा तुम्हें बेटे के ही बराबर मानूँगा। इस बात का मुझे सख़्त अफ़सोस है कि तुम यहाँ कोई ओहदा मंज़ूर नहीं कर सकते, मगर हालात देखकर मैं भी यह बात ग़ैरमुमकिन समझता हूँ। ताहम इस सल्तनत से आपका हमेशा दोस्ती का बर्ताव रहना चाहिए। तुम तो मेरी पिदराना शफ़क़त मान ही रहे हो; इधर मैं भी तुम्हें हमेशा पिसर के बराबर समझने को तैयार रहूँगा। मैं कोई इनआम नहीं दे रहा हूँ, महज़ शफ़क़ते-पिदरी की बात है।"

पुष्यमित्र—"इससे मैं नाहीं कैसे कर सकता हूँ? शाम से पलट-

[illegible] [illegible] हूं । अभी कोई [illegible] साल मुझे और [illegible] है ।"

[illegible] [illegible] [illegible] बहुत [illegible] है । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

पुष्यमित्र— [illegible] [illegible] महाराजा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] न वह [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हूं ।"

[illegible] [illegible] [illegible] है; बात [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] तुम्हें तालीम [illegible] है ।"

पुष्यमित्र— [illegible] [illegible] मैं बड़ी प्रसन्नता के साथ [illegible] [illegible] हूं ।"

[illegible]— [illegible] [illegible] रहो, हमेशा खुश खुर्रम रहो, यही मेरी दुआ है ।"

(पुष्यमित्र सम्राट् को सादर प्रदक्षिणा करके बाहर जाता है ।)

अष्टम परिच्छेद

दमिश्क (शाम)

अलेक्ज़ेंडर महान् ने ईजिप्ट, ईरान, अफ़ग़ानिस्तान, पंजाब आदि जीतकर यूनान की महत्ता तो बहुत बढ़ाई, किंतु अपने उपार्जित अधिकार को दृढ़ करने का अवसर उन्हें न मिला, और एक भारतीय युद्ध में जो प्रचंड घाव उसके लगा था, वह थोड़े ही दिनों में घातक हो गया। अनंतर उनके सेनापतियों में युद्ध होकर अंत में सल्यूकस निकेटर सीरिया (शाम) की राजधानी दमिश्क में बैठकर सम्राट् हुए। सम्राट् चंद्रगुप्त से हारकर आपने काबुल तक का यूनानी राज्य उन्हें दे दिया, किंतु सम्राट् अशोक के सामरिक शैथिल्य से डेमिट्रियस के पिता ने बल्ख़ को राजधानी बनाकर अपना अधिकार फैलाया। अफ़ग़ानिस्तान (वंक्षु-प्रदेश) से पश्चिम शाम-पर्यंत जितना एशियाई भू-भाग था, वह दमिश्क और बल्ख़ के राज्यों में बँट गया। धीरे-धीरे मथुरा-पर्यंत पंजाब तथा कुछ भाग काश्मीर तक पर बाह्लीक (बल्ख़) का अधिकार फैल गया। ये दोनो राजधानियाँ बड़ी शक्तिशालिनी हुईं। किसी कारण से सल्यूकस निकेटर मार डाला गया, किंतु उसका पुत्र एंटिओकस महान् ही शाम का सम्राट् हुआ। इस काल इसी का वंशधर एक अन्य एंटीओकस ही शाम का सम्राट् है। आपस में मेल दृढ़ होने के विचार से डिमिट्रियस का विवाह इसी एंटियोकस की पुत्री से हो गया। सल्यूकस का शरीरांत २७० ई० पू० में हुआ। सम्राट् एंटियोकस का यह समय ईसा पूर्व २०७ है। उनकी राजधानी में कई सराय हैं, जिनमें विविध प्रकार के लोग स्वभावतः एकत्र होते हैं। आज कई पौर लोग संध्या के

समय एक सराय में बातचीत कर रहे हैं। उनमें से एक भाड़े की गाड़ी चलाता है। उसने कहा।

गाड़ीवाला—"कहो भाइयो! आज कई दिनों बाद हम लोगों की जमाअत इकट्ठी हो सकी है।"

मोची—"क्यों नहीं, दोस्त! काम इतना बढ़ा हुआ है कि फ़ुर्सत ही नहीं मिलती।"

बढ़ई—"यही बात है; हमारे आला हज़रत का इंतज़ाम ही ऐसा क़ाबिल तहसीन है कि शहर की दिन-दूनी रात-चौगुनी तरक़्क़ी हो रही है। लोग कुर्सी, मेज़ वग़ैरह के नए-नए नमूने निकालते हैं, जिससे हम लोगों की रोज़ी अच्छी चलती है।"

दर्ज़ी—"आप ही पर क्या, कपड़ों के भी नए-नए तरीक़े चल रहे हैं। जब से हमारे शहंशाह हिंद से ज़्यादा तअल्लुक़ रखने लगे हैं, तब से इधर के ढंग अपने यहाँ की भी पोशाकों में चलने लगे हैं।"

बावर्ची—खाने भी तरह-तरह के नए-नए पकने लगे हैं।"

बढ़ई—"उसी वजह से होशियार लोगों की क़द्रदानी भी तो अच्छी है।"

दर्ज़ी—"क्यों नहीं, जैसा काम लिया जायगा, वैसी क़द्र भी होगी।"

गाड़ीवाला—"शहर की ऐसी तरक़्क़ी हो रही है कि न-मालूम कितने मुफ़स्सिलात के क़स्बे व देहात ख़ास दमिश्क़ के जुज़ बन गए हैं। रोज़ नई-नई सड़कें निकाली जाती हैं, और उन पर लोग नए क़िमाश के मकानात बनवाते जाते हैं। शहराती ज़मीन की क़ीमत ऐसी बढ़ रही है कि हम लोगों के लिये शायद जगहें मिलनी ही दुश्वार हो जायँ।"

मोची—"यही तो बड़ी दिक़्क़त देख पड़ती है। आमदनी तो बढ़ती जाती है, मगर गरानी इस क़दर तूल पकड़ रही है कि आराम की अशिया, जो पहले थोड़े दामों पर मिलती जाती थीं, अब तरक़्क़ी-ए-आमदनी पर भी दस्तयाब नहीं हो रही हैं।"

बावर्ची—"बात तो ऐसी ही है, दोस्तमन्! देखने-भर को आमदनी बढ़ती है, मगर दर अस्ल आराम कुछ कमी पर समझ पड़ने लगा है।"

गाड़ीवाला—"फिर बाहर के लोग भी ज़्यादा आने-जाते हैं। वे कम-बख़्त ख़र्च भी ख़ूब करते हैं, जिससे गरानी और भी बढ़ रही है। आज-कल पढ़ने की ग़रज़ से दो हिंदुस्तानी तुलबा भी इतनी दूर से आए हैं।"

बढ़ई—"उनमें से एक तो बड़ा ही जवाँ मर्द समझ पड़ता है।"

बावर्ची—"उसकी शाही महलात में भी काफ़ी क़द्र है। जब से आया है, बराबर शहज़ादी साहबा को इस्तेमाल असलहा की तालीम देता है, और जब जाता है, शाही मेज़ पर ही खाने में शरीक रहता है।"

गाड़ीवाला—"दारुलउलूम में भी काफ़ी क़द्र है। जुमला उस्तादों की अज़ीम ख़िदमत करता है, और वे निहायत दिलजोई से उसे सिखलाते हैं।"

बावर्ची—"मुझे तो ऐसा समझ पड़ता है कि शहज़ादी साहबा उससे ख़ुश भी बहुत हैं।"

मोची—"वह तो निहायत नेक शख़्स है। उसके बाबत किसी तरह का शक करना बिलकुल नाज़ेबा है।"

बावर्ची—"शक करता ही कौन है?"

बढ़ई—"यार, हम लोगों से क्या उड़ते हो? मतलब तो आपके कहने का यही था।"

बावर्ची—"ज़ाहिर तरीक़े से तो ऐसी बात कहने का अख़्तियार नहीं है, मगर शक मुझे है ज़रूर।"

दर्ज़ी—"यही तो बात थी, मगर मेरी राय में है बेजा। मैं भी अक्सर महलात में हाज़िर हुआ करता हूँ; दारुलउलूम में भी जाने-आने के मौक़े रहते हैं। ऐसे नेकनीयत शख़्स देखने में नहीं आते।"

गाड़ीवाला—"यही बात है। उधर शहज़ादी साहबा भी किसी

आलिब निगाह उठाकर भी नहीं देखतीं। वज़ीर यूक्रेटिडस उन्हें मायल करने की बहुतेरी कोशिश करते-से नज़र आते हैं, मगर वह खुलकर बात ही नहीं करतीं।"

बावर्ची—"हैं तो बहुत ही कड़वे-कसैले की मालूम। मुझे कुछ यों ही शक-सा हुआ। मुमकिन है, महज़ मामूली मेहरबानी की बात हो।"

मोची—"[illegible] बात होगी; मगर यार! हमारे आला हज़रत वज़ीर यूक्रेटिडस की जितनी ख़ातिर करते हैं, उतनी इनके वालिद की भी नहीं करते थे।"

दर्ज़ी—"भाई, आला तबक़ेवालों की बात मत पूछो; क़द्र तो शहंशाह के दरबार में इतनी है, मगर रियाया पर उसकी निगाह टेढ़ी ही रहती है।"

मोची—"फिर हम लोगों तक से काम लेकर, मज़दूरी छोड़कर इन-आम देने की नौबत नहीं आती।"

बावर्ची—"इनआम की ख़ूब चलाई, यार मेरे! उनसे पूरी मज़दूरी ही कब मिली जाती है? बड़ा ही चिमड़ी, मनहूस व ज़ालिम वज़ीर है।"

गाड़ीवाला—"दो-चार रोज़ हुए, एक दिन मेरी गाड़ी पर शहज़ादी साहबा के साथ शहर की सैर को गए। उतरकर दोनों बाग़ात में भी सब्ज़ाज़ार का लुत्फ़ उठाते रहे, मगर जब पलटकर आए, तब चेहरे का रंग उड़ा हुआ था।"

बावर्ची—"ग़ालिबन् कोई इल्तिजा की होगी, और उन्होंने दुत्कार दिया होगा। पैंतीस साल से कम के न होंगे, और उस बच्ची से शादी के लिये फिरते हैं; शरम भी नहीं लगती।"

गाड़ीवाला—"बादशाह सलामत को इन लोगों को इस क़दर मुँह न लगाना चाहिए।"

बावर्ची—"अरे यार! इनके वालिद ने कई बरतर शाही काफ़ [illegible]यों

किए थे, और इन्होंने भी कुछ लिए हैं। इसी से इनकी मेहरबानी हद से भी ज़ायद रहती है।"

मोची—"यार मेरे! अपने को इन ऊँचे मुआमलों से क्या मतलब? अपना तो मामूली काम चलता जाय, यही बहुत है।"

दर्ज़ी—"और नहीं तो क्या, अब देर भी हो चुकी है, चलना चाहिए।"

मालीवाला—"हाँ भाई! चलो।"

इस प्रकार बात करके ये सब लोग अपने-अपने निवास-स्थानों को चले गए। इधर पुष्यमित्र का संलाप हेलेन और इथ्यूआ से होने लगा—

हेलेन—"विद्यार्थीजी! कहिए, यहाँ आपकी तालीम कैसी चल रही है?"

पुष्यमित्र—"ठीक चलती है, देवीजी! प्रायः एक वर्ष तक्षशिलावाले तथा पर्वतीय अध्यापकों से समर-शास्त्र के दाँव-पेंच सीखे, और एक साल आपके यहाँ अनुभव प्राप्त किया। अब यहाँ केवल ज्ञान-प्राप्ति का अवकाश थोड़ा ही रह गया है। माल कौशल के कारण यहाँ के भी अध्यापक बहुत प्रसन्न हैं, और मेरे अविरत प्रयत्न के कारण भी बहुत मन लगाकर शिक्षा देते हैं। चार-पाँच मास यहाँ बीत भी गए हैं। आशा है, एक ही दो महीनों में भारत को पलट जाने का अवसर आ जायगा।"

इथ्यूआ—"आप तो ऐसी बातें करते हैं, गोया विद्या पढ़ने के इस मामिले में आपको कुछ काम ही नहीं।"

पुष्यमित्र—"देवीजी से मन्तव्य हो ही चुका है; अब क्या बात शेष है?"

हेलेन—"मेरे सवाल का क्या फ़ैसला तय हुआ है? अभी तक तो आपने यही फ़र्माया था कि सोच-समझकर कोई तदबीर निकाली जायगी। क्या इतने ही से आपको इतमीनान हो गया?"

पुष्यमित्र—"मैं तो समझता हूँ कि एक साधारण व्यक्ति के लिये आपको अपने इतने भारी पद के संबंध में विशेष जोखिम न लेनी चाहिए।"

हेलेन—"क्या अब फिर से इनो.ज रो.ज औवल का मामला शुरू हो गया ?"

पुष्यमित्र—"आप श्रीमती इथ्यू.जाजी से विचार-विनिमय कर लीजिए; मुझे कोई आपत्ति नहीं, न प्रेम में कोई न्यूनता है, किंतु आपकी अवस्था देखकर स्वार्थीपन का दोष अपने ऊपर आरोपित-सा हो रहा है।"

इथ्यू.जा—"मुझसे राय ली जा चुकी है; इस मामले में अब शक का सवाल बाक़ी नहीं है। आप टालना छोड़कर आगे बढ़िए।"

पुष्यमित्र—"एक बार फिर से विचार कीजिए । मैं अपना मत बतलाता हूँ, किंतु यह भी प्रार्थना करता जाता हूँ कि आप उसे मानिएगा नहीं।"

हेलेन—"(हँसकर) "पहले राय तो .जाहिर हो, बादह उसके ख़िलाफ़ सलाह दीजिएगा।"

पुष्यमित्र—"अच्छा, सुनिए। यदि आप मुझे यहाँ रखना चाहें, तो बात असंभव है। यदि अपना अधिकार छोड़कर मेरे यहाँ जायँ, तो एकाएकी पूरी हानि सम्मुख है। दोनो के बीच का ही मार्ग संभव समझ पड़ता है।"

हेलेन—"वह क्या है ?"

पुष्यमित्र—"यही कि आप माता-पिता से आज्ञा लेकर प्रति वर्ष चार-छ मास के लिये मथुरा में विराजने का कष्ट उठाइए। वहाँ से आपके भारतीय प्रांतों का प्रबंध भी अच्छा हो सकेगा। मैं भी अपने कामों के संबंध में प्रायः मथुरा आया-जाया करूँगा। इथ्यू.जादेवी का मेरे मित्र धनभूति के साथ विवाह निश्चित हो ही चुका है, जिसके

लिये ककूक्जी की भी स्वीकृति आ चुकी है। प्रयत्न करके इन्हें कान्यकुब्ज-प्रांत का उपरिक (गवर्नर) बनवा दूँगा। वहाँ से आप दोनो को भी मिलने के अवसर मिला करेंगे। अयोध्या अपने यहाँ की द्वितीय राजधानी है ही, और कान्यकुब्ज भी एक प्राचीन अथच महत्त्व-पूर्ण स्थान है। उसकी महत्ता कुछ और भी बढ़ जायगी। यही युक्ति ध्यान में आती है।"

हेलेन—"समझ तो ठीक पड़ती है; इसे अम्मीजान भी शायद पसंद फ़र्मावें। ख़राबी इसमें क्या समझते हो?"

पुष्यमित्र—"दोष संदेह का है; अपनी राजधानी बल्ख़-बुख़ारे से इतना पूरब हट जाने से संभवतः यवन-प्रांतों पर आपका अधिकार कुछ शिथिल पड़ जाय।"

हेलेन—"इसका इंतिज़ाम आसानी से मुम्किन है। मुझे तो यह राय निहायत सायब नज़र आती है।"

इथ्यूज़ा—"है तो ठीक। इतना और समझना चाहिए कि जैसे आपके दोस्त आपका साथ नहीं छोड़ते, वैसे ही मैं भी इनका नहीं छोड़ सकती। अगर होंगी, तो शादियाँ दोनो साथ ही होंगी।"

पुष्यमित्र—"यह तो उचित है, किंतु विचार कर लीजिए; मुझे इसमें अपनी स्वार्थपरता तथा भवदीय हानि की संभावना समझ पड़ती है।"

हेलेन—"अपने इन ख़यालात को अपने ही तक रखने की मेहरबानी कीजिए।"

पुष्यमित्र—"जैसी आज्ञा। आशा है, मेरी रानी किसी प्रकार स्वीकृति दे देंगी, वह भी प्रेम-पूर्ण।"

हेलेन—"इन्हें ख़ुश कर लेना मेरा काम होगा। हाँ, एक शिकायत भी करनी है कि जनाब ने जनाब के हाथ से तो सिर्फ़ दोलखा हार मंज़ूर कर लिया, मगर मेरा नौलखा न लिया। यह क्या बात है?"

पुष्यमित्र—"आप ही के व्यवहार के कारण जब वह मेरे भी पितृवत् हो गए, तब उनका दिया हुआ तारहार कैसे फेरा जा सकता था ? इधर आपका कैसे लेता ? आप थीं ही कौन ? उन्होंने तो कुछ काम भी किए थे ।"

हेलेन—"यह सवाल बहुत बढ़िया है । क्या मेरा काम नहीं किया ?"

पुष्यमित्र—"यदि अच्छा का नाता छोड़ दूँ, तो भी आज्ञा-रक्षा के पुरस्कार में जब एक सम्राट् कुछ दे, तो उसका फेरना अपमान है ही । अन्नदाता के हाथ से एक कौड़ी से लेकर लाखों-करोड़ों तक वह जो दे, उसे फेरने का मुझे अधिकार ही शेष नहीं ।"

हेलेन—"मेरा भी तो काम किया था ?"

पुष्यमित्र—"किया कुछ न था, वरन् करने की आज्ञा-भर थी । तो भी तीन-चार मास का पारिश्रमिक तो लाख नहीं हो सकता । युवराज्ञी के शिक्षण का वेतन यदि लेता भी, तो उनसे मिलना था न कि आपसे ।"

हेलेन—"युवराज्ञी तो मैं ही थी ।"

पुष्यमित्र—"आप शिक्षण कब चाहती थीं ? वह तो एक बहाना-भर था । मुख्य बात और ही थी ।"

हेलेन—"अच्छा, मैं आशिका थी ।"

पुष्यमित्र—"और मैं ?"

हेलेन—"तुम थे माशूक ।"

पुष्यमित्र—"तो क्या मेरा प्रेम मोल लिया जा रहा था ? वह तो प्रेम से ही मिल सकता था, धनादि से नहीं । फिर प्रेमी तो मैं था, और हूँ । आप तो निर्मोही हैं ।"

हेलेन—"ऐसे ही नखरे कर-करके तो माशूकाओं को आशिक रिझाते होंगे । तुमसे अरज करते-करते ज़बान घिस गई, तब तो राज़ी हुए, और बने आशिक ही हैं ।"

पुष्यमित्र—"चाटुकारिता किसने कराई ? मैं तो पहले ही दिन से

आपे से बाहर था, केवल स्वार्थपरता के प्रतिकूल तथा आपकी हानि बचाने पर भी ध्यान थ; क्या मूर्खा बनाकर प्रेयसी को लूट लेता, तब सच्चा प्रेमी कहलाता ?"

हेलेन—"मेहरबानमन ! सादिक़ इश्क़ में सिवा माशूक़ा पाने के इंसान दूसरा ख़याल ही नहीं कर सकता।"

पुष्यमित्र—"क्षमा कीजिएगा, ऐसा मनुष्य प्रेमी न होकर डाकू होगा।"

हेलेन—"आप हैं बड़े सयाने, बातों में मैं कभी न जीतूँगी।"

पुष्यमित्र—"अच्छा, आप ही जीतीं सही, मुझे कोई हठ आपसे क्या हो सकता है ?"

इस प्रकार बात करके युवराज्ञी इथ्यूज़ा के साथ महलों को पधारीं। यहाँ एकांत में उनसे यों कथनोपकथन होने लगे—

हेलेन—"सुनती हो, बहन ! यह मनहूस यूकेटिडस मेरे पीछे बहुत फिरा करता है। इसे एक दिन ख़ूब छिकाना होगा।"

इथ्यूज़ा—"हुज़ूर, सख़्त बेवकूफ़ व पाजी है। ऐसा चिमड़ा है कि मज़दूरों तक को पूरी मज़दूरी नहीं देता। इसकी बीबी काफ़ी ख़ूबसूरत व नेक तीनत है, मगर चूँकि मिज़ाज में कुछ मामूली सख़ावत है, लिहाज़ा यह उस बेचारी को फूटी आँख से भी नहीं देख सकता।"

हेलेन—"ओहओह, ऐसा गया-बीता है !"

इथ्यूज़ा—"और नहीं तो क्या ? सूरत तो बनी हुई है लंगूर की, मगर ख़ूबसूरती का आप दम भरते हैं। मुँह मत्थे से कम-से-कम दो अंगुल आगे निकला हुआ होगा। पचास गज़ पर खड़े हुए हाथी पर भी तीर लग नहीं सकता, मगर ग़ुर्रा है निशानेबाज़ी का।"

हेलेन—"मुझे तो उस नालायक़ की सूरत से नफ़रत है, मगर कभी मज़ा आता है।"

अनंतर यूकेटिडस महोदय एक दिन इथ्यूज़ाबानू को एकांत में पाकर यों बात करने लगे—

यूक्रेटिडस—"मिस साहबा! मुझे मौक़े से आपकी ख़िदमत में एक मुद्दआ पेश करना है।"

इथ्यूज़ा—"ज़िहेक़िस्मत, वज़ीर साहब! मुझ नाचीज़ से आपको कौन काम आ पड़ा?"

यूक्रेटिडस—"आपकी वलीअहेद साहबा के निस्बत अगर कोई गुफ़्तगू करूँ, तो जनाब नाशाद तो न होंगी?"

इथ्यूज़ा—"भला, नाराज़ी की कौन-सी बात है? वज़ीर साहब! मैं तो ख़ुद मौक़े से इस मसले को जनाब से छेड़ना चाहती थी।"

यूक्रेटिडस—"ग़ैर इनायत है। साफ़-साफ़ अर्ज़ करता हूँ कि अगर आपकी सिफ़ारिश में कहीं मेरी मुद्दआबरारी हो गई, तो मुआफ़ कीजिएगा, मैं आपको मालामाल कर दूँगा।"

इथ्यूज़ा—"जब जनाब ने इस सिदाक़त से गुफ़्तगू शुरू की है, तो मैं भी साफ़-ही-साफ़ गुज़ारिश करती हूँ कि मेरी अर्ज़दाश्त का ज़्यादा असर तो उन पर पड़ नहीं सकता, मगर मौक़े से बात कही जाने से अक्सर मुअस्सर भी हो जाती है, ख़ासकर ऐसी सूरत में, जब वह ख़ुद आपकी ख़ूबसूरती की मुझसे दो-चार मर्तबा तारीफ़ कर चुकी हैं।"

यूक्रेटिडस—"अच्छा, यहाँ तक मामला पहुँच चुका है क्या? तब तो एक तरीक़े से आपका काम सहल हो गया है। मैं अभी से अर्ज़ किए देता हूँ कि सल्तनत-बल्ख़ से मिला हुआ शाम का एक ज़िले-का-ज़िला आपको जागीर में दिला दूँगा। है बात ठीक या नहीं?"

इथ्यूज़ा—"है तो दुरुस्त, मगर बशर्ते कामयाबी आपसे एक उसी से मुलहिक़ ज़िला बल्ख़ का भी लूँगी।"

यूक्रेटिडस—"मंज़ूर है, मिस साहबा! अब जनाब कोशिश दिलोजान से करें।"

इथ्यूज़ा—"इसमें कहने की क्या ज़रूरत है? अब तो यह मेरा ही काम हो गया है।"

यूक्रेटिडस—"समझदारी की तो यही बात है। अच्छा, एक अम्र यह दरियाफ़्त करना है कि आपकी मलिका का मुअल्लिम जो एक हिंदुस्तानी है, उसका क्या हाल है? ज़ाहिरा तो उस पर मेहरबानी अज़हद समझ पड़ती है।"

इथ्यूज़ा—"वह हिंदुस्तान का एक मामूली जागीरदार है। रुतबा तो उसका कुछ है नहीं, मगर फ़ने-अस्लहा व ख़ूबसूरती में एकता है। उसने कारे-मुअल्लिमी के अलावा कभी कोई बात भी न की, उसे इन बातों की तमीज़ समझ पड़ती है। ताहम एक बार वलीअहेद साहबा का ख़याल उसकी तरफ़ मायल-सा होता हुआ मालूम पड़ा था। अपनी ज़बान से तो उन्होंने कुछ फ़र्माया नहीं, मगर तरीक़े से मुझे समझ ऐसा ज़रूर पड़ा।"

यूक्रेटिडस—"मिज़ाज बड़ा गहरा मालूम होता है?"

इथ्यूज़ा—"इतना गहरा है कि उसे तक इसका पता न पड़ा। मगर एक बार तलवार का काम सिखलाने में उसकी तेग़ टूटकर दो टुकड़े हो गई। उसी दिन से न-मालूम क्यों वह भी उनके मिज़ाज से उतर-सा गया। उसे इसका भी कुछ पता नहीं; सिर्फ़ मैं तरीक़ों से ऐसा भाँपती हूँ। यक़ीनन् मैं भी कुछ नहीं कह सकती। मुम्किन है, मेरा पूरा ख़याल ग़लत हो।"

यूक्रेटिडस—"ख़ातिर तो उसकी बहुत है।"

इथ्यूज़ा—"उनका मिज़ाज ही ऐसा है। जिससे कोई बड़ा काम लेती हैं, उसी की इतनी ख़ातिर होती है कि देखनेवाले दंग रह जाते हैं।"

यूक्रेटिडस—"यह बात है? अच्छा, कभी मौक़े से गुफ़्तगू कराइगा।"

इथ्यूज़ा—"ज़रूर।"

अनंतर एक दिन हेलेन तथा इथ्यूज़ा को अकेले पाकर यूक्रेटिडस ने अपनी बात छेड़ी—

यूक्रेटिडस—"वलीअहद साहबा! मैं हुजूर की खिदमत में अर्से से कुछ अर्ज़ करना चाहता था। अगर नागवार खातिर न हो, तो कहूँ?"

हेलेन—"वज़ीर साहब! आप जब जो चाहें, खुशी से फ़र्मा सकते हैं।"

यूक्रेटिडस—"वक़्त तो आपके पास होगा?"

हेलेन—"हुज़ूरे अब्बा के वज़ीरे आज़म के लिये भी अगर वक़्त न होगा, तो होगा किसके लिये?"

यूक्रेटिडस—"ऐन इनायत है, शाहज़ादी साहबा! अगर कोई सवालात हुज़ूर से पूछे जायँ, तो बदतमीज़ी का गुमान शायद न किया जाय।"

हेलेन—"अगर हुज़ूरे अब्बा का वज़ीरे आज़म भी बदतमीज़ होगा, तो तमीज़दारी किसमें समझी जायगी? आप बेखौफ़ होकर इस्तेफ़सार फ़र्माइए।"

यूक्रेटिडस—"अगर बातों-बातों में कोई ऐसा सवाल निकल पड़े, जिसमें कोई राज़दारी निहाँ हो, तो?"

हेलेन—"तो भी कोई बात नहीं। जिस शाह के वज़ीर भी राज़दार न होंगे, वह सलाह किससे लेगा? वज़रा से राज़ पोशीदा रखना भला कौन-सी अक़्लमंदी है?"

यूक्रेटिडस—"ऐन इनायत हुई, वलीअहद साहबा! अब मालूम हुआ कि फ़ने-हुकूमत में भी हुज़ूर को काफ़ी तजुर्बा है।"

हेलेन—"मुझे उमूरे मुम्लिकत में तजुर्बा तो नहीं है, मगर अब्बा-जान मुताहिद बातें बतलाया करते हैं, और वज़रा से गुफ़्तगू-ए-उमूर सल्तनत पर करने के भी मौक़े देना पसंद फ़र्माते हैं, इसलिये दो-चार मोटी-मोटी बातें मालूम हो गई हैं।"

यूक्रेटिडस—"अच्छा, तो कुसूरों के लिये पहले ही से मुआफ़ी माँगकर अर्ज़ करता हूँ।"

हेलेन—"ऊफ़् फ़र्माइए। इतनी तमहीद की क्या ज़रूरत थी ?"

यूक्रेटिडस—"अच्छा, तो एक बात यह दरियाफ़्त करना चाहता हूँ कि शाहज़ादियों की शादी के सिलसिले में हुज़ूरे आलिया के क्या ख़यालात हैं, बिलख़ुसूस यूनानियों में ?"

हेलेन—"यह तो, वज़ीर साहब। ज़रा टेढ़ा-सा सवाल है। इस पर मैंने ज़्यादा ग़ौर तो किया नहीं, फिर भी आपके इस्तेफ़सार पर कुछ कहना ज़रूरी है, क्योंकि बग़ैर बिना ग़ौर कामिल किए हुए कोई [illegible] है।"

यूक्रेटिडस—"जी, इस क़दर दूरंदेशी पर तो मेरा मंशा [illegible] है नहीं, मगर हुज़ूर अगर कुछ फ़र्माना मुनासिब तसौवर करें, तो ख़ुशी-ख़ास्ती होगी।"

हेलेन—"इस मामले में मामूली शहज़ादियों को बहुत कुछ ख़ुदमुख़्तार होना चाहिए, मगर वलीअहद शहज़ादियों की शादी का असर कमोबेश रिआया पर भी पड़ता है, लिहाज़ा उन्हें बहुत कुछ ग़ौर की ज़रूरत है।"

इथ्यूज़ा—"आजकल यहाँ आला तबक़े की यूनानी रियासतें दो ही हैं, जिनमें कोई शहज़ादा है नहीं। पस, शहज़ादियों को दीगरों पर निगाह डालनी पड़ेगी। कोई वलीअहद शहज़ादी जिस आला-ख़ानदान शख़्स के साथ शादी करनी चाहे, उसका रुतबा बढ़ ही जायगा।"

यूक्रेटिडस—"यही तो बात है।"

हेलेन—"ऐसी सूरत में सिर्फ़ ज़ाती पसंदीदगी और शौहर में तजुर्बे हुक्मरानी के मयार रह जाते हैं।"

यूक्रेटिडस—"पसंदीदगी के ख़याल से तो मैं उस हिंदुस्तानी मर्द आदमी को भी अच्छा समझता हूँ, जो हुज़ूर को असलहा का काम सिखलाते हैं।"

इथ्यूज़ा—"अव्वल तो वह बाहर के एक मामूली जागीरदार हैं, दोयमश ख़ूबसूरती में भी हुज़ूर आलिया के ख़यालात दीगरों से कम मिलते हैं।"

यूक्रेटिडस—"यह कुछ तअज्जुब की बात है। लोग उन्हें अच्छा शकील समझते हैं, बल्कि कुछ अशख़ास उन पर हुज़ूर की इनायत का भी ख़याल करते हैं। अगर मेरे किसी सवाल में गुस्ताख़ी हो, तो मैं इन्हें बंद कर दूँ।"

हेलेन—"कोई गुस्ताख़ी वग़ैरह आपकी बातों में नहीं है। वज़ीरा का यह फ़र्ज़ ही है कि जो नेक व बद बात सुनी जाय, वह रूबरू मालिक के पेश कर दें, जिससे आइंदा के लिये आगाही व तरीक़ों में दुरुस्ती हो जाय।"

यूक्रेटिडस—"यही बात थी, शहज़ादी साहबा! आप ग़ज़ब की समझ रखती हैं।"

हेलेन—"मैंने अपने मुअल्लिम की इज़्ज़त हमेशा की, और अब भी करती हूँ, मगर पसंदीदगी के ख़याल से नहीं।"

इथ्यूज़ा—"मेरी राय में वज़ीर साहब ख़ुद ग़ज़ब के ख़ूबसूरत हैं। आप इन्हें कैसा ख़याल फ़र्मातीं हैं? आपको ज़रा उभड़ा मुँह पसंद आता है, जो बात यहाँ मौजूद ही है।"

हेलेन—"बात यह है, वज़ीर साहब! मेरी राय इस मामले में ज़्यादातर लोगों से नहीं मिलती : जैसा कि इथ्यूज़ाबानू का कहना है, मर्दों की ख़ूबसूरती में चेहरे-मोहरे की सूरत मुझे आप ही की-सी बहुत पसंद है। मैं आपके निस्बत महीने-दो महीनों से ग़ौर कर रही हूँ, मगर कुछ बातें और जानने की ज़रूरत रह गई है। सूरत-शकल तो माशाअल्ला से निहायत दर्जा क़ाबिल पसंदीदगी है। ऐसा ख़ूबसूरत, उभड़ा हुआ चेहरा मैंने कहीं देखा ही नहीं।"

इथ्यूज़ा—"यही तो मैं भी समझती थी।"

यूक्रेटिडस—"अहा, मैं क्या सुन रहा हूँ? मैंने तो समझा था, हुज़ूर इन सवालात पर हनोज़ ग़ौर ही नहीं फ़र्मातीं। अब जाकर कलेजा ठंडा हुआ। अगर यह किसी तरह से समझ पाता कि हुज़ूर की ऐसी नेक

नज़र इस नाचीज़ पर है, तो न-मालूम कब का यह मुद्दआ अर्ज़ कर चुका होता। मगर जो चंद बातों के जानने की ज़रूरत समझी जाती है, वे भी मालूम हो जायँ, तो इत्तलइम्काल ज़ाहिर करने की कोशिश हो। क्या मैं जान सकता हूँ कि वे क्या हैं ?"

हेलेन—"सबसे पहला यही ख़याल है कि आप एक नेक व ख़ूबसूरत ख़ातून से मंसूब हैं, और क़रीब दस साल का एक साहबज़ादा भी उनके मौजूद है।"

इय्यूज़ा—"क्या हुज़ूर को मालूम नहीं कि उनसे वज़ीर साहब की ज़माना बिसियार से नहीं बनती है ?"

यूक्रेटिडस—"मैं तो यहाँ तक अर्ज़ करता हूँ कि जिस दिन हुक्म हो जायगा, उसी दिन उन्हें तलाक़ दे दूँगा। महज़ कहने-भर को हम लोग ज़नो शू हैं।"

हेलेन—"आख़िर वजह इस नाचाक़ी की क्या है ?"

इय्यूज़ा—"सख़ावत व शुजाअत तो हमारे वज़ीर साहब में कूट-कूटकर भरी हुई हैं, मगर वज़ीर भी तो हैं; इंतिज़ाम करना ही पड़ता है। उधर आपकी बीबी साहबा का हाथ ख़र्च में रुकता ही नहीं। यही ख़ास वजह है।"

हेलेन—"यह बात है; सख़ावत व इंतिज़ाम में फ़र्क़ ज़रूर है।"

यूक्रेटिडस—"यही बात है, वलीअहेद साहबा ! उनको घर सूझ ही नहीं पड़ता, ग़ैरों ही की ज़रूरियात नज़र आती हैं। कहाँ तक बरदाश्त किया जाय ?"

इय्यूज़ा—"बात भी निहायत सायब है।"

हेलेन—"मैंने भी एक दिन एक गाड़ीवाले को किराए के निस्बत वज़ीर साहब के पास से रोते हुए जाते देखा था।"

इय्यूज़ा—"वही इंतिज़ामी सवाल है। हैं तो आप पर्ले दर्ज़े के सख़ी,

मगर क्या करें ? बेचारे फ़रायज़ विज़ारत की वजह से दिल मसोसकर रह जाते हैं।"

हेलेन—"बात भी निहायत माक़ूल है। अगर आपके साथ निस्बत हो जाय, तो शायद आइंदा के लिये ज़ाती ख़र्चवाले वज़ीर का ओहदा तोड़ देने से अलावा बचत सर्फ़ों के तनख़्वाह का ख़र्चा भी बच जाय।"

इथ्यूज़ा—"ऐसे ही नुक़्तए नज़रों से तो शाहान को इंतिज़ामात पर ग़ौर करना चाहिए।"

यूक्रेटिडस—"मैं निहायत ममनून व मश्कूर हुआ। हुज़ूर की अक़्ल उम्दगी इंतिज़ाम पर पहुँचती भी ख़ूब है।"

हेलेन—"सुना गया है कि निशानेबाज़ी में भी आप एकता हैं।"

इथ्यूज़ा—"इसमें क्या शक है ?"

यूक्रेटिडस—"सिर्फ़ तीर-कमान के इस्तेमाल में कभी-कभी हाथ बहक जाता है।"

हेलेन—"यही तो मेरा भी ख़याल था। एक दिन मैंने देखा कि आपका तीर पचास गज़ के फ़ासले पर एक हाथी के न लगा।"

इथ्यूज़ा—"यह क्या फ़र्माना होता है ? उस दिन भी इंतिज़ामी मामले का सवाल था। एक बढ़िया हाथी क्यों ज़ख़्मी किया जाता ? लोगों की ज़िद पर तीर तो चला दिया, मगर चीज़ का भी नुक़सान न किया।"

यूक्रेटिडस—"यही बात थी। यों तो शिकार खेलता ही हूँ।"

हेलेन—"आपकी शुजाअत की मैंने बहुत तारीफ़ सुनी है।"

यूक्रेटिडस—"निहायत मेहरबानी हुई, शहज़ादी साहबा ! मैं जानना चाहूँगा कि क्या कोई और बात भी क़ाबिल दरियाफ़्त के बाक़ी है ? मैं आज का दिन बहुत मुतबर्रिक समझता हूँ कि मेरे निस्बत हुज़ूर के ऐसे बेशक़ीमत ख़यालात ज़ाहिर हुए।"

हेलेन—"ख़ास बात यह है कि मैं अपने होनेवाले शौहर से

कुछ चाहती तो हूँ नहीं, महज़ लियाक़त व तजुर्बेकारी का सवाल बाक़ी रह जाता है। दीगर औसाफ़ तो आपमें पूरे-पूरे पाती हूँ, यानें ख़ूबसूरती, बहादुरी, सलावत, ख़ुदफ़हमी वग़ैरह। अब उन्हीं दो अमूर पर ग़ौर रह जाता है। हैं ये भी आपमें ज़रूर, मगर अपनी ग़लती से तजुर्बे की कुछ कमी समझ पड़ती है।''

यूक्रेटिडस—''यह तो कुछ तअज्जुब-आमेज़ ख़याल होगा। मतलब हुज़ूर का क्या है?''

इथ्यूज़ा—''मलिका साहबा का शायद यह मतलब है कि अभी तो आपकी उम्र क़रीब ३५ साल की होगी। है न यही बात?''

यूक्रेटिडस—''ज़रूर; अब मुझे एक महीने के अंदर ही ३६वाँ साल लगेगा। उधर हुज़ूर तो अभी अट्ठारहवें ही साल में होंगी?''

हेलेन—''जी नहीं, अभी मुझे १७वाँ साल पूरा करने में दो महीने बाक़ी हैं।''

यूक्रेटिडस—''ऐसी सूरत में हुज़ूर के लिये मेरी उम्र चाहे कुछ ज़्यादा ही समझी जाय, कम नहीं मानी जा सकती।''

हेलेन—''आम तौर से तो यही बात है, मगर मैं तजुर्बे को ज़्यादा अहमियत देती हूँ, इसलिये मुझे पचास साल से कम का शख़्स अपने लिये पसंद नहीं आता। मामूलन् देखने में तो ग़लती तसौवर की जा सकती है, मगर अपने ख़यालात से मजबूर हूँ।''

यूक्रेटिडस—''मुझे तो यह ख़याल सिर्फ़ मज़हका-आमेज़ समझ पड़ता है।''

हेलेन—मामूली ख़यालात पर जाने से आपका भी इरादा ऐसा ही माना जा सकता है, मगर मैं लियाक़त व तजुर्बे पर जान देती हूँ।''

यूक्रेटिडस—''ख़ैर, फिर कभी मौक़े से अर्ज़ करूँगा।''

इस प्रकार महामंत्री से बात करके उनके चले जाने पर जब युवराज्ञी

तथा इथ्यूज़ा बानू ही वहाँ रह गईं, तब हँसते-हँसते दोनो के पेटों में बल पड़ गए।

इथ्यूज़ा—"यह मुआ वज़ीरे आज़म होकर इतनी भी अक़्ल नहीं रखता कि ऐसे बुड्डे खूसट को कोई शहज़ादी फूटी आँख से भी देख सकेगी?"

हेलेन—"है निहायत निकम्मा, बेवकूफ़ व बुरा शख़्स। एक बाअसमत बीबी को छोड़कर महज़ सल्तनत के ख़याल से दूसरी से कोशाँ व जोशाँ है। नालायक़, नमकहराम कहीं का; इतना भी नहीं सोचता कि मेहरबान मालिक की नवासी से क्या ऐसा ही बर्ताव करना चाहिए?"

इथ्यूज़ा—"और नहीं तो क्या?"

हेलेन—"अच्छा, बहन! तुमसे पूछती हूँ कि मेरी शादी के लिये तुम अपनी क्यों रोके हुए हो? मुझे इसमें क्या राहत मिलेगी?"

इथ्यूज़ा—"अगर मैं भी समझूँ कि मुझसे आपको कोई राहत नहीं, तो अपनी आराम का दिन क्यों रोकूँ?"

हेलेन—"अब आपकी दलील से मैं लाजवाब हो गई।"

इथ्यूज़ा—"हमेशा ख़ुदग़र्ज़ी पर ही नहीं चला जाता है। मालिक का भी तो ख़याल किया जाता है। अच्छा, एक बात और अर्ज़ करनी थी।"

हेलेन—"वह क्या?"

इथ्यूज़ा—"जनाब मित्तर साहब ने अर्ज़ की है कि अगर हुक्म हो, तो एक-दो महीनों के अंदर मक़दूनिया व ऐथेंस देख आवें, और वहाँ के भी फ़ने-जंग का कुछ इल्म हासिल कर लें।"

हेलेन—"बात तो ठीक है; वहाँ हम लोगों का तो जाना मुनासिब न होगा। वे ही दोनो दोस्त जायँगे।"

इथ्यूज़ा—"यही बात है। वहाँ अपने जाने से बदनामी मुम्किन है। यहाँ फिर नानिहाल है।"

हेलेन—"तब फिर उनसे कह दो कि हम लोगों को कोई एतराज़ नहीं।"

इधर की बातें इस प्रकार चल रही थीं, और उधर पुष्यमित्र ने दमिश्क़ की भी पूरी युद्ध-विद्या का ज्ञान इन पाँच-छ महीनों में प्राप्त कर लिया। यहाँ के भी सारे अस्त्र-गुरु इनसे बहुत प्रसन्न रहे। अनंतर यह मक़दूनिया आदि जाने का विचार ही पुष्ट कर रहे थे कि एक दिन यूक्रेटिडस महोदय ने उपवन-भ्रमण के बहाने इन्हें एकांत में ले जाकर कहा।

यूक्रेटिडस—"जनाब तालिबेइल्म साहब! आपकी ख़ातिर तो हमारी रियासत में काफ़ी हो रही है; मगर अब मुझे कुछ शक भी पैदा हो रहा है।"

पुष्यमित्र—"आप मेरी भाषा भली भाँति समझ सकेंगे क्या?"

यूक्रेटिडस—"समझ ज़रूर लेता हूँ, हालाँकि बोल नहीं सकता। आप बेखटके फ़र्माइए; कोई दिक़्क़त न होगी।"

पुष्यमित्र—"तब फिर आज्ञा कीजिए कि आपको क्या संदेह है?"

यूक्रेटिडस—"जनाब, हेलेन के चाहनेवाले दुनिया में दो नहीं रह सकते। मुझे महज़ आपकी वजह से नाकामयाबी हो रही है।"

पुष्यमित्र—"यह विचार आपका कैसे जमा? मैं तो उनका अस्त्र-शिक्षक-मात्र हूँ।"

यूक्रेटिडस—"मुझे, जनाब! लौंडा न बनाइए। मैं भी दुनिया के नशेब व फ़राज़ बहुत देखे बैठा हूँ। ऐसी बातों पर यक़ीन लानेवाले कोई दूसरे उल्लू होंगे।"

पुष्यमित्र—"तब मुझसे क्या चाहते हैं?"

यूक्रेटिडस—"ढाल-तलवार पकड़िए। इसी वक़्त हमारा-आपका फ़ैसला हो जाय। हम दोनों में से एक ही इस बाग़ के बाहर जायगा।"

पुष्यमित्र—"इस प्रकार की स्वीकृति में मुझे अणु-मात्र असमंजस नहीं है; किंतु निष्कारण मैं किसी का प्राण क्यों लूँ ? मैं तो अब दो ही तीन महीनों में यहाँ तथा बलख-राज्य से बाहर होकर भारत पलटना चाहता हूँ। मुझको आपसे क्या शत्रुता है कि अस्त्र उठाऊँ ? आप युवराज्ञी महोदया से प्रसन्नता-पूर्वक विवाह कीजिए। मैं बीच में पड़नेवाला नहीं। मैं तो एक साधारण मंडलेश्वर हूँ। इधर आप लोग उच्चकक्षा के महापुरुष हैं। मैं आपके बीच में क्यों पड़ूँ ?"

यूक्रेटिडस—"क्या मैंने सख़्त ग़लती की ? शाहज़ादी साहबा भी ऐसा ही फ़र्माती थीं। फिर मेरी जानिब से बेरुख़ी का क्या सबब है ? समझ में नहीं आता।"

पुष्यमित्र—"मैं एक साधारण कक्षा का भारतीय हूँ। भला, यवन-देश के उच्च विचारों का भेद क्या जान सकता हूँ ? मैं तो आपको सर्वगुण-संपन्न समझता हूँ, किंतु उसके मन की बात क्या जानूँ ?"

यूक्रेटिडस—"अब जनाब क्या करेंगे ?"

पुष्यमित्र—"मैं तो आज ही कल में दो मास के लिये मक्दूनिया तथा एथेंस जा रहा हूँ। आपके राज्य से आज्ञा-पत्र भी प्राप्त कर चुका हूँ।"

यूक्रेटिडस—"और शाहज़ादी साहबा कहाँ रहेंगी ?"

पुष्यमित्र—"उनका प्रोग्राम मैं क्या जान सकता हूँ ? यहीं रहें, चाहे बलख चली जायँ।"

यूक्रेटिडस—"तो क्या मेरी बदगुमानी बिलकुल बेबुनियाद थी ?"

पुष्यमित्र—"राजनीति-विशारदों को उचितानुचित संदेह हुआ ही करते हैं, इसमें कोई पश्चात्ताप की बात नहीं।"

यूक्रेटिडस—"तो मेरी ग़लती मुआफ़ फ़र्माइएगा, तालिबेइल्म साहब !"

पुष्यमित्र—"यह आप क्या कहते हैं ? वज़ीर साहब ! मैं वस्तु

ही क्या हूँ, जो आपके सामने खड़ा हूँ। मैं तो एक साधारण विद्यार्थी-मात्र हूँ।"

इस प्रकार बात करके ये दोनो अपनी-अपनी ओर चले गए। यूक्रेटिडस महोदय ने युवराज्ञी के सम्मुख दो-तीन बार फिर प्रयत्न किया, किंतु कोई फल न निकला। इथ्यूज़ा ने भी इनसे एक बार मिलकर अपनी असफलता पर शोक प्रकट किया। अनंतर पुष्यमित्र तो उधर सक्कंदूमिया पधारे, और युवराज्ञी बलख़ वापस चली गईं।

नवम परिच्छेद

कलिंग-नगर

कलिंग का राज्य प्राचीन काल से न्यूनाधिक महत्ता-युक्त था। सम्राट् अशोक ने अपने आदिम सबल काल (२६१ ई० पू०) में जब कलिंग पर आक्रमण किया, तब पराजित होकर भी इसने प्रचंड संग्राम अवश्य किया था, जिसमें एक लक्ष कालिंग सेना काम आई थी। अनंतर उस प्रियदर्शी सम्राट् ने इस पर अपना अधिकार स्वेच्छा-पूर्वक शायद कुछ शिथिल कर दिया, जिससे यहाँ के राज्य-वंश का बल नितांत लुप्त न हुआ, और प्रसिद्ध महाराज खारवेल ने जब २९५ नंद-संवत् (२१२ ई० पू०) में, १५ वर्ष की अवस्था में, गद्दी पाई, तब उनके सुप्रबंध में इसका प्रभाव दिनोंदिन बढ़ चला, यहाँ तक कि इसने अति शीघ्र साम्राज्य का रूप धारण किया। नगर का प्रसार भी शीघ्रता-पूर्वक बढ़ा। इसमें अनेकानेक धर्मशाले, न्यायालय आदि स्थापित हो गए। वहाँ उचित समयों पर लोग भी एकत्र होकर प्रेम-पूर्ण गोष्ठियाँ बनाते थे। धर्मशालाओं में लोग निःशुल्क रहर सकते थे, तथा सधन लोगों के लिये सशुल्क विशिष्ट प्रबंध भी होते थे, जिसके अर्थ एक प्रबंधक नियत रहता था। धर्मशाला का कार-बार उन्हीं के द्वारा चलता था। आज संध्या को कई नागरिक उन्हीं के पास एक सघन-रसाल वृक्ष के नीचे एकत्र होकर वार्तालाप कर रहे हैं।

प्रबंधक—"मित्रो! आजकल अपने नगर की कैसी अपूर्व उन्नति हो रही है? देखिए, मारे भीड़ के धर्मशाले में स्थान ही नहीं मिलता।"

एक वैश्य—"क्यों नहीं, मित्रवर! यही बात है। बड़े महाराज के समय से ही न्यूनाधिक रंगत खिलने लगी थी, तथापि अब और ही बात है। कितना सुंदर और प्रशस्त उपवन बनवाया जा चुका है कि देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता है। सारे नागरिकों को एक इसी से क्या कम आनंद मिलता है?"

कमठाने का कायस्थ—"लगे भी तो उसमें लाखों रजत-पण थे।"

वैश्य—"यह तो है ही, जितना गुड़ डालोगे, वैसी ही मिठास आवेगी।"

एक क्षत्रिय—"फिर देखिए, खिबिर-सागर से नगर को कैसी दीप्ति मिलती है? नेवारा खेलने, नहाने, धोने आदि के अतिरिक्त सेतु (सिंचाई) का भी काम चलता है।"

कमठाने का कायस्थ—"लगे भी तो उसमें पैंतीस लक्ष पण थे। उसी भाँति ७१ लाख लगाकर कैसे बढ़िया रत्न-जटित चार स्तंभ बनवाए गए हैं?"

क्षत्रिय—"तुम्हें तो भाई पणों का ही लेखा सूझता है।"

कमठाने का कायस्थ—"सूझे क्यों न? लिखते-लिखते लेखनी भी तो घिस जाती है। व्यय का लेखा छोड़कर भी सौंदर्य कैसा अमौलिक है?"

एक ब्राह्मण—"वही तो दर्शनीय है।"

एक प्राड्विवाक का कायस्थ—"फिर कुल्या (नहर) कैसी अच्छी बनी हैं कि जितने जानपद हमारे यहाँ आते हैं, वे इन्हीं की प्रशंसा करते रहते हैं।"

वैश्य—"करें क्यों न? धान्य की उपज उस प्रांत में दूनी हो गई है, और कितनी ही बिना जोती हुई भूमि जुतने लगी है।"

क्षत्रिय—"फिर देखिए, भाइयो! महाविजय-प्रासाद कितना बढ़िया बना है कि आँख जिधर जाती है, उधर ही की हो रहती है।"

वैश्य—"अवश्य, बड़ा ही सुंदर प्रासाद है।"

ब्राह्मण—"इसी के साथ यज्ञ भी कितना सांगोपांग हुआ कि सारे याचक अयाची हो गए।"

नापित—"वह यज्ञ तो आपको अवश्य स्मरण रहना चाहिए। प्रयोजन भी तो अच्छा सिद्ध हुआ था।"

चर्मकार—"इस राज्य में तीन ही लोगों के तो पौ-छक्के हैं।"

क्षत्रिय—"किसके-किसके?"

नापित—"यह तो प्रकट ही है भाई!"

वैश्य—"तब कहते क्यों नहीं?"

नापित—"यदि अब भी न जान गए हों, तो सुनिए। हमारे यहाँ ब्राह्मणों, युद्ध-कर्ताओं तथा कमटानेवालों को चैन-ही-चैन लिखवे हैं।"

कमटाने का कायस्थ—"कमटानेवाले बेचारे क्या पाए जाते हैं? दिन-भर परिश्रम करके यदि संध्या तक भोजन-भर को मिल गया, तो कौन-सी बड़ी बात हो गई?"

नापित—"यह बात श्रमजीवियों की है। उनको भी कुछ कम नहीं मिलता। मुख्य बात निरीक्षकों तथा ठेकेदारों की है। ठेकेदार अयुत पणों का यदि कार्य बनाएँगे, तो पंद्रह सहस्र से कम न लेंगे। उधर निरीक्षकगण अपना दश प्रतिशत निकाल ही लेते हैं।"

कमटाने का कायस्थ—"यह स्वप्न आपने कहाँ देखा? क्या धर्म-हीन हैं कि इतना लें? बेचारे पाँच प्रतिशत के आगे एक कार्षापण तो छूते नहीं।"

वैश्य—"पंच प्रतिशत तो उत्कोच हुआ ही नहीं!" (सब लोग हँसते हैं।)

क्षत्रिय—"अच्छा, अब युद्धकर्ताओं पर आइए। वे बेचारे तो जीवन ही पण पर रक्खे रहते हैं। इतने पर भी विशेष पाए क्या जाते हैं? केवल साधारण वेतन पर ही कालक्षेप होता है या नहीं?"

वैश्य—"किंतु वह वेतन ही इतर तत्सम सेवकोंवाले से दूना क्या नहीं है?"

नापित—"फिर अंग-देश में जो प्रचंड लूट हुई, उसके आधे से अधिक मणि, रत्न, धनादि राजकोष में कब आए? शेष लूट क्या तुम्हें मिल गई?"

क्षत्रिय—"इतनी-सी बातों का लालच तो करते हो, किंतु जोखिम नहीं देखते कि सामरिक जीवन में कितना है?"

वैश्य—"प्रायः प्रतिवर्ष विजय-यात्राएँ भी तो हो रही हैं, उन सबमें आप लोगों के हाथ कुछ लग ही जाता है। क्षत्रियों की तो कोस-कोस पर फैली हुई स्कंधावार परंपराएँ ही क्या कम हैं, जो यहाँ भी इन लोगों को निवासार्थ मिलती हैं।"

कमठाने का कायस्थ—"फिर उनके सामने व्यायामादि के लिये कैसे-कैसे सुंदर, स्वास्थ्यप्रद मैदान बने हुए हैं? भाई! आप ही लोग तो राजा हैं।"

क्षत्रिय—"ये सारी सुविधाएँ जीवन देने की तत्परता पर निछावर हैं। फिर इस विभाग में भी केवल क्षत्रिय नहीं हैं; देखिए, हमारे सम्राट् ने डोरियों (मेहतरों) की भी सेना बना रक्खी है। उनका भी मान हमीं लोगों के समान है या नहीं?"

चर्मकार—"इसमें क्या संदेह है? किंतु हम लोगों, कर्मकारों आदि को वहाँ भी कोई नहीं पूछता।"

क्षत्रिय—"पूछने में तो अणु-मात्र भेद नहीं। आप लोग स्वयं युद्ध के निकट जाते कब हैं?'

कर्मकार—"है इस कथन में भी बहुत कुछ सार, किंतु इतना हम फिर भी कहेंगे कि शूद्रों का अनादर न्यूनाधिक होता अवश्य है।"

ब्राह्मण—"किस प्रकार से? ऐसा होना मैं तो अब आर्य-सभ्यता पर कलंक समझूँगा।"

चर्मकार—"तब पहले यही बतलाइए कि सारी ब्राह्मण-जाति पूरी-की-

पूरी कर-मुक्त क्यों है ? जब हमारे सम्राट् महोदय अपनी विजय-यात्रा में, अभी तीन-चार साल हुए, कन्याकुमारी को पधारे थे, तब उन्होंने सहस्रों थान तूलांबरों तथा पाटंबरों तक के केवल ब्राह्मणों और श्रमणों को क्यों दिए ? किसी ने कभी क्या कोई चमर-भोज भी किया है ? ब्रह्मभोज तो नित्य ही हुआ करते हैं।"

ब्राह्मण—"राजगृह के मित्र राजकुमार ने अभी चार ही पाँच वर्ष हुए, क्या एक चमर-भोज न किया था ? ब्राह्मणों को कर से मुक्त हमारे सम्राट् ने अपने राजसूय-यज्ञ के संबंध में केवल कृपा के रूप में किया था। ऐसा कोई नियम नहीं है। अनुग्रह कोई किसी पर कर सकता है। कन्याकुमारी पर का दान भी साधारण नियम के अनुसार हुआ था।"

क्षत्रिय—"फिर यह भी तो देखा जाय कि सम्राट् ने उसी राजसूय के संबंध में अट्ठतीस लक्ष का दान पौर जानपद को भी तो दिया था। इसी प्रकार नृत्य, गान, वाद्य, सभाओं, प्रदर्शनी आदि के द्वारा उन्होंने समस्त जनता को क्या प्रसन्न नहीं किया ?"

नापित—"इतना मानना पड़ेगा कि हमारे सम्राट् की कृपा समभाव से सब पर रहती है। यह व्यक्तिगत प्रश्न छोड़कर सामूहिक रूप से विचारना चाहिए कि अकेले ब्राह्मण ही क्यों मुख्य दान-पात्र माने जाते हैं ?"

वैश्य—"यह भी तो समझना चाहिए कि भारतीय संस्कृति के मुख्य रक्षक वे ही हैं। आर्य-धर्म एक प्रकार से ब्राह्मण धर्म कहा जा सकता है। इनके स्वार्थ-त्याग न करने से अपनी संस्कृति क्या इतनी उच्च होती, जैसी वह आज है ? यह दान वास्तव में जाति-विशेष का न होकर विद्या के लिये है।"

क्षत्रिय—"और नहीं, तो क्या ? जितने उत्तमोत्तम ग्रंथों से हमारा देश एवं धर्म सुशोभित है, उनमें से ९५ प्रतिशत के रचयिता हैं कौन ?

मैं तो कहूँगा, ब्राह्मणों को दान देना अपनी संस्कृति एवं धर्म का रक्षण करना है।"

ब्राह्मण—"धन्य है आप महाशयों की उदारता को। रही बात शूद्रों के निरादर की, सो पहले मैं यह जानना चाहूँगा कि इन महाशयों को क्या असंतोष है? मेरा तो विचार ऐसा है कि अपने यहाँ अब सभी वर्णों में गुणों का समादर है।"

नापित—"सबसे पहले मुझे यही कहना है कि आप महाशय अपने को आर्य तथा हम लोगों को अनार्य क्यों कहते हैं?"

ब्राह्मण—आर्य तो एक जाति का नाम है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, सब आर्य-जाति के मनुष्य हैं। इतर भारतीय द्राविड़, कोल, नाग आदि कहलाते हैं। शूद्र भी एक जाति का नाम है। इन नामों में कोई निरादर की बात नहीं। आप लोग प्रायः व्यापारानुसार अपने-अपने जत्थे बनाए रहते हैं, और उन्हीं नामों से पुकारे जाते हैं। उन सबका एक नाम अनार्य सुगमता-मात्र के विचार से रख दिया गया है। यदि आप महाशय इस नाम को ठीक न समझें, तो कोई द्वितीय संबोधन सब सामूहिक जातियों के निमित्त बना सकते हैं, इसमें किसी को कोई आपत्ति न होगी। बिनती यह है कि इस नाम में कोई निरादर का भाव नहीं है।"

नापित—"मैं कहूँगा, महापद्मनंद का नवनंद-वंश क्या केवल नापित होने के कारण आर्यों द्वारा तिरस्कृत न समझा गया?"

ब्राह्मण—"कदापि नहीं। स्वयं महापद्मनंद के दरबार में पाणिनि ऋषि वर्तमान थे, और उस सम्राट् का मान करते ही थे। कात्यायन ऋषि ने भी इस वंश की सेवा पूर्ण भक्ति के साथ की थी। नवनंद-वंश का पतन मुख्यतया मंत्रियों के विरोध से हुआ। उसमें कोई जातीय प्रश्न सबल न था।"

नापित—"किंतु वह विरोध ही क्यों हुआ? क्या उसमें जातीय निंदा की दुर्गंधि न थी?"

क्षत्रिय—"कदापि नहीं । वह तो केवल राजनीतिक प्रश्नों पर आधारित था । मुख्य विरोध मंत्री शकटार से निजी कारणों-मात्र से हुआ था । राजवंशों के पतनोत्थान हुआ ही करते हैं । अब स्वयं मौर्य-वंश क्यों पतनोन्मुख है ?"

चर्मकार—"और, गीता का वह श्लोक कोई नहीं पढ़ता, जिसमें अनार्यों को गाली-प्रदान हुआ है ।"

ब्राह्मण—"शायद आपका प्रयोजन 'अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन !' वाले श्लोक से है । क्यों न मित्र ?"

चर्मकार—"यही बात है; क्या यहाँ हम लोगों को खुले-खुले गाली नहीं दी गई है ?"

ब्राह्मण—"है अवश्य, किंतु यह मत-कथन महाभारत-काल का है, जब आर्यों का अनार्यों से युद्ध-सा हो रहा था । अब तो प्रेम-पूर्ण समय है ।"

कायस्थ—"किंतु बनी तो गीता बादरायण व्यास द्वारा प्रायः १०० वर्ष हुए, तभी ?"

ब्राह्मण—"किंतु उन्होंने वाक्य भगवान् श्रीकृष्ण का कहा है, और काल-विरुद्ध दूषण बचाने के लिये बहुधा उसी समय के विचार गीता में रक्खे हैं ।"

नापित—"हम लोगों को इस विषय पर अभी संतोष नहीं ।"

क्षत्रिय—"यदि ऐसा है, तो जातीय ऐक्य-सम्मेलन की आवश्यकता समझ पड़ती है । अभी थोड़े ही दिन हुए, हमारे अग्रहारिक (दानाध्यक्ष) महोदय भी इसकी आवश्यकता के विषय में एक दिन कथन करते थे ।"

चर्मकार—"मैं भी इसे योग्य समझता हूँ । बातें तो आप लोग प्रेम-पूर्ण करते हैं, किंतु व्यवहार में अंतर पड़ जाता है । अभी अपने यहाँ प्रीति-भोजार्थ निमंत्रण दे दूँ, अथवा कन्या-पुत्र के विवाह का अनुरोध कर बैठूँ, तो आप लोग यद्वा-तद्वा करने लगें ।"

ब्राह्मण—"जब सम्मेलन का ही विचार हो रहा है, तब विशेष

कथनोपकथन की अभी क्या आवश्यकता है ? हम लोगों से अधिक विशेषज्ञ वहाँ एकत्र होंगे, और सबके चित्तानुसार निर्णय हो जायँगे।"

वैश्य—(प्रबंधक से) "इन दिनों, महाशयजी ! बिंदुमती बाई धर्मशाले में इस समय प्रायः आया करती थीं, क्या आज नहीं आईं ?"

प्रबंधक "आई तो हैं, यदि इच्छा हो, तो बुलवा भेजूँ।"

वैश्य—"अवश्य बुलवाइए; क्यों महाशयो ! गाना सुनने में कोई आपत्ति तो नहीं है ?"

चर्मकार—"और किसी को तो होगी नहीं, इन ब्राह्मण देवता से पूछ लीजिए, यह कहीं नाक-भौं न सिकोड़ने लगें।"

ब्राह्मण—"भाई, मैं तो सामान्याओं के संग्रह में प्रायः बैठता नहीं, किंतु यह भी नहीं करता कि समाज से भागकर इतरों के आनंद में बाधा डालूँ।"

वैश्य—"बड़ी कृपा हुई, महाशय ! (प्रबंधक से) तो फिर उन्हें बुलवाने की कृपा हो जाय। आज की टाँय-टाँय के पीछे कुछ आनंद ही आ जाय; और क्या ?"

प्रबंधक—"जैसी इच्छा।" कहकर एक सेवक द्वारा बाईजी को बुलवाता है। वह तीन वाद्यकारों के साथ आकर, नत-मस्तक हो सभा को नमस्कार करती है।

वैश्य—"आइए महाशया ! विराजिए। यह आसन है।"

बिंदुमती—"बड़ी कृपा हुई, जो आज फिर मेरा स्मरण हुआ। कहिए, क्या आज्ञा है ?"

वैश्य—"कोई फड़कता हुआ गाना सुनाओ।"

बिंदुमती—"जो आज्ञा।" कहकर तानपूरा के साथ गाती है। एक वाद्यकार पखावज की ठेक देता जाता है।

करै यह जोबना जुलमी जोर।
अंग-अंग सों काम तरंगैं उठैं महा घनघोर।

लोक-लाज, कुल-कानि बचैं नहिं परी तरंग हिलोर ;
देखत रूप-रासि कान्हा की नचै मुदित मन मोर। करै०।

चर्मकार—"वाह बाईजी ! वाह ! क्या ही सुंदर गाना सुनाया है।"

क्षत्रिय—"अब एक और सुना दीजिए, तो चित्त गद्गद हो जाय।"

बिंदुमती—"जो आज्ञा।" कहकर फिर गाती है—

घड़ी नित करती मुझसे होड़।
काम पास होने से लगती खूब मचाने दोड़ ;
पूरी सरपट चाल भागकर बन जाती है घोड़।
काम न होने से इठलाती, देती साहस छोड़ ;
नहीं खिसकती ज़रा जगह से, करिए जतन करोड़।
बार-बार देखिए न तो भी सकती यह थल छोड़ ;
जी में आने लगता बस, अब डालूँ इसको तोड़।

सब लोग मुक्त कंठ से प्रशंसा-सूचक वाह-वाह करते हैं, और गायिका नत-मस्तक होकर प्रणाम के साथ प्रसन्नता प्रकट करती है। अनंतर वैश्य और क्षत्रिय महोदय उसे कुछ-कुछ पारितोषिक देकर बिदा करते हैं। सम्मेलन के प्रबंध का भार ब्राह्मण तथा क्षत्रिय मित्रों पर छोड़कर यह सभा समाप्त होती है। उचित समय पर ये दोनो महाशय दानाध्यक्ष की सेवा में उपस्थित होकर आलाप-संलाप करते हैं, और फिर ये तीनो महामंत्रीजी से बिनती करते हैं। वे सम्राट् का भी आशय लेकर एक संगठन-सम्मेलन की आयोजना करते हैं। यह निश्चय किया गया है कि प्राय: २०० प्रतिनिधियों की सभा बुलाई जाय, जिसमें राजसेवियों तथा पौर जान पदों के लोग उपस्थित हों। राजवर्ग की इच्छा सदैव रहा करती थी कि लोकतंत्र जनता में यथासाध्य सर्वप्रिय रहे। अतएव सम्मेलन का आयोजन स्वयं महामंत्री महोदय के सभापतित्व में राजप्रासाद में ही किया गया। कोई संकोच अथवा भय न हो, इस कारण स्वयं सम्राट् की उपस्थिति उसमें न रक्खी गई, किंतु गुप्त रूप से

उसके निरीक्षण अथच कथन-श्रवण का प्रबंध उनके लिये भी रक्खा गया ।

सम्मेलन में सांधिविग्रहिक, अक्षपटलाधिकृत, महादंडनायक, महासेनापति, दंडपाशाधिकरण आदि मंत्रियों की उपस्थिति रक्खी गई । अन्य साधारण राजसेवियों आदि में अग्रहारिक, आयुक्तक (ज़िला-ऑफ़िसर), आज्ञापक, कटुक (गज-दल का प्रधान), कुलिक (प्रथम कारीगर), गोप्ता (उपरिक, प्रांत का गवर्नर), गौल्मिक (जंगल का अफ़सर), चर (ख़ुफ़िया पुलीस), चौरोद्धरणिक (चोर पकड़नेवाला), तलवाटक (पटवारी), दंडपाशिक (पुलीसमैन), दूत (चर), दौसाध्यसाधनिक (सख़्त चोर पकड़नेवाला), द्रांगिक (नगर का प्रधान शासक), नगरश्रेष्ठी (मुख्य सेठ), निगम-संचालक (बैंक-एजेंट), पौर (नागर-प्रजा), प्रतिनर्तक (नक़ीब), प्रथम कायस्थ (चीफ़ सिकत्तर), प्रसाधक (श्रृंगारकर्ता), जानपद (देहाती), भटाश्वपति (रिसाले का प्रधान), महत्तर (मुखिया), विनयशूर (महाप्रतिहार), शौल्किक (चुंगी का अफ़सर), सार्थवाह (प्रथम कारीगर) आदिकों के प्रतिनिधि वहाँ एकत्र किए गए । इनके अतिरिक्त जनता के भी प्रायः १०० प्रतिनिधि निमंत्रित होकर पधारे, और नियत समय पर सम्मेलन की कार्यवाही प्रारंभ हुई । पहले कुछ थोड़े-से सदस्यों की विषय-निर्धारिणी समिति एकत्र हुई । इसने खुली सभा में रखने को विविध विषय नियत किए । अनंतर जनता के प्रतिनिधियों ने अपने-अपने कष्ट तथा विचार प्रकट किए, जिनके प्रेम-पूर्वक उचित उत्तर राज-सेवियों तथा इतरों द्वारा भी दिए गए । विद्यापीठ से भी कुछ प्रवीण विद्यार्थी निमंत्रित हुए थे । इनमें से भी कुछ लोगों ने अपने-अपने विचार प्रकट किए । अनंतर महामंत्री ने दो प्रधान विद्यार्थियों को व्याख्यान देने की आज्ञा दी । उनमें से एक का नाम संपत्ति था, जिसने इस प्रकार कथन किया—

संपत्ति का व्याख्यान

सभापति महोदय, बहनो और भाइयो! आज प्रधान की आज्ञा से मैं भी विद्यापीठ की ओर से भारतीय समाज के विषय में आप महानुभावों के सम्मुख अपने टूटे-फूटे वाक्य विचारार्थ उपस्थित करता हूँ। समाज-शास्त्र का ही मुख्य अध्ययन मैंने किया भी है, जिससे इन कथनों में हमारे विद्यापीठ के भी विचार आप महानुभावों के सम्मुख आएँगे। समाज के विषय तो अनंतप्राय हैं, किंतु उनमें से यह सम्मेलन आज धार्मिक, राजनीतिक, व्यापारी तथा जातीय विषयों पर विचार कर रहा है। व्यापारी कक्षा में शिल्प भी आ जाता है। इन दोनो विषयों पर सम्मेलन में बहुत कुछ कथनोपकथन हो चुके हैं, और मेरे लिये कुछ अधिक शेष नहीं। राजनीतिक विषय पर मेरे मित्र अंशुमालीजी कथन करेंगे। शेष दोनो पर मैं निवेदन कर रहा हूँ।

जातीय विषय भारत में इस प्रकार है कि जब विजयार्थ आर्यों का आगमन हुआ, उस काल यहाँ कोल, द्राविड़ और नाग बसते थे। कोलों की संख्या न्यून है, तथा नागों का आर्यों ने ऐसा आदर किया कि वे भी अब तक एक प्रकार से आर्य ही हो गए हैं। नागों के आदर से यह भी सिद्ध होता है कि विजयी आर्यों ने केवल विजय के आधार पर प्राचीन भारतीयों का निरादर न किया, वरन् गुणों का समुचित मान हुआ। इस प्रकार हमारे यहाँ दो ही जातियाँ प्रधानतया रह गई हैं, अर्थात् आर्य और द्राविड़। ब्राह्मणों में भी हमारे यहाँ पंचगौड़ और पंच-द्राविड़ हैं, जिससे प्रकट है कि योग्यतानुसार द्राविड़ों का भी मान हुआ। आर्य-शब्द कुछ गौरवान्वित हो गया है, जिससे अनार्य नाम एक प्रकार से निंदित-सा समझ पड़ने लगा है। यवन लोग सिंधु-नदी के कारण हमारे देश को हिंद तथा देशवासियों को हिंदू कहते ही हैं। इस नाम के अधिकाधिक प्रचार से बोल-चाल में आर्य तथा अनार्य शब्दों का अंतर मिट सकता है। कुछ अनुन्नत द्राविड़ों को अपने साथ

आर्यों के वैवाहिक संबंधों की कमी तथा भोजनादि-संबंधी व्यवहारों की कमता खटकती-सी है। भोजनों के विषय में तो कोई विशेष निषेध है नहीं। मलिन कार्य करनेवालों के साथ न बैठने का विचार जातीय अभिमान न होकर केवल मालिन्य का तिरस्कार है। स्वयं श्रीराम ने प्रेम-भाव के कारण शबरी भीलनी के जूठे बदर खाए। मलिन कार्य उठानेवालों में भी यदि कोई स्वच्छ होकर किसी उत्कृष्ट स्थान में आर्यों का निमंत्रण करे, तो जाने में कोई नाहीं न करेगा। स्वयं गौतम बुद्ध ने एक वेश्या का भोजनार्थ निमंत्रण स्वीकार किया ही था। विवाहों के विषय में आर्य लोग शूद्राओं से बराबर परिणीत होते आए हैं। आर्यों में कृष्ण द्वैपायन व्यास से बढ़कर कौन विप्र हुआ है, यद्यपि वह स्वयं दासी-पुत्र थे। सब बातों का प्रयोजन यह है कि हमारे यहाँ सदा से गुणों का मान होता आया है। ऋग्वेद में अनार्यों को जो दस्यु आदि नामों से पुकारा गया है, वह केवल शत्रुता के कारण, न कि जातीय अभिमान-प्रदर्शनार्थ। अनार्य लोग स्वयं आर्यों से पृथक्-से रहे। सूत्र-काल में आकर इन लोगों ने पूर्ण उत्साह के साथ आर्य-धर्म अपनाया है। अब जितना कुछ पार्थक्य दिखाई देता है, वह केवल अनुन्नत अनार्यों से है। इसी प्रकार जो आर्य अवनति कर गए, उनकी भी शूद्र-संज्ञा हो गई। विवाहादि की बहुतायत का यह प्रश्न है कि व्यापारानुसार ये लोग स्वयं पृथक् जत्थों में विभाजित रहते हैं, जैसे बढ़ई, लुहार, कोरी, चर्मकार आदि। ये सब खान-पान, विवहादि प्रायः अपने ही अपने वर्ग में करते हैं। फिर इतरों से इनके वैवाहिक संबंध हों कैसे? वरन् इन्हीं वर्गों के उदाहरण से स्वयं आर्यों में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के वर्ग दिनोंदिन इतरों से पृथक्-से होते जाते हैं। इस बात से इतना लाभ भी है कि इन वर्गों के सदस्यों का संगठन आपस में बहुत बढ़िया रहता है। फिर भी इस वर्गीकरण से एक महती हानि भी भविष्य में संभव है। भारतीय समाज के आंतरिक

प्रचंड पार्थक्य से सामूहिक संगठन बहुत कुछ शिथिल पड़ सकता है। यद्यपि यह दोष अभी वृद्धि को नहीं प्राप्त हुआ है, तथापि भविष्य में इसके द्वारा भारतीय शक्ति और संगठन में भारी क्षति संभव है। यहाँ तक तो जातीय प्रश्नों का कथन हुआ। (सब लोग हर्ष-सूचक करतल-ध्वनि करते हैं।) अब धार्मिक विषय उठाया जाता है। कोलों की कोई धार्मिक महत्ता न थी, किंतु द्राविड़ों की सुख-सामग्री तत्कालीन आर्यों से श्रेष्ठतर थी, तथा धार्मिक उन्नति भी कम न थी, यद्यपि योनि-लिंग पूजन-मात्र में वह गिरी हुई थी, जिसकी प्रचंड निंदा ऋग्वेद में उचित ही हुई। इस एक बात के छोड़ देने से उनकी धार्मिक उन्नति भी उच्च थी। उनके यहाँ वेद-पूर्व-काल में सिंहवाहिनी मातृदेवी की *मूर्तियाँ बहुतायत से प्राप्त हैं, तथा ध्यान-मग्न त्रिनेत्र शिव की,* जो पशुपति हैं, और त्रिशूल धारण किए हुए हैं। आर्यों में पीछे शिव, मातृदेवी, कृष्ण, नाग, जंतु, वृक्ष, पाषाण, योग, शक्ति, संसार-भक्ति आदि के जो पूजन-विधान उठे, उनके मूल इनमें पाए जाते हैं। अनंतर हमारे ऋग्वेद में केवल परमात्मा की शक्ति से सशक्त ३३ देवताओं के पूजन प्राकृतिक शक्तियों के रूप में हैं। ऋग्वेद का धर्म उपर्युक्त द्राविड़ धर्म से उच्चतर नहीं है, यदि इससे केवल लिंग-पूजन-भाव निकाल डाला जाय। ऋग्वेद में रुद्र एक साधारण देवता हैं, जिनका पद इंद्र और उपेंद्र से निम्नतर है। अनंतर यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में उपेंद्र (विष्णु) की तो थोड़ी ही उन्नति होती है, किंतु रुद्र (शिव) ईश्वरता को प्राप्त हो जाते हैं। इस शैव प्रभाव-वृद्धि में आर्यों के धर्म पर अनार्यों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। रुद्र द्राविड़-प्रधान देवता से बहुत कुछ मिलते थे, जिससे उन्हीं के द्वारा रुद्र की मान-वृद्धि से यजुर्वेद में रुद्र (शिव) का ईश्वरत्व पाया जाता है। अनंतर आर्यों ने वेदांत में परमात्मा का सर्वोच्च निर्गुण भाव निकाला, जो जनता द्वारा अग्राह्य होने से पृथक् हो गया। जन-समुदाय में बहुत बड़ी संख्या

अनार्यों की ही थी, अतएव उन्हीं के प्रभाव से न केवल शैव पद बढ़ा, वरन् परमोच्च वेदांत-मत त्यक्त हो गया, और एक ओर तो अनीश्वरवादी बौद्ध एवं जैन-मत प्रबल पड़े, तथा दूसरी ओर निर्गुण ब्रह्म को त्याज्य न कहता हुआ सगुण ब्रह्म विचार को उत्कृष्टतर माननेवाला गीता का मत निकला। इस प्रकार हमारे धार्मिक विकास पर भी अनार्यों का पूर्ण प्रभाव पड़ा। इतने पर भी द्राविड़ जनता के बाहुल्य से जो प्राचीन शरीरवाद लोकायत-मत के रूप में चलता था, वह कुछ उन्नत होकर अब भी पौराणिक मत के रूप में चल रहा है। हमारा महानारायणीय उपनिषत् विष्णु को वासुदेव कहता है। हम आज भी पहाड़ों, नदियों, वृक्षों, आग, पक्षियों, नागों, गायों आदि के पूजन भूतों आदि से बचने को करते हैं, तथा इसी अभिप्राय से रीतियों, मंत्रों, जादू आदि के काम कराए जाते हैं। आवागमन, कर्म और मुक्ति पर कोई विचार नहीं करता। यह मोटिया मत जो सर्व-साधारण में चल रहा है, वह हमारे समाज पर अनार्यों तथा अपठित आर्यों के प्रभाव का साक्षी है। अतएव प्रकट है कि आर्य-मत ने अनार्य-मत पर न केवल नीचता आरोपित न की, वरन् उन्हीं के योग्यतानुसार अपना प्राणप्रिय धर्म भी समय-समय पर नीचा बनाया है। मेरी बिनती यह है कि हम लोगों तथा हमारे पूर्व पुरुषों को अनार्यों पर नीचता आरोपित करने का कलंक नहीं लग सकता। (सारी सभा साधु-साधु कहकर करतल-ध्वनि करती है। संपत्ति महाशय अब अपने आसन पर विराजते हैं, तथा सभापति की आज्ञा से अंशुमाली महाशय व्याख्यान देने खड़े होते हैं।)

अंशुमाली का व्याख्यान

सभापति महोदय, मान्य महिलाओ तथा भद्र पुरुषो! मेरे पूर्ववर्ती वक्ता महोदय ने समाज के अन्य भागों पर अपना प्रभाव पूर्ण अभिभाषण जिस उत्तमता से किया है, वह सभी पर विदित है। मेरे लिये केवल

राजनीति का विषय रह गया है। अपने यहाँ प्राचीन काल में साम्राज्य कोई भी बन न सका, तथा प्रायः डेढ़ सौ वर्षों से ही यह शुभ संस्था भारत में स्थापित हुई है। इस विषय पर हमारे अध्यापक महोदय इन्हीं दिनों उत्कृष्ट भाषण कर चुके हैं। अतएव मैं केवल वर्तमान भारत का वर्णन करूँगा। जब से अलिकसुंदर का आक्रमण सप्तसिंधु पर हुआ, तभी से भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पूर्णतया बदल गई है। जब तक मागध साम्राज्य सबल रहा, तब तक भारतीय प्रभाव वंक्षु-प्रदेश तक पर स्थापित बना रहा, किंतु जब से बौद्ध-मत के दया-बाहुल्य का बल साम्राज्य पर अनुचित प्राबल्य से विस्तृत हुआ, तभी से भारतीय ऐक्य नष्ट हो गया। यहाँ फिर से खंड राज्य स्थापित हो गए, और हमारे सप्तसिंधु-प्रांत तथा सिंधु में यवन-शासन चल रहा है। इस काल भारत में मागध, कालिंग तथा यवन-बल स्थापित हैं, अथच दाक्षिणात्य भारत में भी गड़बड़ है। मुख्य-मुख्य समयों पर साम्राज्य को दीर्घ संख्या में सेना की आवश्यकता पड़ सकती है। अतएव सारे पौर जानपद को शस्त्राभ्यास का न्यूनाधिक ज्ञान प्राप्त करना योग्य है। समाज के विविध अंगों का आपस में पूर्ण संगठन होना चाहिए। प्रत्येक भारतीय देश-रक्षण का न्यूनाधिक उत्तरदायित्व अपने ऊपर भी समझे। जाति के रूप में यवनों से तो हमारा मेल संभव नहीं, किंतु मागध, कालिंग, अभिसरसंघ तथा विदर्भ-राज्य यदि किसी भाँति आपसी मनमैली छोड़कर एक संघ बना सकते, तो यवनों का सारा भारतीय दर्प क्षण-भर में चूर्ण हो जाता। मेरी सम्मति में यह समय भारत के लिये न्यूनाधिक चिंताजनक है, और इसके लिये अपने राजमंडल को पूर्णतया व्यवसाय करना योग्य है, मुख्यतया कलिंग और मगध को। विद्याएँ तो सभी उपादेय हैं, तथापि इस समय सबके लिये समर-शास्त्र की मुख्यता है। (सभा साधु-साधु कहकर हर्ष-सूचक करतल ध्वनि करती है, तथा अंशुमाली महोदय अपने आसन पर विराजते हैं।)

सभापति का व्याख्यान

सज्जनो ! अनेकानेक धन्यवाद हैं कि आपने पूर्ण ध्यान के साथ हमारे वक्ताओं के व्याख्यान सुने, विशेषतया अंतिम दोनों के। आशा है, इस सम्मेलन के उपदेशों से आप सबमें समुचित संगठन की अभिवृद्धि होगी, और सभी के चित्तों में अन्यों से उपालंभ का कोई विचार जमता में न रह जायगा। समा-शास्त्र पर भी सबों को पूर्ण ध्यान देना होगा, तथा अपनी धार्मिक प्रवृत्ति उन्नति की ओर ले जानी होगी। आशा है, उपर्युक्त विचारों का पोषण सभी सज्जन करेंगे। जो महाशय इस प्रस्ताव के अनुकूल हों, वे कृपया हाथ उठावें। (सारी सभा हाथ उठाती है।) अच्छा, धन्यवाद ! अब जो सज्जन इसके प्रतिकूल हों, वे कृपया हाथ उठावें। (कोई भी हाथ नहीं उठाता।) धन्यवाद ! सारे प्रस्ताव सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुए। अनंतर सभापति तथा उपस्थित सज्जनों को धन्यवाद दिए, गए, और सम्मेलन विसर्जित हुआ।

दशम परिच्छेद

बंदी-गृह

संगठन-सम्मेलन समाप्त होने पर दूसरे ही दिन दो प्रतिनर्तकों के साथ साम्राज्य का एक सामरिक उपमंत्री विद्यापीठ में जाकर पहले मुख्याचार्य से मिला, और फिर उन्हें साथ लेकर अंशुमालीजी के स्थान पर उपस्थित हुआ। इन्होंने यथायोग्य अभिवादन किया, और सब महाशय आसनों पर विराजे। अनंतर आलाप होने लगा।

सामरिक उपमंत्री—"प्रियवर अंशुमालीजी! आपका व्याख्यान सुनकर महामंत्रीजी बहुत प्रसन्न हुए हैं। उनके मुख से सम्मेलन का विवरण जानकर सम्राट् महोदय आपको देखना चाहते हैं। आशा है, आप प्रसन्नता-पूर्वक मेरे साथ चलने की कृपा करेंगे।"

अंशुमाली—(आचार्य से) "आचार्य महोदय! इस संदेश से मुझे कुछ आश्चर्य-सा हो रहा है। आपकी क्या आज्ञा है? जाने में कोई दोष मैं भी नहीं समझता।"

आचार्य—"हमारे यहाँ के योग्यतम विद्यार्थियों का इस साम्राज्य से मान सदैव होता आया है। आपने देखा ही था कि गत वर्ष भी ऐसा ही हुआ था। मैं समझता हूँ, आपको सहर्ष जाना चाहिए।"

अंशुमाली—"देव के दर्शन करने में मुझे क्या आपत्ति हो सकती है, वरन् इसमें तो मेरी मान-वृद्धि ही है। मेरा विचार केवल इतना था कि एक विदेशी छात्र के संबंध में इस प्रकार का मान कुछ अनोखा-सा लगता है, क्योंकि उसकी इच्छा स्वदेश-गमन की स्वाभाविक होगी।"

सामरिक उपमंत्री—"कहना आपका योग्य ही है, किंतु देव के दर्शनों से क्यों चिंता हो ?"

अंशुमाली—"चिंता की कौन-सी बात है ? चलिए, चलता हूँ ।"

अनंतर रथारोही हो आप महामंत्रीजी की सेवा में उपस्थित होकर केवल उन्हीं के साथ सम्राट् के अंतरंग मंत्रणागार में पहुँचाए गए, तथा विनयावनत होकर विराजे ।

महामंत्री—"अंशुमाली महोदय ! आपका सम्मेलनवाला व्याख्यान बड़ा गंभीर हुआ । देव उसे सुनकर बहुत प्रभावित हुए हैं ।"

अंशुमाली—"यह मेरा परम सौभाग्य है, तो भी कहना ही पड़ता है कि मेरे कथन नितांत साधारण थे । सभी राजनीति-वेत्ता ऐसी बातें जानते हैं । मैं अपना अहोभाग्य समझता हूँ कि सुगमता-पूर्वक देव के अलभ्य दर्शनों का लाभ प्राप्त हो गया । क्या मैं जान सकता हूँ कि किस प्रकार से आज्ञा-प्राप्ति द्वारा मैं इस महती कृपा को और भी वृद्धिमती कर सकूँगा ?"

महामंत्री—"हमारे यहाँ का राजनियम है कि किसी से परामर्श करने के पूर्व उसका पूर्ण विवरण जान लिया जाय । आपका अंशुमाली नाम कुछ अनोखा-सा लगता है; यदि आज के संभाषणार्थ पुष्यमित्र शुंग कहकर संबोधित करूँ, तो आपको कोई आपत्ति तो न होगी ?"

अंशुमाली—"जैसे मेरा नाम अनोखा है, आर्य ! वैसी ही आपकी यह इच्छा भी अपूर्व समझ पड़ती है । आप सुख से मुझे किसी नाम से पुकार सकते हैं; स्थल कमल किसी भी नाम से उतनी ही सुगंधि देगा, और नीम कुछ भी कही जाने से उतनी ही कटु होगी ।"

महामंत्री—"देव का समय अनावश्यक बातों से नष्ट न करने के विचार से अब मैं मुख्य विषय पर आता हूँ । इधर हमारे विद्यापीठ के आचार्य भी कहते थे कि अपने समय को आप भी बहुमूल्य समझते हैं ।"

अंशुमाली—"देव के समक्ष मेरे समय का क्या मूल्य है, आर्य !"

महामंत्री—"तथापि मैं मुख्य बात पर शीघ्रता-पूर्वक आना चाहता हूँ। बढ़ी हुई योग्यता के विचार से यह साम्राज्य आपका मान करना चाहता था, और है। इसी कारण से चाटों, भटों, चरों, दूतों आदि द्वारा अनुसंधान कराया गया, तो प्रकट हुआ कि आपके मित्र संपत्तिजी वास्तव में आपके भूतपूर्व मंत्री विश्वभूतिजी के सुपुत्र धनभूति हैं, तथा स्वयं आप मागध महासेनापति आर्य बहसतिमित्र शुंग के एकमात्र सुपुत्र पुष्यमित्र हैं। वह राजगृह के महाराजा हैं तथा आपकी मातामही गयाजी की मंडलेश्वरी। ये बातें दो ही चार दिन हुए हमें पूर्णतया ज्ञात हुई हैं।

सम्राट् खारवेल—"मैं आपके विद्या-प्रेम, देश-प्रेम तथा साहस की भूरि-भूरि प्रशंसा करूँगा कि आपने शत्रु-नगर में भी प्राप्य विद्या-रत्न को न छोड़ा। विद्यार्पाठ का इस वर्षवाला अवभृथ-स्नान भी हो गया है। हमारे यहाँ की सामरिक विद्या आपको पूर्ण रूप से अवगत हो चुकी है।"

महामंत्री—"मैं यह भी प्रशंसा करूँगा कि नालंद, तक्षशिला, पर्वतीय प्रांतों, बाह्लीक, दमिश्क, महाराष्ट्र-प्रांत, पिथुंड, त्रामिर-संघ आदि का पूर्ण सामरिक ज्ञान प्राप्त करके भी शत्रु-नगर कलिंग तक में एक वर्ष बिताने का जोखिम आपने उठाया, किंतु ज्ञानवर्द्धन में कोई कच्चापन रहने न दिया।"

सम्राट् खारवेल—"आचार्य लोग यहाँ तक समझते थे कि आप जान-बूझकर अपना संचित ज्ञान उनके समक्ष इस कारण से प्रकट न करते थे कि संकुचित होकर कहीं वे कुछ थोड़ा भी बतलाने से रुक न जायँ। मैं आपके इस प्रकांड विद्या-प्रेम से बहुत प्रसन्न हुआ हूँ।"

पुष्यमित्र—"मैं देव के सम्मुख पूर्णतया नत-मस्तक होता हूँ कि मेरे विषय में महान् अनुसंधान करने में स्वल्प-मात्र आलस्य न किया गया। इतना स्वीकार करता ही हूँ कि प्रत्येक पुरुष से पूरी विद्या सीखने में मैंने

त्रुटि न की, चाहे वह मुझसे बहुत स्वल्प विशेष ज्ञान एक विषय-मात्र में रखता हो, तथा अन्य विषयों में मेरे समक्ष नितांत अनभिज्ञ हो।"

सम्राट् खारवेल—"ये ही सब बातें जानकर तो मैं समझता हूँ कि आपका-सा समर-पंडित मुझे सारे भारत में न मिलेगा। आपके पिता महाराजा बहसतिमित्र ने इतना अच्छा सामरिक प्रबंध किया कि डूबते हुए मौर्य-साम्राज्य को उबार लिया है। मैंने तीन आक्रमण करके मगध का जितना कलिंग से उत्तरी देश छीना था, वह सब उन्होंने गत चार वर्षों के पहले ही साल में फेर लिया, और इधर तीन वर्षों में उनके प्रतिकूल मैंने जितने प्रयत्न किए, वे सब निष्फल हुए।"

पुष्यमित्र—"इतना तो भी विचारणीय है कि पूज्य पिता ने स्वयं कलिंग की थोड़ी भी भूमि नहीं ली। ऐसी दशा में मेरे लिये यह शत्रु-नगर नहीं कहा जा सकता। फिर भी बिनती करूँगा कि मुझे क्या आज्ञा होती है।"

सम्राट् खारवेल—"मैं आपके अमूल्य गुणों तथा महान् प्रयत्नों से अत्यंत हर्षित हूँ। यदि आपको कोई उच्च पद अपनी सेना में अर्पित करूँ, तो आशा है, आप सहर्ष स्वीकार करेंगे। शत्रु होकर भी मैं आप पर विश्वास करूँगा।"

पुष्यमित्र—"मैं देव के अनुग्रह से अत्यंत बाधित हूँ, किंतु इतनी बिनती करूँगा कि मागध छात्र-वृत्ति-भोगी होकर विना उस साम्राज्य की आज्ञा के कहीं और सेवा स्वीकार कैसे कर सकता हूँ? इस दशा में धर्म से वैपरीत्य स्पष्ट ही है।"

महामंत्री—"छात्र-वृत्ति योग्य छात्रों की साहस-वृद्धि के अर्थ दी जाती है। उसमें कोई सेवा का तो नियम होता नहीं।"

पुष्यमित्र—"बंधन तो नहीं है, किंतु किसी शत्रु को छात्र-वृत्ति कब मिलती है?"

सम्राट् खारवेल—"विद्यार्थीजी! पैर पृथ्वी से दस हाथ ऊपर न

रखिए। ठोस भूमि पर आइए। मैं आपको निहाल कर सकता हूँ। व्याख्यान में आपने स्वयं कहा है कि इस समय भारत में पूर्ण शक्ति-वृद्धि की आवश्यकता है। आपका यह भी कथन था कि अनुचित दया-बाहुल्य से मौर्य-साम्राज्य जर्जरप्राय है। आपके पिता-सहित इस ओर आ जाने से मैं मौर्य-राज्य एक वर्ष में अशेष कर सकता हूँ। आप ही के कथनानुसार ऐसी दशा में भारत से यवन-दर्प तुरंत उठ जायगा। ऐसे महत्कार्य में सहायक होकर आप भारत-मुखोज्ज्वलकारी होंगे, अथवा मिथ्या राजभक्ति-मात्र से? विचार कर लीजिए, मैं ऐसी दशा में आपको लौहित्य, शोणितपुर, वंग और मगध का महाराजा बना दूँगा। समझे, विद्यार्थी! सोच लो, अवसर न चूको।"

महामंत्री—"पुष्यमित्रजी! यह अभूतपूर्व समादर है। मान जाओ, हठ छोड़ दो। देव की कृपा अनहोनी-सी है, जो इस काल आपके ऊपर न-जाने क्यों हो रही है।"

पुष्यमित्र—"सम्राट् महोदय! मैं इस अनुग्रह से बहुत ही बाधित हूँ, किंतु देव स्वयं समझते होंगे कि बिना पूज्य पिता की सम्मति प्राप्त किए मैं अपने ही अधिकार से उनके विषय में इतने बड़े प्रस्ताव पर कैसे निर्णय कर सकता हूँ? देव यदि मुझे मगध जाने की आज्ञा प्रदान करें, तो दो-तीन सप्ताहों में मैं स्वयं आकर उत्तर दूँगा।"

सम्राट् खारवेल—"बात तो आपकी ठीक है, किंतु समझ लीजिए, यह राजनीतिक आलाप न होकर केवल भद्रत्व का प्रश्न है। उसी भद्रत्व की शपथ खाकर कहिए कि आप मेरा प्रस्ताव मानते हैं, तथा उन्हें समझाने का पूर्ण प्रयत्न करेंगे। धोखा न होने का वचन दीजिए।"

पुष्यमित्र—"जब देव राजनीतिक-वार्ता छोड़कर भद्रत्व पर आते हैं, तब मेरा यही निश्चित उत्तर है कि पूर्ण मागध साम्राज्य पाने से भी मैं उससे राजभक्ति न छोड़ूँगा।"

सम्राट् खारवेल—"साधु, साधु, विद्यार्थी ! तुम्हारी महत्ता की मैं शतमुख से प्रशंसा करूँगा, किंतु इसी समय से तुम मेरे बंदी हुए।"

पुष्यमित्र—"किस अपराध में ? देव !"

सम्राट् खारवेल—"छिपकर मेरे सामरिक भेद जानने के अपराध में।"

पुष्यमित्र—"क्या कालिंग विद्यापीठ सारे योग्य छात्रों के लिये खुला नहीं है ?"

सम्राट् खारवेल—"योग्य छात्रों के अर्थ तो अवश्य खुला है, किंतु निहित शत्रुओं के लिये नहीं।"

पुष्यमित्र—"देव की आज्ञा यथार्थ है, केवल मेरे शत्रु माने जाने का प्रश्न अब भी विचारणीय है।"

सम्राट् खारवेल—"शत्रुता के विषय में हमारा आपसे मतैक्य नहीं। फिर सोच लो, विद्यार्थी ! यदि आप भी ऐसा न समझते, तो नाम-परिवर्तन क्यों करते ? क्या इतने बड़े महाराज्य से बंदी जीवन श्रेष्ठतर है ?"

पुष्यमित्र—"अवश्य, धर्म सारी महत्ताओं से उत्तर है।"

सम्राट् खारवेल—"तब फिर बंदी-गृह जाओ। मैं विवश हूँ। (महामंत्री से) आर्य ! इन्हें वहाँ भी कोई कष्ट न हो।"

महामंत्री—"जो आज्ञा।"

पुष्यमित्र—"देव ! मेरे मित्र धनभूति तथा अनुचरों के विषय में क्या आज्ञा है ?"

सम्राट् खारवेल—"वे सब स्वतंत्र हैं। मगध भी जा सकते हैं।"

पुष्यमित्र—"इस महान् अनुग्रह के लिये मैं चिर बाधित रहूँगा।"

अनंतर पुष्यमित्र जी महामंत्री के साथ अपने नवीन निवास-स्थान में ले जाए गए। कुछ सेवकों के साथ धनभूति तो दो-एक दिन के पीछे पाटलिपुत्र चले गए, तथा पुष्यमित्र के दो निजू सेवक उन्हीं के साथ

रह गए। महामंत्रीजी ने पुष्यमित्र के सुपास का महाराजाओं के समान प्रबंध कर दिया, तथा तीन शत प्रहरी रक्षार्थ नियत हो गए। सदन में व्यायामादि का भी पूर्ण सुपास था। अनंतर एक दिन महामंत्रीजी स्वयं पधारकर संलाप करने लगे।

महामंत्री—"राजपुत्र! आशा है, आप यहाँ कोई कष्ट न अनुभव करते होंगे। नगर-निरीक्षण आदि के लिये भी वाहनादि तथा रक्षकों के प्रबंध हैं ही।"

पुष्यमित्र—"नहीं, आर्य! आपके सुप्रबंध में भी यदि कष्ट होगा, तो प्रसन्नता कहाँ होगी? मैंने तो जब से सुध सँभाली है, तब से अब तक अध्ययन-संबंधी परिश्रम से अवकाश ही न पाया। सुख-चैन तो मुझे पहलेपहल बंदी होकर ही मिला है, क्योंकि अध्ययनादि की कोई चिंता ही शेष नहीं। रक्षकों के साथ प्रसन्नता-पूर्वक बाहर भी आता-जाता हूँ। बंदी जीवन का नाम-ही-नाम है।"

महामंत्री—"बड़ी ही कृपा हुई, राजपुत्र! यदि कोई कष्ट हो, तो अणु-मात्र संकोच न कीजिएगा। बात केवल इतनी है कि साम्राज्य आपका कलिंग से बाहर जाना-मात्र नहीं चाहता। चाहें, तो कुछ निवेदन और करूँ।"

पुष्यमित्र—"आर्य! यह क्या आज्ञा होती है? जो इच्छा हो, अवश्य कथन करने की कृपा कीजिए।"

महामंत्री—"हमारे सम्राट् का प्रस्ताव आपने, मेरी समझ में, अनुचित शीघ्रता-पूर्वक अस्वीकृत कर दिया। कुछ विचार तो कीजिए कि कालिंग प्रभाव कितना बढ़ चुका है? नौ वर्ष हुए, जब राजसूय करके देव ने सम्राट्-पद प्राप्त किया। उसी वर्ष आपके पिता से प्रथम युद्ध हुआ था।"

पुष्यमित्र—"आर्य! यह मुझे ज्ञात है।"

महामंत्री—"फिर देखिए, हम लोगों ने भूमिकों, रठिकों और भोजकों को भारी पराजय दी, तथा आव भूपालों की राजधानी पिथुंड में

घुसकर उनके प्रचंड अहंकार के कारण उसे गर्दभों के हलों से जुतवाया। अनंतर अमिर भूपालों का प्रबल संघ तोड़ डाला गया। आगे बढ़कर कन्याकुमारी-पर्यंत दौरा हुआ। क्या आप समझते हैं, ऐसे महान् सम्राट् के महासेनापति होकर आप किसी न्यून पद के भोक्ता होंगे, या जो विशाल महाराज्य आपको देने का वचन दिया गया है, वह पूरा न हो सकेगा, अथवा इतना बृहदाकार महाराज्य हेय है? आप पूज्य पिता-सहित निहाल हो जायँगे। शंका न कीजिए।"

पुष्यमित्र—"यह कोई बात नहीं, आर्य! मैं मानता हूँ, मेरा पद आपकी सेवा में इतना बढ़ेगा, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। आपके सम्राट् की उदारता तथा गुण-ग्राहकता शतमुख से सराहनीय हैं। बात केवल इतनी है कि मैं विद्यार्थी-मात्र हूँ, और मेरे पूज्य पिता महाराजा होकर भी योगी हैं। मैंने केवल सेवा-भाव से संसार-सागर में पग रक्खा है। आपके सुखद प्रस्ताव में वही सेवा-भाव बिगड़ता अथच धर्म छूटता है।"

महामंत्री—"प्रिय राजकुमारजी! क्षमा कीजिएगा। आप एक अनुभव-शून्य बालक के समान कथन करते हैं। सोचिए तो सही, जितना महाराज्य आपको अर्पण हो रहा है, उतना स्वयं देव के पास उत्तराधिकार पाने के समय न था। यदि चलते बने, तो इतने महाराज्य से समय पर आप स्वयं भारतीय सम्राट् हो सकते हैं। आप तो ब्राह्मण हैं, भला बौद्ध साम्राज्य के रक्षण से क्या आप स्ववर्ग या भारत की महत्ता विवर्द्धित कर सकते हैं? एक पवित्र ब्राह्मण को बौद्धों की सहायता योग्य है, अथवा ऐसे सम्राट् की, जो जैन होकर भी यज्ञ करता तथा सारी ब्राह्मण-जाति को कर-मुक्त किए हुए है?"

पुष्यमित्र—"नीति देखते हुए आपकी सम्मति मान्य है, किंतु मैं एक योगी का बेटा तथा बहुत करके ब्रह्मचारी हूँ। अनीति-पूर्वक ब्राह्मणों का भी हित-साधन एक प्रकार से स्वार्थांधता है। आर्य! अभी तक मैं

संसारीपने में नहीं उलझा हूँ, वरन् एक तपस्वी की भाँति जीवन-संग्राम में उतरना चाहता हूँ। क्या अपनी वास्तविक संसार-यात्रा स्वार्थांधता और धर्म-हीनता से आरंभ करूँ? फिर मेरे योगी पिता महोदय क्या कभी अनौचित्य के मार्ग पर पैर देंगे? बात दोनों प्रकार से असंभव है।"

महामंत्री—"मैं भवदीय महत्ता की शतमुख से सराहना करूँगा। आशा करता हूँ, सदैव ऐसे ही महापुरुष बने रहेंगे। मैं भी ब्राह्मण हूँ, और वचन देता हूँ कि धर्म न छोड़ते हुए यथासाध्य आपका हित-साधन यावज्जीवन करूँगा।"

पुष्यमित्र—"बड़ी कृपा हुई, आर्य!"

इस प्रकार आलाप करके महामंत्रीजी प्रस्थित हो गए। उन्होंने अपने इस वार्तालाप का सांगोपांग वर्णन सम्राट् को भी सुनाया। जिन्होंने उत्तर दिया—"ऐसा महापुरुष बंदी बनाए जाने योग्य है तो नहीं, किंतु सज्जन होकर भी स्थिति के अनुसार है इस राज्य का पूर्ण और प्रबल शत्रु। छोड़ा तो वह जा नहीं सकता, किंतु कोई कष्ट न होना चाहिए।"

अनंतर प्रायः एक मास बीत गया, किंतु पुष्यमित्र ने न तो अपना मत परिवर्तित किया, न बंदी-गृह से छूटने का किंचिन्मात्र प्रयत्न। उधर कालिंग साम्राज्य यथापूर्व उत्तमता-पूर्वक चलता रहा। एक दिन एक प्रतिनर्तक ने महामंत्रीजी से निवेदन किया कि कुछ यवन-व्यापारी बहुत अच्छे-अच्छे घोड़े बेचने लाए हैं, जिन्हें वे याबू कहते हैं। यह सुनकर अश्व-प्रेम के कारण महामंत्रीजी दंडपाशाधिकरण तथा कुछ अनुचरों को साथ लेकर घोड़े देखने पधारे। यवनपति ने यथा-योग्य समादर किया, और याबुओं को देख तथा उनकी चालों का निरीक्षण करके वे बहुत प्रसन्न हुए। अनंतर कुछ याबू साम्राज्य के निमित्त मोल लिए गए। यवनपति अपने कुछ रक्षकों के साथ नगर-निरीक्षणार्थ भी जाया करते थे। नगर श्रेष्ठ अलिंदों, गवाक्षों, चतुष्कों, पण्य-वीथियों, प्रमद वनों आदि से सुशोभित था। राजकीय प्रासाद बहुत उच्च शिल्पकला

के उदाहरण दिखलाता था। मुखालिंद पर विराजकर सम्राट् यदा-कदा पौरों को दर्शन देते थे। उसके नीचेवाले फाटक से नित्यप्रति प्रचुर जन-संपात रहता था। वहाँ घंटा, वेणु, शंख, मृदंगादि के श्रवण-सुखद रव नित्य सुन पड़ते थे। बौद्ध भिक्षु त्रिचीवर पहनते तथा साधारण जनता सुंदर-सुंदर वेष्ठन, उत्तरीय तथा निम्न दुकूल धारण करती थी। सधन पौरों के उत्तरीय मुक्ता, मणि आदि से ग्रथित रहते थे। अंगुलीयक, तारहार, निष्क, भक्ति, मुक्ताजाल, रत्नजाल, रसना आदि का भी उनमें यथेष्ट व्यवहार था। स्त्रियों में कूर्पासक एवं दुकूलों का भी प्रयोग था। प्रसाधक और प्रसाधिकाएँ सधन व्यक्तियों की सेवा में प्रायः प्रयुक्त होती थीं। पुष्पों का प्रचुर प्रयोग था तथा आभूषणों का भी। पण्य-वीथियों में वणिज-व्यापार उत्तमता से चलता था। खिविर-सागर से नगर को अपूर्व शोभा प्राप्त थी। स्नानों के बहुत अच्छे प्रबंध थे, तथा नाविकों की सहायता से लोग नावों पर चढ़-चढ़कर प्रायः प्रातः एवं सायंकाल जल-केलि तथा निरीक्षण करते थे।

दूसरी ओर समुद्र नगर की शोभा बढ़ाता था। क्षितिज-पर्यंत केवल जल और आकाश ही दिखाई देते हैं, जिनका मिलान देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता है। आकाश और सिंधु का यह सम्मिलन वहाँ बहुत दूर तक चला गया है। उस स्थान पर पृथ्वी का रूप ऐसा है कि सूर्योदय और सूर्यास्त, दोनो का आनंद दर्शकों को मिलता है। सूर्यास्त के समय रश्मि-हीन रवि गोल-गोल अरुण थाल के समान क्षितिज पर समुद्र के ऊपर खड़ा-सा हो जाता है। किरणों का अभाव नेत्रों को कष्ट तो देता नहीं, इसलिये सूर्य का पूरा सुखप्रद रूप कुछ देर तक देख पड़ता है, मानो स्वयं चंद्रमा लाल रूप धारण कर समुद्र में डूब रहा हो। वह धीरे-धीरे समुद्र-तल में लीन होता हुआ अनुपम सौंदर्य दिखलाता है। इसी प्रकार सूर्योदय के समय भी भगवान् अंशुमाली मानो प्रातःस्नान करते हुए अपने रश्मि-हीन बाल रूप का जगत् को दर्शन देते हैं। ज्यों-ही-ज्यों धीरे-धीरे

दिवाकर-बिंब बाहर निकलता आता है, त्यों-ही-त्यों आकाश का यह परमोत्कृष्ट आभूषण उज्ज्वलता धारण करता जाता है। आकाश और समुद्र से मिलकर सूर्य ऐसा उठता है, मानो माता-पिता के संसर्ग से निकलकर संसार को आह्लादित करनेवाला हो। इसी प्रकार चंद्रदेव का भी उदयास्त आनंद प्रदान करता है। पूर्णमासी को एक ओर तो पश्चिम दिशा में सूर्य समुद्र-तल में लीन होता जाता है, और दूसरी ओर चंद्र उससे ऊपर उठता है, मानो दोनो ओर से ये दोनो देवता कलिंगपुरी को परम प्रिय मानकर एक के जाते हुए दूसरे को स्थानापन्न के रूप में छोड़ जाते हैं। जलधि में अनेक प्रकार की नौकाएँ पड़ी रहती थीं, जिनकी सहायता से मल्लाह लोग मीन पकड़ा करते थे। नावें छोटी-बड़ी विविध प्रकार की थीं। एक अनबुड़ी नाव में मोटे पल्लों के बीच दो-दो अंगुल का स्थान छूटा रहता था। उसमें होकर सिंधु-जल नाव में भरा रहता था, और जितना ही भार उस पर लादते जायँ, उतना ही वह समुद्र-तल के नीचे घुसती जाती थी। उसमें एक ही मनुष्य बैठता तथा मत्स्यादि का भार उस पर इतना ही लादता था कि वह सिंधु-तल के कुछ ऊपर बनी रहे।

वारिनिधि की वेलाएँ प्रतिक्षण गरजती हुई आया करती हैं, जिनका मुख्य सौंदर्य पूर्णिमा के दिन दृष्टिगोचर होता है। चार-चार हाथ तक ऊँची लहरें आती हैं, जिनसे बचकर स्नान करने में बड़ा ही कुतूहल रहता है। दो-दो, तीन-तीन ओर से लहरें इस बल के साथ आती हैं कि यदि स्नानकर्ता थोड़ा भी अचैतन्य हो जाय, तो गिर ही पड़े। पहली धारा सिंधु-तल के ऊपर-ऊपर जाकर प्रत्येक वस्तु को तट की ओर फेंकती है, किंतु वही धारा नीचे-नीचे पलटने पर उसे गहरी ओर खींच लेती है। यदि कोई स्नानकर्ता ऊँचेवाली वेला से गिर पड़े, और बहुत चैतन्य न हो, तो पलटनेवाली धारा उसे गहरे की ओर अवश्य खींच ले जाय। पूर्णिमा की वेलाएँ अपनी तीव्रता में समुद्र-तट पर प्रायः

थोड़ा-थोड़ा आगे बढ़ती जाती हैं, मानो जलधि अपने किनारे की भूमि को दुमटों से कूट-कूटकर नित्यप्रति उत्तम सड़क बनाता हो। उस उदधि-कूल के मार्ग पर प्रातःकाल तथा संध्या को घूमने से लोगों को बड़ा ही आनंद मिलता अथच स्वास्थ्य-वृद्धि भी होती है। हमारे यवनपति इन भारतीय सिंधु-वेलाओं का खेल देख-देखकर अत्यंत प्रसन्न हुए। उनके घोड़े दिनोंदिन बिकते जाते थे, तथा नवीन बराबर आया करते थे, जिससे यह व्यापार-कार्य उत्तमता-पूर्वक चल रहा था, और कोई यह नहीं कह सकता था कि यह वणिक्-समाज अपना समय नगर में अनुचित प्रकार से व्यय कर रहा था।

इनके यहाँ आने से चार ही छ दिनों के पीछे दंडपाशाधिकरण के यहाँ से आकर एक दंडपाशिक ने यवन-व्यापारी को दंडपाशालय के लिये आहूत किया। उन्होंने जाकर पूछा, तो प्रकट हुआ कि पाटलिपुत्र-साम्राज्य से भेजा हुआ महासेनापति बहसतिमित्र का प्राभृतक महामंत्री के पास आया था, जिसमें अंतरराष्ट्रीय दंड-विधान के अनुसार यवन-व्यापारी को पाटलिपुत्र भेजने का प्रस्ताव किया गया था। व्यापारी महोदय ने इस कार्य वाही से घोर विरोध किया, और अपनी ओर से किसी दंडनीय अत्याचार का होना अशुद्ध ठहराया। उनका कहना यह था कि उस साम्राज्य में उनके घोड़े छीनने के विचार से कुछ दस्युओं ने आक्रमण किया, तथा कई तुरी वे ले भागे। इनके कुछ अनुयायियों ने उनका पीछा किया। दोनो ओर से थोड़े ही काल बाण-वर्षा हुई, और घोड़े सब वापस आए। उधर दस्युगण पलायित हो गए। यवनों में कोई हताहत न हुआ, न किसी डकैत के आहत होने का अनुमान था। ऐसी दशा में यवन-दल की ओर से कोई ऐसा अनुचित कार्य न हुआ, जिसके कारण वहाँ के दंडपाश-विभाग से कोई पूछ-गछ होती। कालिंग दंडपाशाधिकरण ने कई साक्षियों के कथन प्रमाण-स्वरूप में लिख पत्र महादंडनायक की सेवा में भेज दिया। उन्होंने महामंत्री का भी आशय प्राप्त करके नाहीं-सूचक प्राभृतक

पाटलिपुत्र को भेजवा दिया। इसकी सूचना सम्राट् को भी दे दी गई।

अनंतर यवन-व्यापारी ने महामंत्री से यह प्रार्थना की कि स्वयं उन्हीं के चोर पुष्यमित्र का साम्राज्य में पकड़ा जाना सुनकर वह उसे देखना चाहते थे। पहले तो महामंत्री को बड़ा संकोच हुआ, किंतु पीछे न्याय के औचित्य पर ध्यान देकर उन्होंने यवन-व्यापारी को पुष्यमित्र के सम्मुख उपस्थित कर दिया। नेत्र मिलते ही पहले तो गुप्त भाव से दोनो मुस्कराए, किंतु इसे गुप्त ही रखकर महामंत्री की उपस्थिति में उनमें आलाप होने लगा।

यवन-व्यापारी—"कहो बंदा! मेरा नौलखा हार चुराकर अब यहाँ आ फँसे हो। पहुँच न गए अपने दर्जे को? और मेरा हार उड़ाइए।"

पुष्यमित्र—"मुँह सँभालकर बात कीजिए, व्यापारी महोदय! यह नहीं जानते, किससे बात कर रहे हो?"

यवन-व्यापारी—"बात करता हूँ अपने चोर से। क्या मैं आपसे डर जाऊँगा? वज़ीर आज़म साहब से पहले ही अर्ज़दाश्त कर चुका हूँ।"

महामंत्री—"राजपुत्र महोदय! यह क्या बात है? मुझे तो अचंभा हो रहा है।"

यवन-व्यापारी—"तअज्जुब की कौन-सी बात है? क्या कुछ झूठ कह रहा हूँ?"

पुष्यमित्र—"आर्य! इस यवन-व्यापारी के कथन नितांत अनर्गल हैं, किंतु यह अभियोग अब पहुँचेगा देव की भी सेवा में; इससे यदि उनकी आज्ञा हो, तो उन्हीं के सम्मुख निर्णय हो जाय।"

महामंत्री—(यवन-व्यापारी से) "क्यों, आप इस पर क्या कहते हैं?"

यवन-व्यापारी—"मुझे भी इससे कोई एतराज़ नहीं है।"

एकादश परिच्छेद

यवन-व्यापारी

(अ) न्यायालय

यवन-व्यापारी जब कलिंग-नगर में पहुँचा था, तभी नियम-पूर्वक सूचना कराकर सम्राट् की सेवा में उपस्थित हुआ था, जहाँ उसने प्रायः दस-दस सहस्र रजत-पण के मूल्यवाले पाँच परमोत्कृष्ट याबू भेंट किए थे। उसी समय से इसका मान साम्राज्य में होने लगा था। आज अभि-योग के निर्णयार्थ देव का अंतरंग दरबार सुसज्जित हुआ, जिसमें महा-दंडनायक और दंडपाशाधिकरण भी उपस्थित हुए। पहले यवन-व्यापारी बुलाकर योग्य आसन पर बिठलाया गया, और सम्राट् ने उससे कथनोप-कथन किए।

सम्राट्—"व्यापारी! महाराज बहसतिमित्र क्या किसी कारण-वश आपसे अप्रसन्न हैं?"

यवन-व्यापारी—"जब मैं याबू बेचने पाटलिपुत्र गया था, तब एकाध मर्तबा उनके बेटे पर नौलखा हार की चोरी का ज़ुर्म, बातों-ही-बातों में लगाया था। शायद इस बात का पता उन्हें भी लग गया। इधर मैं हुज़ूर की सरहद के नज़दीक पहुँच गया। एक दिन मैंने देखा, वहाँ से हज़ार-दो हज़ार फ़ौज आ रही थी। शक तो था ही, मैं फ़ौरन् सल्तनत हाज़ा के भीतर घुस आया, और वे फ़ौजी अपना-सा मुँह लेकर रह गए। सुना गया है, उनमें से कुछ अब भी सरहद पर मौजूद हैं। यही बात समझ पड़ती है।"

सम्राट्—"आपने एक बड़े ही धर्मात्मा पुरुष को चोर कहने का साहस किया है। आशा है, इस पर पूर्ण विचार कर लिया होगा।"

यवन-व्यापारी—"इसमें क्या शक है? खुदावंद! वह इतना रास्तगो है कि झूठ तो कहेगा नहीं, सिर्फ़ पूरी बात न बतलाने की कोशिश करेगा। अगर मुझे इस क़िमाश की भी गुफ़्तगू करने की इजाज़त हो जाय कि उसे कुछ नाराज़ कर सकूँ, तो उम्मीद है, जज़्बे में आकर उबल पड़ेगा। यहाँ सिवा हमशीरा साहबा के मेरा कोई गवाह तो मौजूद है नहीं।"

सम्राट्—"आपको हर प्रकार से हास्य-रस-गर्भित कथन तक करने का अधिकार दिया जाता है, जिसमें पूर्ण न्याय हो सके।"

यवन व्यापारी—"बड़ी मेहरबानी हुई; खुदावंद नेमत!"

अनंतर पुष्यमित्रजी भी दरबार में आहूत होकर नियम-पूर्वक आसीन हुए।

सम्राट्—"कहिए, विद्यार्थीजी! आप इस यवन-व्यापारी को जानते हैं क्या?"

पुष्यमित्र—"यह व्यापारी महोदय, देव! मुझे भली भाँति ज्ञात हैं। यह बल्ख के एक बड़े उच्च कुल के धन-कुबेर व्यापारी हैं। उदारता बहुत बढ़ी-चढ़ी है, तथा सज्जनता में एक ही हैं। मुख से मिथ्या वचन भूलकर भी नहीं निकाल सकते।"

सम्राट्—"जानते हो, इन्होंने आपके ऊपर चौर कर्म का अभियोग लगाया है।"

पुष्यमित्र—"यह तो इनका विचार है, जिसका निर्णय देव की आज्ञा पर निर्भर है। हम लोगों का काम तो घटना-चक्र का यथातथ्य रूप उपस्थित करना है, जिसमें इनकी ओर से भी त्रुटि न होगी, ऐसा मुझे निश्चय-सा है। इनका आचरण मैं भली भाँति जानता हूँ, बड़े ही सज्जन हैं।"

यवन-व्यापारी—"बंदी ! मेरी इतनी खुशामद क्यों कर रहे हो ? इससे कोई रिआयत न होगी ।"

पुष्यमित्र—"चाटुकारिता के मैं निकट नहीं जाता, किंतु 'शत्रोरपि गुणा वाच्या, दोषा वाच्या गुरोरपि ।'"

यवन-व्यापारी—"यह क्या बक गए ? बंदी !"

पुष्यमित्र—"प्रयोजन यह है, व्यापारीजी ! कि शत्रुओं के भी गुण तथा गुरुओं के भी दोष कह देना योग्य है ।"

सम्राट्—"फिर आपके ऊपर ऐसा भयानक अभियोग क्यों लगा रहे हैं ?"

पुष्यमित्र—"बहुत श्रेष्ठ पुरुष होकर भी, देव ! इतनी विक्षिप्तता-सी इनमें है कि मुझे किसी प्रकार से बलख में ही रखना चाहते हैं ।"

सम्राट्—"अच्छा, व्यापारी ! अब अपना कथन करो ।"

यवन-व्यापारी—"जो हुक्म । अच्छा, बंदी ! यह बतलाओ कि तुमने चोरी करनी कब से सीखी ?"

पुष्यमित्र—"इस विद्या का कोई गुरु भारत में तो मिला नहीं, बाह्लीक में जब गया, तब जो-जो वहाँ आप लोगों ने सिखलाया, वह सब सीखना ही पड़ा ।"

यवन-व्यापारी—"ओह्‌खोह ! बड़े साहूकार बनते हैं; अभी कल आप ही की सल्तनत में मेरे शाबुओं पर डाका पड़ा या नहीं ?"

पुष्यमित्र—"वह कौन चोरी थी ? बल-प्रयोग की बात थी । आप ही लोग मथुरा-पर्यंत सप्तसिंधु पर क्यों अधिकार किए हुए हैं ? यह उससे भी बढ़कर डकैती क्या नहीं है ?"

यवन-व्यापारी—"इसकी जवाबदिही मुझ पर क्या है ? मैं तो एक रोज़गारी शख़्स हूँ ।"

पुष्यमित्र—"किंतु यवन तो हैं, और उन्होंने हमारे प्रांत छीने हैं ।"

यवन-व्यापारी—(तलवार दिखाकर) "अगर आप ऐसी गुफ़्तगू करते हैं, तो इसी तेग़ के बदौलत हमारे इस्तेहक़ाक़ हैं; ताक़त हो, तो हिफ़ाज़त कर न लीजिए।"

पुष्यमित्र— उसी खड्ग के बल पर तो उन दस्युओं ने भी आक्रमण किया था; तब फिर चें-चें क्यों करते हैं ?"

सम्राट्—"अजी ! अपने मुख्य प्रश्न पर आओ, अनावश्यक तर्क में क्यों पड़ते हो ?"

यवन-व्यापारी—"अच्छा, बंदी ! तुमने मेरी हम्शीरा का नौलखाहार चुराया या नहीं ?"

पुष्यमित्र—"नहीं ; वह उनका न होकर स्वयं आपका था।"

यवन-व्यापारी—"अच्छा, मेरा ही सही ; वह आपके पास है या नहीं ?"

पुष्यमित्र—"वह बहुमूल्य तारहार मेरे पास है अवश्य।"

यवन-व्यापारी—"अब आए रास्ते पर ; अच्छा, वह आपको मिला कैसे ?"

पुष्यमित्र—"आप ही ने दिया।"

यवन-व्यापारी—"जिन शरायत पर दिया था, उनकी पाबंदी शायद आप कर रहे होंगे।"

पुष्यमित्र—"उसके देते समय आपने कोई नियम किए ही कब थे ? वे तो पीछे की बातें थीं। क्या यह सत्य नहीं है ?"

यवन-व्यापारी—"है सच ज़रूर, मगर मेरे शरायत की पाबंदी तो न हुई।"

पुष्यमित्र—"मेरा नौलखाहार क्यों दाबे बैठे हैं ? उसे वापस कर न देवे ?"

यवन-व्यापारी—"जो चीज़ पसंद आ चुकी, और ख़ुशी से पा चुका, उसे क्यों फेरूँ ?"

पुष्यमित्र—"फिर अपने अस्वीकृत नियमों पर क्यों हठ करते हैं? क्या बल्ख़ के तथ्य भाषण का यही उदाहरण है?"

सम्राट्—"अपनी कथा कुछ विस्तार के साथ कहिए। बातें आपकी समझ में आ नहीं रही हैं। यदि आप ही दोनो निर्णय कर सकते, तो मेरे पास अभियोग क्यों लाते?"

पुष्यमित्र— अपराध क्षमा हो, देव! अब विस्तार-पूर्वक विनती करता हूँ। बात यह है कि इनके नगर में मैंने एक कुलिक के द्वारा अपने निष्क का प्रतिरूप बनवाया। उसने विना मेरी आज्ञा के प्रदर्शनार्थ उसे अपने कला-भवन में रख दिया। वहाँ इन्होंने अपनी भगिनी के साथ उसे देखा। देखना था कि आप उस पर लट्टू हो गए। बहन ने ऐसा लालच छोड़ने को बहुतेरा समझाया, किंतु न माने।"

यवन-व्यापारी—"हाँ, कहते जाओ, बंदी!"

पुष्यमित्र—तब, देव! इन्होंने मेरे सेवकों से पुछवाया कि वह मूलहार बिकाऊ था अथवा नहीं? उन्होंने उत्तर दे दिया कि वह तो बिक ही चुका था। इस पर दो-चार दिनों तक इन्होंने उसकी इच्छा छोड़ने का प्रयत्न किया, किंतु पीछे अपनी भगिनी के साथ यह व्यापारी महोदय अपना नौलखा हार हाथ में नचाते हुए विश्वविद्यालय में दो बार आए, तथा एक-एक, दो-दो घड़ी-पर्यंत मेरा हार कुछ दूरी से देखते रहे। अनंतर दूसरे ही दिन इन्होंने मुझसे विना एक अक्षर कहे-सुने गले से मेरा चौलखा हार निकाल लिया, और अपना नौलखा मेरी ओर फेंककर आप चलते बने।"

सम्राट्—"बड़े आश्चर्य की बात है। क्या आप दोनो एक दूसरे को तब तक जानते भी न थे?"

पुष्यमित्र—"जानते अवश्य थे, किंतु किसी के द्वारा नियम-पूर्वक परिचय नहीं कराया गया था। मैं भौचक्का-सा रह गया।"

यवन-व्यापारी—"यहाँ तक आपका बयान है सही, मगर क़िस्सा यह

फ़र्माइए कि मेरा हार देखकर दिल-ही-दिल आप भी उस पर लट्टू हो गए थे या नहीं ?"

पुष्यमित्र—"हो अवश्य गया था। उस समय मेरे लोभ की सीमा न रही थी, किंतु मैंने उसे इन पर प्रकट न होने दिया। उधर इनकी लालसा मेरे चौलखे पर प्रत्यक्ष थी।"

यवन-व्यापारी—"आपने यह बात जानी कैसे, जब आप ही के मुताबिक़ कोई गुफ़्तगू हुई नहीं ?"

पुष्यमित्र—"जानी आपके आचरण से।"

यवन-व्यापारी—"तो क्या मैं आपके तर्ज़-अमल के लिये अंधा था ? मैंने भी जान लिया कि आप मेरे हार पर फ़रेफ़्ता हैं।"

पुष्यमित्र—"ऐसा संभव था।"

सम्राट्—"फिर आपने इन्हें अपना हार लेने से रोका क्यों नहीं, जब आप ही के अनुसार वह न केवल बिकाऊ न था, वरन् आपका माल भी न था ?"

पुष्यमित्र—"देव ! जब इन्होंने एकाएक उसे उतार ही लिया, और अपना फेंक दिया, तब मैं हक्का-बक्का-सा रह गया। इनके हार का भी लोभ इतना प्रबल हो उठा था कि मेरे लिये उस काल उसका त्याग असंभव हो गया।"

सम्राट्—"मैं तो आपको निर्लोभी समझता था।"

पुष्यमित्र—"देव ! समय ही तो है; प्रत्येक दशा में लोभ को स्ववश रखना बहुत कठिन है। प्रयत्न अवश्य करता हूँ, किंतु इनके निष्क की दीप्ति जगन्मोहिनी थी।"

यवन-व्यापारी—"बंदी ! तुम हो ईमानदार। बात सच ही सच कहते हो। जो सुन पड़ता है कि कोई हिंदुस्तानी एक भी झूठ लफ़्ज़ मुँह से नहीं निकाल सकता, वह सच साबित हो रहा है।"

पुष्यमित्र—"यह कहना तो आप ही के राजदूत मेगास्थनीज़ का है।"

यवन-व्यापारी—"वही तो मैं भी कहता हूँ।"

सम्राट्—"अच्छा, फिर आगे का विवरण सुनाओ।"

पुष्यमित्र—"हम लोग देव का बहुमूल्य समय तो नहीं नष्ट कर रहे हैं?"

सम्राट्—"नहीं, तुम्हारी कथा तो उपन्यासों के समान आनंद-प्रद है।"

पुष्यमित्र—"अच्छा, तब फिर कहता हूँ। मैंने दो-तीन दिनों में अपना चित्त स्ववश कर लिया कि इतने में इनका एक उच्च कर्मचारी सुसज्जित रथ लेकर मुझे बुलाने आया। मैंने धन्यवाद के साथ उसे उलटा भेज दिया, जिसका प्रत्यक्ष तात्पर्य यह था कि मैं न तो नौलखा लेना चाहता था, न अपना चौलखा देना। इस पर इनका कर्मचारी फिर आकर कहने लगा कि मुझे और नहीं, तो कृपा करके ही जाना चाहिए। विवश होकर मैं गया, और इन्होंने मुझसे यह प्रस्ताव किया कि इनको शस्त्रास्त्र-प्रहार तथा भारतीय भाषा सिखला दूँ। मैं बहुत कुछ नाहीं-नूहीं करता रहा, किंतु एक न सुनी गई, और मुझे यह अवैतनिक सेवा स्वीकार ही करनी पड़ी।"

यवन-व्यापारी—"देव! इनकी नहीं 'मन भावे, मूड़ हिलावै' का नमूना थी। उस वक्त आप मुग्धाओं की-सी नख़रेबाज़ियाँ कर रहे थे।"

पुष्यमित्र—"इसमें भी है कुछ तथ्यांश। इनका सौजन्य इतना चढ़ा-बढ़ा था, और वह नौलखा मुझे ऐसा भाया कि मैं एक प्रकार से विवश हो गया। तब इन्होंने मेरी दशा समझकर मुझे वहीं रखने का प्रस्ताव उठाया, जिसे मैंने दृढ़ता-पूर्वक अस्वीकृत कर दिया। मैं इनका हार फेरने को भी प्रस्तुत रहा, किंतु इन्होंने न तो मेरा हार फेरा,

न अपना लिया, और न नवीन नियम शिथिल किए। विवश हो, इनसे कह-सुनकर मैं स्वदेश चला आया।"

सम्राट्—"व्यापारी! क्या ये बातें सत्य हैं?"

यवन-व्यापारी—"ज़रूर, खुदावंद!"

सम्राट्—"जब आप अपना हार फेर लेने को भी प्रस्तुत नहीं, तब इन्हें चोर कैसे बतलाते हैं?"

यवन-व्यापारी—"अगर यह बंदी मेरे हार की तमा छोड़ दे, तो मैं चोरी का इल्ज़ाम वापस ले लूँ।"

पुष्यमित्र—"लोभ तो मुझे उसका अवश्य है, किंतु उसके लिये मैं यत्नवान् कभी नहीं हुआ।"

यवन-व्यापारी—"जब लालच नहीं छोड़ते, तब उसे वापस लेना क्या मेरी इज़्ज़त के ख़िलाफ़ नहीं? बनते तो बड़े मज़हबी हैं, मगर तमा नहीं छूटती।"

पुष्यमित्र—"मनुष्य भी तो हूँ; चित्त को किसी ने जीत पाया है, जो मैं ही जीत लूँ?"

यवन-व्यापारी—"तब चौलखा न वापस देने में मेरा ही क्या क़ुसूर है?"

पुष्यमित्र—"मैं तो चित्त-वृत्ति के लिये कोई प्रयत्न नहीं करता, किंतु यह ढूँढ-खोजकर मेरे पीछे पड़े हैं। यहाँ बंदी-गृह में भी पिंड नहीं छोड़ते, तथा अपमान-जनक वचन तक मुँह से निकालते हैं। बहुत समझाया कि एक तो चौलखा नौलखे के समान नहीं, दूसरे, तीन-चार वर्ष के व्यवहार से पुराना भी हो गया है, तथा आपका नौलखा चमाचम चमक रहा है। अपना ले लो, और मेरा दे दो, किंतु नहीं सुनते। वह बिक जाने से मेरा माल भी नहीं है। कहते हैं, मालधनी से समझ लूँगा, आपकी क्या हानि है?"

सम्राट्—तो आप फेर क्यों नहीं लेते?"

यवन-व्यापारी—"एक तो इनका लालच नहीं छूटता ; दूसरे, इन्हें हार परखने की अक्ल कहाँ है ? मैं उसे पंद्रह लाख का आँकता हूँ।"

सम्राट्—"फिर नौलखे के पीछे इन्हें चोर क्यों बनाते हो ?"

यवन-व्यापारी—"अगर यह अब भी कह दें कि वह पंद्रहलखा है, तो मैं झगड़ा छोड़ दूँ ।"

पुष्यमित्र—"मैं मिथ्या भाषण कैसे कर सकता हूँ ? मेरा तो नौलखा था, जो व्यवहृत होने से कदाचित् नैलखा ही-सा रह गया है ।"

यवन-व्यापारी—"फिर नौलखा मुफ़्त में क्यों लेना चाहते हो ? बड़े चालाक हो ।"

पुष्यमित्र—"मैं कब चाहता हूँ ?"

सम्राट्—"अच्छा, वे हार हैं कहाँ ?"

यवन-व्यापारी—"मेरा तो बल्ख़ में रक्खा है ।"

पुष्यमित्र—"और मेरा पाटलिपुत्र जा चुका है ।"

यवन-व्यापारी—"जब आप छ लाख का माल मुफ़्त में पा रहे हैं, तब मेरी शर्त क्यों नहीं मानते ?"

पुष्यमित्र—"छ लाख पर मैं क्या स्वयं बिक जाऊँगा ?"

यवन-व्यापारी—"तब मैं ख़ुदावंद नेमत से पुकार करता हूँ कि मेरा इंसाफ़ हो ।"

पुष्यमित्र—"देव ! यह मुझे इसके लिये ज़ालिम भी बना चुके हैं ।"

यवन-व्यापारी—"पहले आपने मुझे अत्याचारी कहा था ।"

पुष्यमित्र—"इन्हीं बातों पर एक बार तलवार भी तो चल चुकी है ।"

यवन-व्यापारी—"उसका नतीजा क्या हुआ था ? आप ही की तलवार दो टुकड़े होकर गिर गई थी या नहीं ? जी चाहे, तो फिर से निकल आइए ।"

पुष्यमित्र—"लड़ने-भिड़ने का क्या काम है, केवल अपमान-सूचक बात न कहो। अंध, बधिर, मूर्ख, सब कुछ तो बना चुके हो।"

यवन-व्यापारी—"मैं तो सौ में चोर कहूँगा। अंधा, बहरा वग़ैरह तो ग़ुस्से में कह बैठा था।"

पुष्यमित्र—"तब आप यहाँ से निकल जाइए, नहीं तो मुझे नर-वध का पातक लेना होगा।"

यवन-व्यापारी—"वह गुनाह मुझी को लेना मंज़ूर है; बंदी! आप अपने को समझते क्या हैं?"

पुष्यमित्र—"अच्छा, मुझे किसी दशा में आपके यहाँ जाना स्वीकार नहीं।"

यवन-व्यापारी—"क्या आप रज़ामंदी से जायँगे, या ख़ुशी से बंदी हुए हैं?"

सम्राट्—"आप दोनो में असली झगड़ा क्या है, यह मेरी समझ में नहीं आता। केवल बात-की-बात जान पड़ती है।"

यवन-व्यापारी—"अच्छा, देव! अगर इस बंदी को ज़रा देर के लिये बाहर भेजने की मेहेरबानी फ़र्माई जाय, तो मैं अर्ज़ कर सकता हूँ।"
अब सम्राट् की आज्ञा से पुष्यमित्र दंडपाशाधिकरण के साथ मंत्रिमंडल के सम्मेलन-गृह में ले जाए जाते हैं, तथा सम्राट् से यवन-व्यापारी फिर आलाप करता है।

यवन-व्यापारी—"हमारे शाहे-बल्ख़ इस शख़्स के फ़ने-जंग से निहायत शाद हैं, और इसे अपना सिपहदारुमुल्क बनाना चाहते हैं, मगर यह ऐसा ज़िद्दी व ख़ुदराय है कि दूसरे की बात सुनता ही नहीं। मैं किसी तरह इसे बल्ख़ ले जाना चाहता हूँ। अगर ख़ुदावंद नेमत की मेहेरबानी होगी, तो कामयाब हो जाऊँगा। बशर्ते कामयाबी शाहे-बल्ख़ मुझे २१ लाख पण इनाम बख़्शने को तैयार थे।"

सम्राट्—अब जाकर बात समझ में आई। सुनिए व्यापारी! इस

परम प्रवीण योद्धा को मैं बलख़ तो किसी दशा में भेजूँगा नहीं, किंतु यदि आप इसे मेरे यहाँ महासेनापति करा दें, तो आपको ५० लक्ष रजत-पण दे सकता हूँ।"

यवन-व्यापारी—"मेरे कहने की वक़त तो यह करता नहीं, लेकिन मेरी बहन हिप्पालिटा से अक्सर नाहीं नहीं करता। क़ैदख़ाने में तो उनसे भी बात न करेगा, मगर मेरे ख़ेमे में अगर १५ दिनों तक रक्खा जा सके, तो उनके असर से शायद मान जाय। हिफ़ाज़त का इंतिज़ाम हुज़ूर के ज़ुम्मे होगा ही। मेरे पास भी काफ़ी सिपाही हैं, ताहम शाही फ़ौज की बात ही और होती है।"

सम्राट्—"देखो व्यापारी! आपको अपने खड्ग की शपथ खानी होगी।"

यवन-व्यापारी—"इसमें मुझे क्या इनकार हो सकता है? मर्द की बात एक होती है। शक की अगर गुंजायश हो, तो मुझे रुख़सत फ़र्माया जाय, क्योंकि मेरी कोशिश तो बलख़ के लिये नाकामयाब हो ही गई। अब यहाँ मेरा कोई काम बाक़ी नहीं।"

सम्राट्—"नहीं व्यापारी! आप अप्रसन्न क्यों होते हैं? क्या पुष्यमित्र भी शपथ लेगा?"

यवन-व्यापारी—"वह इन बातों में कभी पड़ता ही नहीं। यही तो उसकी ज़िद है।"

सम्राट्—"अच्छा, आपके ऊपर मुझे भरोसा है ही।"

अब पुष्यमित्रजी फिर आहूत होकर अपने आसन पर विराजते हैं।

यवन-व्यापारी—"बंदी! आप दस-पंद्रह दिनों के लिये मेरे ख़ेमे चलिए।"

पुष्यमित्र—"व्यापारी! आप अनावश्यक कष्ट उठाते हैं। मुझे आपके साथ त्रिकाल में भी नहीं जाना है। अपमान के पीछे शिविर में जाना कैसा?"

यवन-व्यापारी—"बंदी! आप बलख़ न चलिए, मैं आपकी यह

ज़िद माने लेता हूँ कि अपने ही देश में रहिए। यहीं के बाबत मैं बात करूँगा।"

पुष्यमित्र—"आप तो अब एक भारतीय राजनीतिज्ञ होते दिखाई देते हैं। मुझे क्षमा कीजिए। मैं भवदीय शिविर के आगे बंदी-गृह में ही अच्छा। अपमान और आतिथ्य आप एक में मिलाना चाहते हैं।"

यवन-व्यापारी – "मैं जानता था, आप मेरे साथ जाना पसंद न करेंगे। क्या हिप्पालिटा बहन को बुलवाऊँ ?"

पुष्यमित्र—"उस उच्चाशया महिला को क्यों कष्ट देते हो ? अच्छा, यदि देव की आज्ञा हो, तो मैं चलने को प्रस्तुत हूँ, किंतु दस दिनों से अधिक वहाँ न रहूँगा। एक यह भी निबंध है कि आप कोई अपमानजनक शब्द न कहेंगे, यदि अब अंध, बधिर आदि कहा, तो तलवार खिंच जायगी।"

यवन-व्यापारी—"ये शरायत मुझे मंज़ूर हैं। क्या मैं पागल हूँ, जो बेकार को दुश्नाम ज़बान पर लाऊँ ?"

पुष्यमित्र—"अभी तक क्या कर रहे थे ?"

यवन-व्यापारी—"उसके लिये मुआफ़ी माँगता हूँ।"

सम्राट्—"मेरी भी आज्ञा आपके वहाँ जाने की है।"

पुष्यमित्र—"जैसा शासन होगा, वही करूँगा, देव ! जब क्षमा के भी प्रार्थी हैं, तब क्रोध का प्रश्न भी नहीं रहता।"

(ब) बंधन-मुक्ति

अनंतर पुष्यमित्र बंदी-गृह से मुक्त होकर यवन-व्यापारी के अतिथि बने, तथा इनके शेष सेवक पाटलिपुत्र चले गए। नियम यह रहा कि एक शत दंडपाशिक यवन-पट-भवनों के रक्षक रहें, प्रति प्रातःकाल दंडपाशाधिकरण पुष्यमित्र से मिल लिया करें, तथा इनके बाहर जाने में दो दंडपाशिक साथ रहें। यवन-दल में कुल मिलाकर २१ स्त्री-पुरुष थे, जो प्रायः नित्यप्रति यत्र-तत्र घूमा करते थे। दल अपने देश जानेवाला था, जिससे प्राचीन घोड़े शीघ्रता-पूर्वक बेचने तथा नवीन न मँगाने की

आयोजना हो चुकी थी। प्रायः २५ कालिंग सेवक भोजनादि के प्रबंध पर नियत थे। डेरों का पूरा ब्योरा भी कालिंगों में से एक मुख्य कर्मचारी के अधिकार में था, जिसके पास दो-चार सहस्र रजत-पणों का कोष भी रहता था। फल यह था कि यवन लोग धूमधाम में स्वच्छंद रहा करते थे, तथा शिविर का सब प्रबंध चला ही करता था। वहाँ पुष्यमित्र के पहुँचने के दो-तीन दिन के भीतर सब बिक्रीवाले माल बिक गए, और एक दिन दंडपाशाधिकरण से मिलने के पीछे दाढ़ी-मूछ मुड़वाकर तुरंत इन्होंने कल्पित मुच्छ और श्मश्रु लगाए, तथा यवनों के-से वस्त्राभूषण पहनकर पूरा-पूरा यवन-रूप धारण कर लिया। अनंतर यवन-व्यापारी तथा उनकी भगिनी के शरीर-रक्षकों में मिलकर उन्हीं के साथ प्रायः १९ लोगों के गोल में नगर के बाहर एक पुरातत्त्व-संबंधी स्थान देखने को पयान कर गए। उधर शेष दसों यवन भी मृगया के ब्याज से बाहर चले गए। विविध युक्तियों से सारी बहुमूल्य सामग्री चलाई जा चुकी थी। अब पहले ही से निश्चित स्थान पर मिलकर यह सारा अश्वारोही यवन-दल परम शीघ्रता के साथ राजगृहवाले महाराज्य की ओर पलायित हुआ, जहाँ पहले ही से महाराजा बहसतिमित्र की कुछ सेना सीमा पर गुप्त रूप से लगी हुई थी। कालिंग साम्राज्य को उस ओर से कोई खटका न होने से वहाँ उसका कोई विशेष प्रबंध न था, जिससे राजगृह की सेना के पंचशत सैनिक मृगया-ब्याज से कालिंग राज्य में घुसते चले जाते थे। जब संध्या-काल-पर्यंत कोई यवन डेरे को न लौटा, तब रक्षक दल को कुछ संदेह हुआ। उसके खान-पान का प्रबंध यवन-व्यापारी की ओर से होता था, जो उस दिन भी हो रहा था। रक्षकों के पूछने पर मुख्य प्रबंधक ने कहा कि व्यापारी महोदय अर्धरात्रि के निकट पलटने को कह गए थे।

इस कथन से रक्षकों को संतोष हो गया, क्योंकि पुष्यमित्र को बाहर जाते हुए उन्होंने देखा न था, और वह बाहर प्रायः जाते भी न थे,

वरन् अपने पटभवन में ही दिवस बिताते थे। उसका सारा प्रबंध आज भी नित्य ही-सा था। रक्षकवर्ग उन्हें उसी में स्थित समझता रहा। उसके अंदर झाँकने का न तो किसी ने साहस किया, न आवश्यकता समझी। वहाँ का सारा प्रबंध साधारण रूप से चलता रहा। जब अर्द्ध रात्रि-पर्यंत कोई न पलटा, और पुष्यमित्र का पटभवन भी देखा जाकर रिक्त पाया गया, तब भारी खलबली पड़ी। तुरंत दंड-पाशाधिकरण को सूचना दी गई। इन्होंने महामंत्री तथा महासेनापति से भी विवरण निवेदित किया। सम्राट् की आज्ञा से अति शीघ्र घुड़-सवार तथा साँड़िनी-सवार दौड़ाए गए, जिन्होंने अंतपालों को चैतन्य किया। उधर यवन-दल यत्र-तत्र लुकता-छिपता तीन-चार दिनों में महाराज बहसतिमित्र की मृगयासक्त सेना से जा मिला। इस दल ने शीघ्रता-पूर्वक राजगृह की ओर पयान किया, किंतु सीमा के निकट प्रायः एक सहस्र कालिंग दल मार्गावरुद्ध किए हुए एकत्र पाया गया। अपने दल ने दूतों द्वारा राजगृहवाले सीमाप्रांतीय दल को चैतन्य किया, तथा इन सैनिकों ने दोनो ओर से घेरकर कालिंग टुकड़ी पर अस्त्र-वर्षा प्रारंभ की। युग प्रहर-पर्यंत घोर समर होता रहा, और तब कालिंग दल ने विशेष क्षति देखकर युक्ति-पूर्वक हतशेष सेना मोड़ ली, तथा यवन-सेना ने, राजगृह की संरक्षकता में, कुशल-पूर्वक यथा समय सुगांगीय प्रासाद में प्रवेश किया। पुष्यमित्रजी तथा यवन-व्यापारी ने महाराजा बहसतिमित्र के दर्शन करके उनके पाद-स्पर्श से अपने को पुनीत किया। उन्होंने इन दोनो के मूर्द्धा-घ्राण करके भूरि-भूरि आशीर्वाद दिए। सारी सेना के सुपास का उचित प्रबंध कर दिया गया, तथा पाँचवें वर्ष प्राण-प्रिय पुत्र के महासाफल्य के साथ घर आने पर राजपरिवार ने हर प्रकार से मंगल मनाया।

(स) पूर्व का वृत्तांत

जिस काल मगध एवं राजगृह को धनभूति तथा इतर लोगों के

द्वारा पुष्यमित्र के कलिंग में बंदी होने का समाचार मिला था, तब एकाएकी शोक-सागर-सा उमड़ पड़ा था। महाराजा बृहस्पतिमित्र, रानी वैजयंती तथा मातामहीजी, सभी अत्यंत विकल हुई थीं। महाराजा ने तो फिर भी अपनी यौगिक शक्ति के कारण धैर्य धारण किया था, किंतु दोनो राजमहिलाओं का क्लेश असीम था। सम्राट् को भी घोर चिंता हुई थी। कलिंग पर आक्रमण करने में कुमार पर जोखिम का भय था, अथच किसी अन्य प्रकार से उनके बंधन-मुक्त होने की भी युक्ति ध्यान में नहीं आती थी। दूतों, चरों, छिद्रान्वेषकों आदि से मंत्रणाएँ हो रही थीं, तथा कुछ चर विविध गुप्त रूपों में उस ओर धावित भी हुए थे, किंतु साफल्य का रूप देख नहीं पड़ता था। रानी वैजयंती की करुणा कम करने के विचार से महाराजा उन्हें बहुत समझाते थे, किंतु कोई फल न निकलता था। सारा प्रासाद करुणा-क्रंदन का केंद्र बना हुआ था। इसी प्रकार प्रायः एक पक्ष बीत गया, और तब उपर्युक्त यवन-व्यापारी-दल मगध में उपस्थित होकर यथासमय राजगृह भी पहुँचा था। मुख्य यवन-व्यापारी महाराजा से एकांत में मिलकर पुष्यमित्र की बंधन-मुक्ति पर विचार-विनिमय करने लगा था। यों तो उसका विश्वास किया न जाता, किंतु धनभूति के आश्वासन पर वह कौटुंबिक व्यक्तियों के समान माना जाने लगा था। सारे विचार दृढ़ करके उसने कलिंग की ओर जाने का संकल्प किया था, तथा पयान के संबंध में प्रकट में महाराजा से शत्रुता का व्यवहार स्थापित करने का संकल्प हुआ था, जिसमें कलिंग में इसके मागधों के पक्षी होने का संदेह न हो। धनभूति के साथ यवन-व्यापारी रानी वैजयंती की सेवा में भी उपस्थित हुआ था, और उन्होंने पति के मोचन में पूर्णतया यत्नवान् होने के लिये उसे भरसक प्रोत्साहित किया था। बात उस समय यों हुई थी।

वैजयंती—"व्यापारीजी! यदि आप किसी प्रकार मेरे सिंदूर की रक्षा कर सकें, तो मैं यावज्जीवन आपकी आभारी रहूँगी।"

यवन-व्यापारी—"प्यारी बहन ! आपको कोई फ़िक्र यानी चिंता करने की ज़रूरत नहीं। मैं उम्मीद यानी आशा करता हूँ कि बहुत जल्द उन्हें छुड़ा लाऊँगा।"

वैजयंती—"व्यापारी ! यदि तुम ऐसा कर सको, तो चाहे मेरा सारा महाराज्य पारितोषिक में ले लेना, मुझे आपके लिये धर्म के अतिरिक्त कुछ भी अदेय न होगा।"

यवन-व्यापारी—"आप इसकी फ़िक्र न करें। इत्तलइम्कान यानी यथा-साध्य मैं कामयाब यानी सफल हूँगा। आप अभी से उन्हें रिहा यानी मुक्त समझें।"

वैजयंती—तब मुझसे आप जो माँगेंगे, मैं नाहीं न करूँगी।"

यवन-व्यापारी—"आपकी मेहेरबानी यानी कृपा से मैं यों ही ख़ुश-ख़ुर्रम हूँ। आप महल में बैठी सिर्फ़ तमाशा देखती रहें।"

इस प्रकार रानी वैजयंती को आश्वस्त करके यवन-व्यापारी यहाँ से प्रस्थित हुआ था। सफलता-पूर्वक आने पर महाराज, रानी वैजयंती तथा सम्राट्, इन सबों ने इन्हें यथारुचि वर माँगने को कहा। सम्राट् तथा महाराजा से इन्होंने कोई बिनती न की।

(ङ) वरदान

एक दिन यवन-व्यापारी महोदय पुष्यमित्र को साथ लेकर रानी वैजयंती से एकांत में वार्तालाप करने लगे।

यवन-व्यापारी—"रानीजी ! मैं आज आपका माल फिर से इन क़दमों में पेश करता हूँ। अब इसे क़ब्ज़े से बाहर न जाने देना।"

वैजयंती—"यह क्या उलटी बातें करते हो ? व्यापारीजी ! मैं स्वयं इन चरणों की संपत्ति हूँ।"

यवन-व्यापारी—"नहीं रानी साहबा ! मैं साफ़ बतलाए देता हूँ कि यह बड़ा चालाक आदमी है; मुझे भी बेवक़ूफ़ बनाता था। आपसे तो

अहेद यानी निबंध कर गया था ऊँचे चलन यानी उच्च आचरण का, और उधर बलख़ में एक पराई नाज़नीन यानी सुंदरी के आँसुओं को रूमाल में ले-लेकर दिल यानी हृदय में लगाता था। ऐसा चालबाज़ है यह आपका शौहर। देखने ही में बड़ा नेकचलन बनता है।"

वैजयंती—"नहीं, इन्होंने ऐसा कभी न किया होगा।"

पुष्यमित्र—"व्यापारी! आप नितांत मिथ्या भाषण कर रहे हैं। मैंने कभी किसी परस्त्री के साथ ऐसा व्यवहार नहीं किया।"

यवन-व्यापारी—"हाँ-हाँ, मैं ही भूल गया। वह पराई औरत न थी, बल्कि एक ग़ैरमनकूहा ख़ातून यानी ऊँचे कुल की अविवाहिता कन्या थी।"

पुष्यमित्र—"वह सुंदरी यहीं व्यापारी थे। मर्द होकर स्त्री बनने में लज्जा भी नहीं लगती। यही वीर पुरुष बनते हो!"

यवन-व्यापारी—"देखा, बहन साहबा! आपके अज़ीज़ यानी प्यारे शौहर की यही हालत है कि अगर मैं बातों में भी औरत बनूँ, तो आप मुझे ज़लील यानी नीचातिनीच समझने लगें। बस, हो चुकी लियाक़त; यही औरतों की इज़्ज़त करते हो?"

वैजयंती—"आपके यहाँ, व्यापारीजी! यह बात कैसी समझी जाती है?"

यवन-व्यापारी—"जनाब रानी साहबा! अगर मैं आज औरत हो जाऊँ, तो अपने मुल्क में और भी क़ाबिल इज़्ज़त समझा जाऊँ। (पुष्यमित्र से) अच्छा मित्तर साहब! मैं आपसे पूछता हूँ, अगर दूसरे जनम में ख़ुदा आप ही को अख़्तियार बख़्शे, तो आप औरत होना पसंद करेंगे या मर्द?"

वैजयंती—"यह भी अनोखा प्रश्न है; मैं तो मर्द होना चाहूँगी।"

यवन-व्यापारी—"तो मुआफ़ यानी क्षमा कीजिएगा, आप ख़ुद भी

औरतों की क़द्र नहीं करतीं। समझ पड़ता है, हिंद में जो कहा जाता है कि औरत ज़ात की काफ़ी इज़्ज़त है, वह कहने ही-भर की बात है। (पुष्यमित्र से) आप क्यों जवाब नहीं देते ?"

पुष्यमित्र—"मैं तो भाई ! मर्द हूँ, और उस जन्म में भी यही रहूँगा। यदि स्त्री होना चाहूँ, तो मान किसका करूँ ? आप भी तो कलिंग-पति से अपनी मर्दुमी की शपथ खाते थे।"

यवन-व्यापारी—"इसीलिये तो उसे क़ायम न रक्खा।"

वैजयंती—"अच्छा, आप ही कहिए, आप उस जन्म में क्या होना चाहेंगे ?"

यवन-व्यापारी—"उस जनम की क्या बात है, मैं तो इसी जनम में औरत होना पसंद करूँगा।"

वैजयंती—(बहुत हँसकर) "ऐसा पुरुष मैंने आज ही देखा, व्यापारीजी ! भला, लज्जा भी नहीं लगती ?"

यवन-व्यापारी—"शरम किस बात की ? रानी साहबा ! क्या आप कोई नाचीज़ शख़्स हैं ? मैंने तो एक पहुँचे हुए फ़क़ीर से इल्तिजा की थी कि अगर मुम्किन हो, तो इसी ज़िंदगी में मुझे औरत बना दें।"

पुष्यमित्र—"ऐसा भी कहीं संभव है ? आप भी, व्यापारीजी ! आकाश जोतते हैं।"

यवन-व्यापारी—"ऐसा क्यों, आप ही के यहाँ महाभारत के ज़माने में शिखंडी थे, जो औरत से मर्द हो गए, और ख़ुद इला थीं, जो छ महीनों तक मर्द रहते थे, और इतने ही दिन औरत।"

वैजयंती—"आप भी क्या कहते हैं ? व्यापारीजी ! ऐसा भी कहीं हो सकता है ?"

यवन-व्यापारी—"हो क्यों नहीं सकता ? क्या आपके पुरान सब झूठे हैं ?"

वैजयंती—"झूठे क्यों हैं ? वे देवताओं की बातें थीं।"

यवन-व्यापारी--"शिखंडी और सुद्युम्न यानी इला, दोनो बनी इन्सान थीं, न कि देवता। मैंने तो ख़ुद ऐसी ही दुआ पाई थी कि जब चाहूँ, तब छ महीने के लिये औरत हो जाऊँ। क़रीब एक साल से मरद हूँ, अगर चाहूँ, तो एक साल के लिये औरत बन जाऊँ।"

वैजयंती—आप भी क्या अंधाधुंध बातें उड़ाते हैं ? अच्छा, यह तो बतलाइए कि इनके बंदी होने का हाल आपने जाना कैसे ?"

यवन-व्यापारी—"आपके इस शहज़ादे साहब से मेरी दोस्ती बलख़ में जब बहुत बढ़ गई, तब मुझे बग़ैर इनको देखे चैन न रहने लगी। जब यह वहाँ से वापस होकर जनूबी हिंद जाने लगे, तब मैं इधर मथुरा चला आया। जब इनकी फ़ुर्क़त में बहुत बेचैन हुआ, तब चार ख़ुफ़िया गोइंदे इनके पीछे लगा दिए। उनके ज़रीए से सब हालात मालूम करता रहा। जब कलिंग-नगर में इनकी गिरफ़्तारी हुई, तब घोड़ों का सौदागर बनकर दौड़ पड़ा।"

वैजयंती—"तो क्या वास्तव में आप व्यापारी हैं नहीं ?"

यवन-व्यापारी—"जी नहीं, मैं तो बलख़ का एक नाचीज़ बाशिंदा हूँ।"

वैजयंती—"देख तो आप महापुरुष पड़ते हैं, किंतु कोई भी हों, आपने मेरा सोहाग रख लिया है। अब जो माँगना हो, मुझसे माँग लीजिए।"

यवन-व्यापारी—"मैं माँगने ही के लिये आपकी ख़िदमत में आज हाज़िर हुआ हूँ। अगर ख़ुशी से बख़्शें, तो माँगूँ। माँग मेरी मामूली न होगी।"

वैजयंती—"तो भी अवश्य माँगिए। आपने तो मेरे सिर का सिंदूर रख लिया है। मुझे आपको कुछ अदेय नहीं है।"

यवन-व्यापारी—"तो वही आधा सिंदूर मेरे भी लगा दीजिए, यही माँगता हूँ।"

वैजयंती—"आप तो हँसी करते हैं ; मैं सत्य-ही-सत्य आपको प्रसन्न करना चाहती हूँ।"

यवन-व्यापारी—"मेरी ख़ुशी तो इसी से हो सकती है।"

वैजयंती—"हँसी छोड़कर बात कीजिए, व्यापारीजी !"

पुष्यमित्र—"देवीजी ! यह व्यापारी नहीं, बलख़ के सम्राट् की उत्तराधिकारिणी हेलेनदेवी हैं। आपकी सौत बनना चाहती हैं। अब समझीं ?"

वैजयंती—"क्या तुम भी नटखटपन करते हो ?"

"नहीं, ऐसा नहीं है, कहकर पुष्यमित्रजी अपनी रानी को हेलेन का सारा वृत्तांत सुनाते हैं। अंत में कहते हैं—"निश्चित यह हो रहा है कि युवराज्ञी महोदया मथुरा में रहकर अपने राज्य का प्रबंध करेंगी। मैं भी यदा-कदा वहाँ जाया करूँगा, और यह यहाँ भी आया करेंगी। यदि आपको इससे क्षोभ न हो, तभी यह प्रबंध दृढ़ होगा, अन्यथा नहीं।"

इसी समय यवन-व्यापारी अर्थात् युवराज्ञी हेलेन महोदया अपने मर्दाने वस्त्र उतारकर फेक देती हैं, तथा भीतर से स्त्रियों के वस्त्राभूषण निकल पड़ते हैं। वैजयंती उठकर हेलेन को हृदय से लगाती है, और दोनो बहुत प्रेम-पूर्वक मिल-भेंटकर अपने-अपने आसनों पर बैठती हैं।

वैजयंती—"बहनजी ! मैंने तो केवल भाग्यदत्त पति पाया था, किंतु तुमने इनके पाने को पूरी तपस्या की, अपना देश छोड़ा, महाराज्य क्या साम्राज्य का उत्तराधिकार संदेह में डाला, तथा शत्रु-नगर में घुसकर प्राण-संकट भी सहा। अहा ! आपका शुद्ध प्रेम धन्य है ! मैं निष्कपट भाव से शुद्ध हृदय-पूर्वक पाणि-ग्रहणार्थ अपना यह प्रेमी पति

तुम्हें देती हूँ। जिस प्रकार चाहो, इस विद्या-प्रेमी, देश-भक्त का व्यवहार करो। बरदाम है तो हृदय-विदारक, किंतु तुम्हें कुछ भी अदेय न होने से देती प्रसन्नता-पूर्वक हूँ।"

हेलेन—"जीजी! तुम्हारे मुँह से अपने लिये तुम और बहनजी के अल्फ़ाज़ सुनकर मैं बहुत ही महज़ूज़ हो रही हूँ। अब जाना कि आपने मुझे सच्चे दिल से क़ुबूल फ़र्माया।" (पैर छूती है।)

वैजयंती—"बहन! तुम्हारा अहिवात-सुख प्रलय-पर्यंत अचल रहे। (अपने गले से हार उतारकर हेलेन को पहनाती हुई) लो बहन! यह अब तुम्हारा है। यह नौलखा निष्क मेरे पूज्य पिताजी ने विवाह के समय इन्हें दिया था, और इन्होंने घर में आकर मुझे पहना दिया। जब तुमने बल-पूर्वक इसे छीन ही लिया, तब इस पर मेरा कोई अधिकार शेष नहीं। अब इसे तुम्हीं पहनो।"

हेलेन—"जीजी! बड़ी ही कृपा हुई। (अपने गले से हार उतारकर वैजयंती को पहनाती हुई) मैंने यह हार इस अपने चोर को कई बार देना चाहा, मगर इसने दिल की चोरी करते हुए भी इसमें हाथ न लगाया। तुम्हारी मंज़ूरी और हुक्म पाकर ही मैं इन्हें पा सकी हूँ। इससे यह नौलखा हार इन्हें न देकर मैं तुम्हारे ही क़दमों पर चढ़ाती हूँ। उम्मीद है, मंज़ूरी से सरफ़राज़ हूँगी।"

पुष्यमित्र—"जूठी पत्तल के इतने दाम क्या उचित हैं?"

हेलेन—"हमारी जीजी बनी इन्सान न होकर एक परी हैं। इनकी जूठी की हुई रकाबी क्या दर असल जूठी हो सकती है? ऐसी पत्तल मिले कहाँ? (एक अंक-युक्त शासन पुष्यमित्र को देती हुई) लीजिए जानेमन! अब्बाजान की तरफ़ से जहेज़ में यह मुल्क आपको दिया गया है।"

पुष्यमित्र—(शासन पढ़कर) "इसमें तो यमुना से लेकर जालंधर और शाकल-पर्यंत देश दिया जाना लिखा है। प्यारी युवराज्ञी! क्या इतनी देन कन्यादान के समय में भी अतिदान की सीमा को नहीं पहुँचती?"

हेलेन—"आप तो खुद फर्माते थे कि इस लूटे हुए मुल्क में हम लोगों का वाजिब अख्तियार ही क्या है ? जब माल ही अपना नहीं, तब उसका देना अखरेगा क्या ?"

पुष्यमित्र—"अच्छा, वहाँ का कोष, सेना, गज, रथ, हय, पदाति आदि तथा इतर राजकीय सामग्री महाराजा को हटा लेनी होगी। इसका क्या प्रबंध होगा ?"

हेलेन—"आपके यहाँ दान के पीछे सांगता का भी तो चलन है। सुना, बिना इसके ब्राह्मण को कृतार्थता होती ही नहीं।"

पुष्यमित्र—(हँसकर) "ऐसा तो है ही।"

हेलेन—"तब यह सारा सामान सांगता में रहा। जितना मुल्क आपको नज़र किया गया है, उसमें जो कुछ भी शाही सामान, फ़ौज वग़ैरह हैं, वह इसी वक़्त से आप ही की हो चुकीं। यवन फ़ौज आप चाहें, तो क़ायम रक्खें, या बलख़ वापस करके उसकी जगह पर नई हिंदुस्तानी फ़ौज रख लें।"

पुष्यमित्र—"देवी ! आपको पाकर आज मैं कृतार्थ हो गया।"

वैजयंती—"बहनजी ! तुम्हें पाकर मेरे पतिदेव तो प्रसन्न हुए ही, वरन् इन्हीं के साथ सारा देश भी हर्ष-गद्गद हो जायगा।"

हेलेन—"किंतु जीजी ! अभी मैं भी अपने आधे हक़ के लिये आपसे झगड़ूँगी। राजगृह का महाराज्य तो आप रक्खें, किंतु आपके पास दो बच्चे हैं, और मेरे एक भी नहीं। इन दोनो में से बड़ी बहन होने से बड़ा बेटा तो आपका है, लेकिन बेटी मेरी हो चुकी।"

वैजयंती—"बहन ! वह तुम्हारी है ही; इधर स्वयं मैं किसकी हूँ ? ईश्वर तुम्हें भी पुत्र-पौत्रवान् बनावे !"

पुष्यमित्र—"कक्कूजी से इस नवीन संबंध का वर्णन तुम्हीं सुनाकर आज्ञा प्राप्त कर लेना।"

वैजयंती—"यही ठीक है।"

द्वादश परिच्छेद

उत्थान

(अ) राजसेवा

इस प्रकार युवराज्ञी हेलेन का विवाह युवराज पुष्यमित्र से हो गया, तथा इथ्यूज़ाकुमारी का धनभूति से। दोनो दंपती परम प्रसन्न हुए। सम्राट् तथा महाराजा बहसतिमित्र ने भी मुखदिखरावनी में दोनो नवोढ़ाओं को यथायोग्य वस्त्राभूषण देकर प्रसन्न किया। धनभूति को इथ्यूज़ा के पिता की ओर से भी विपुल धन-धान्य, वस्त्राभूषण, हय, गजादि मिले। अनंतर महामंत्री और महासेनापति के साथ इन दोनो नवयुवकों को बुलवाकर सम्राट् महोदय ने यों वार्तालाप किया।

सम्राट्—"कहो, बेटे! अब तो तुम्हें अपनी योग्यता पर पूर्ण विश्वास हुआ, अथवा अब भी कोई संदेह शेष है? तुम्हारे प्रबल देश-प्रेम तथा सेवक-धर्म की उच्चता पर मैं शत बार साधुवाद करता हूँ। कोई भी मूल्य तुम्हारी मानसिक महत्ता डिगा न सका।"

पुष्यमित्र—"यह देव की अनुपमेय कृपा है कि ऐसी आज्ञा हो रही है। धर्म-रक्षण का मैं कोई भी मूल्य नहीं समझता। वह तो कर्तव्य है, और किया ही जायगा। रहा योग्यता का प्रश्न, सो पूज्य पिता ने आज्ञा दी ही थी कि इनके आधिपत्य में अभी दो-तीन वर्ष सैनिक अनुभव प्राप्त करना आवश्यक है।"

सम्राट्—"वह तो राजसेवा करते हुए ही प्राप्त होगा।"

पुष्यमित्र—"यही बात है, अन्नदाता ! किंतु अभी अपनी योग्यता के प्रतिकूल एक बहुत बड़ा संदेह मुझे शेष है ।"

महामंत्री—"वह क्या है ? नवयुवक !"

पुष्यमित्र—"आर्य ! सम्राट् महोदय तथा आप पर भी विदित है कि मैंने अब तक के अध्ययन से देश-प्रेम तथा कर्तव्य-पालन के धर्म इतर पाठों से अधिक सीखे हैं । इनके प्रतिकूल राजकीय प्रतिज्ञा-दौर्बल्य अथवा भयादि का संचार मुझे असह्य हो जायगा । देव के विषय में तो ऐसा भय उपस्थित हो नहीं सकता, किंतु न-जाने कब कैसी परिस्थिति आ जाय ? ऐसी दशा में सेवक-धर्म तथा देश-प्रेम में वैपरीत्य हो सकता है । देव ने पूज्य पिता को एक महाराज्य दे ही रक्खा है । सप्तसिंधु में भी कुछ मिल चुका है । यदि मेरे विचार सेवा-धर्म के लिये अनुचित प्रकारेण उद्दंड समझे जा सकें, जैसा मैं स्वयं मानता हूँ, तो प्रार्थना यह है कि मैं राजसेवा में न लिया जाकर बाह्य सहायकों में रक्खा जाऊँ । आवश्यकता की दशा में हर समय प्रस्तुत रहूँगा ही । विचार कर लिया जाय ।"

सम्राट्—"यदि सैन-शिक्षण उचित प्रकार से न हुआ, तो साम्राज्य की ही स्थिति तक संदिग्ध रहेगी । बाह्य सहायता-मात्र संकट के समय काम न आएगी ।"

महामंत्री—"यही बात है, देव ! वही महाराजा बहसतिमित्र पाँच वर्षों में तीन बार पराजित हुए, और उन्हीं ने विनीत सेना बनाने पर प्रचंड शत्रु का सिर हँसते हुए नत कर दिया । बोलते क्यों नहीं ? मित्रवर !"

बहसतिमित्र—"यह तो प्रकट ही है, आर्य ! (पुष्यमित्र से) यह तुम क्या कह रहे हो ? मेरे भी विचार में नहीं आ रहा है ।"

पुष्यमित्र—"यदि अपराध क्षमा हो, तो बिनती करूँ ।"

सम्राट्—"हाँ-हाँ, अवश्य कहो ।"

पुष्यमित्र—"मेरे कथनों का अर्थ तो मागधीय घटना-चक्र बतला रहा है। महासंकट उपस्थित होने पर पितृचरण को भारी आज्ञाएँ मिल गईं, और साम्राज्य देव के प्रताप से बच गया। तथापि यदि कभी भविष्य में भी संकट आ पड़ा, और आज्ञा न मिली, तो मेरे चित्त का हाथ से बेहाथ हो जाना संभव है। ऐसा उद्धत मनुष्य सेवा के योग्य नहीं है, देव!"

सम्राट्—"ऐसा ही सेवक मुझे चाहिए, जो मेरे कहने पर भी साम्राज्य को गिरने न दे। तुम, बेटे! निर्भय होकर सेवा आरंभ करो।"

पुष्यमित्र—"स्वीकार है, और शत बार स्वीकार है। नत-मूर्द्धा होकर अपनी धृष्टता के लिये क्षमा का भी प्रार्थी हूँ।"

सम्राट्—"कोई धृष्टता न थी; मुझे ऐसे ही सेवक चाहिए। अच्छा, अब धनभूति के विषय में विचार शेष है।"

बहसतिमित्र—"इनको, देव! मैं राजगृह के मंत्रित्व-पद पर प्रतिष्ठित करूँ, तो कैसा?"

सम्राट्—"वहाँ का काम तो चार-पाँच वर्षों से चल ही रहा है। साम्राज्य में कहीं नियुक्ति क्या ठीक न होगी?"

पुष्यमित्र—"मैं तो इन्हें किसी योग्य पद पर कान्यकुब्ज में रखना चाहता था। वहाँ से मेरे सप्तसिंधुवाले प्रांत के भी प्रबंध का निरीक्षण किए रहेंगे।"

सम्राट्—"चल वहाँ का भी काम रहा है। आर्य बहसति का कहना था कि तुमने वहाँ का प्रबंध अभी युवराज्ञी के ही आधीन कर रक्खा है। फिर भी उनके सहायक उपरिक होने में दोष नहीं। समय पर उपरिक हो जायँगे। इनकी धर्मपत्नी तथा युवराज्ञी निकट रहने से प्रसन्न भी रहेंगी।"

पुष्यमित्र—"यही विचार था, देव!"

सम्राट्—(महामंत्री से) "तो ऐसा ही शासन निकाल न दीजिए, आर्य ! वहाँ का वर्तमान सहायक उपरिक कहीं स्थानांतरित कर दीजिएगा।"

महामंत्री—"जो आज्ञा।"

बहसतिमित्र—"ये सब साधारण प्रबंध तो हो चुके, अब कलिंग के विषय पर निर्णय शेष है।"

महामंत्री—"वहाँ से अपने प्राचीन उपकार भुलाए जाकर तीन आक्रमण निष्कारण किए गए, जिनमें दो बार राजगृह को हानि पहुँचाई गई, तथा एक बार अंग लूटा गया। जब से नवीन सामरिक प्रबंध हुआ है, तब से कोई क्षति नहीं हुई, वरन् अपने उत्तर की ओर साम्राज्य की जो भूमि खारवेल ने छीनी थी, वह भी फेरी जा चुकी है, किंतु अपने पश्चिम की ओर जितनी भूमि कलिंग ने ले ली थी, वह अब भी उसी के अधिकार में है। यद्यपि साम्राज्य से उस पर इधर कोई कटु व्यवहार नहीं हुआ, तथापि उसने निर्दोष पुष्यमित्रजी को बंदी बनाया, यद्यपि एक विद्यार्थी पर ऐसा अत्याचार हर प्रकार से अयोग्य था।"

सम्राट्—"कहिए आर्य बहसतिजी ! अब आपके सामरिक बल की क्या दशा है ?"

बहसतिमित्र—"देव के प्रताप से सब ठीक है। पुष्य को सामरिक प्रबंध तथा रणरंग का अनुभव प्राप्त करना ही है, इधर ही छेड़-छाड़ आरंभ की जा सकती है।"

सम्राट्—"कोई संदेह तो नहीं है ?"

बहसतिमित्र—"वे दिन गए, देव ! जब ऐसे-ऐसों से अपने को दबना पड़ता था।"

महामंत्री—"तब फिर एक प्राभृतक लेकर आर्य पर-राष्ट्र-सचिव कलिंग-नगर जायँ न ?"

सम्राट्—"यही बात है। शीघ्र प्रबंध हो।"

(ब) कालिंग समर

इस प्रकार निर्णय होकर सांधिविग्रहिक महोदय कालिंग-नगर को पधारे तथा प्राभृतक की प्रतिलिपि महामंत्रीजी को अर्पित की गई। उन्होंने कालिंग पर-राष्ट्र-सचिव को साथ लेकर उसे सम्राट् की सेवा में उपस्थित किया। महासेनापति को भी बुलाकर एक अंतरंग सभा जोड़ी गई, जिसमें उपर्युक्त विषय पर मत-परिवर्तन हुआ।

महामंत्री—"पुष्यमित्र के बंदी होने का भी उलाहना दिया जाता है, यद्यपि स्वयं उन्होंने इसे योग्य माना था, अथच उनका मान बंदी-गृह में भी महाराजाओं के समान हुआ था; केवल स्वतंत्र रूप से यथारुचि यत्र-तत्र आने-जाने भर का अधिकार न था।"

महासेनापति—"फिर साम्राज्य को धोखा देकर यवन-व्यापारी उन्हें निकाल भी ले गया, अब क्या झमेला शेष है?"

सम्राट्—"मान-हानि अवश्य हुई, अथच मगध को कुपित होने के अनेक कारण हैं ही।"

पर-राष्ट्र-सचिव—"अब मगध से हमारे द्वारा छीने हुए पाश्चात्य प्रांतों की माँग है, अंग की लूट का बदला माँगा जाता है, अथच मंत्रिपुत्र के बंदी होने पर मान-हानि का दंड दिया जाना कहा जाता है।"

सम्राट्—"पहले तो मगध गया-आया हुआ समझ पड़ता था, किंतु आर्य बृहस्पतिमित्र के सुप्रबंध से अब वहाँ का सामरिक बल बढ़ा हुआ है। अपनी सेना से भी उनका बल बृहत्तर है ही। फिर भी यदि दबते जायँ, तो एक दिन उनके अधीनस्थ महाराजा-मात्र रह जाने का समय फिर से उपस्थित हो सकता है। मैंने पुष्यमित्र को इधर आ जाने का लोभ बहुत भारी दिखलाया था, किंतु उसने माना कुछ नहीं। है बड़ा धर्म-परायण।"

महामंत्री—"उनके सचिव का मौखिक कथन यह भी था कि कालिंग

को एक लक्ष से अधिक सेना किसी दशा में रखने का अधिकार न होगा।"

महासेनापति—"मैं तो समझता हूँ कि निष्कारण इतना दबने से लड़ मरना भी श्रेष्ठतर होगा।"

सम्राट्—"यहाँ के साम्राज्य पर तो कोई दंश नहीं देते ?"

महामंत्री—"देते क्यों नहीं हैं, देव ! वह केवल स्वतंत्र महाराजा का हमारा पद रखना चाहते हैं। हमारा सम्राट् का रूप उन्हें असह्य है। मेरा मत दबने के प्रतिकूल है।"

महासेनापति तथा सांधिविग्रहिक—"ये ही हम दोनो के भी विचार हैं।"

सम्राट्—"सबका यही मत है, और मेरे भी विचार इसी अनुसार चल रहे हैं, तब उनके सांधिविग्रहिक का दरबार क्यों कराया जाय ? प्राभृतक का उत्तर-मात्र अपने प्राभृतक द्वारा भेज दिया जाय।"

ऐसा ही किया गया, और उनके डेरे पर स्वयं पधारकर कालिंग सांधिविग्रहिक ने उनका प्राभृतक लेकर यहाँ का उत्तर में दे दिया, तथा उनके पलटने का समुचित प्रबंध कर दिया गया। मंत्रीजी के मगध पहुँचने पर उत्तर तथा पश्चिम, दोनो ओर से साथ-ही-साथ आक्रमण का प्रबंध हुआ। कार्य पुष्यमित्र करते थे, तथा निरीक्षण आर्य बहसतिमित्र का भी था। दोनो ओर से प्रायः तीन मास घमासान हुआ, और कलिंग-देश के पश्चिम ओर जितनी मागध भूमि छिन गई थी, वह सब फेर ली गई, तथा स्वयं कलिंग पर दोनो ओर से कुदिन उपस्थित हुआ। अन्य कोई उपाय न देखकर कालिंग सम्राट् ने महामंत्री से गुप्त मंत्रणा की।

"सम्राट्—अब तो कोई युक्ति लगती हुई नहीं देख पड़ती। मैंने पुष्यमित्र के रण-कौशल से प्रभावित होकर उसे मिलाने का भी पूर्ण प्रयत्न किया था, किंतु उसने अपनी बात ही न कही। अब प्रथम बार मुझी पर कर रहा है।"

महामंत्री—"यही बात है, देव ! मेरा उनसे व्यवहार था तो अच्छा, किंतु मानें या न मानें।"

सम्राट्—"अब तो युद्ध अधिक बढ़ाने से कलिंग भी जायगा। आप जाकर बिनती-बासती द्वारा जो कुछ करते बने, कीजिए।"

"बहुत अच्छा" कहकर महामंत्रीजी पुष्यमित्र महोदय की सेवा में उपस्थित होकर आलाप करने लगे।

पुष्यमित्र—"कहिए, आर्य ! क्या आज्ञा है ?"

महामंत्री—"अब तो आज्ञा प्रधान आप ही की है। देखिए, हमारे ही विद्यापीठ से न्यूनाधिक सामरिक ज्ञान प्राप्त करके आप अब एक प्रकार से गुरुघातिनी कला खेल रहे हैं। शुद्ध धार्मिक दृष्टि-कोण से कथन करता हूँ, कृपासिंधो !"

पुष्यमित्र—"आपके सम्राट् ने तो पहले से ही शत्रु मान लिया, तब फिर मित्रता की बातें कैसी ?"

महामंत्री—"आपने स्वयं इस कार्य को योग्य कहा था।"

पुष्यमित्र—"शत्रु के लिये, न कि मित्र-भाव में। जब शत्रु हो चुका, और बिना धर्म खोए युक्ति-पूर्वक निकल भागा, तब वही व्यवहार कर रहा हूँ।"

महामंत्री—"यवन-व्यापारी ने तो मर्दुमी की शपथ खाई थी।"

पुष्यमित्र—"आज से आप उन्हें मर्द न समझिएगा।"

महामंत्री—"मर्द वह हों, तब न समझूँ। बड़ी युक्ति का खेल खेला गया, किंतु आपने भी एक प्रकार से अशुद्ध कथन किए।"

पुष्यमित्र—"आर्य ! वे सब आलंकारिक वर्णन थे। अन्योक्ति पर क्यों न ध्यान दिया ?"

महामंत्री—"उसी का फल भी तो पा रहे हैं। देखिए, हमारे यहाँ ब्राह्मणों का कितना बृहद् मान है ? आपको भी प्रसन्न ही रक्खा। कुछ तो दया कीजिए।"

पुष्यमित्र—"उत्तरीय भारत में दो सम्राट् नहीं हो सकते। आपके स्वामी स्वतंत्र महाराजा बने रहें, इसमें हम लोगों को आपत्ति नहीं। अपनी छीनी हुई भूमि हम ले ही चुके हैं। अंग की लूट तथा इस युद्ध की हानि आपको पूरी करनी होगी। अपने बंदी होने का अपराध मैं क्षमा किए देता हूँ। यदि एक लक्ष से अधिक सेना रखने दूँ, तो किसी निर्बल समय में आप साम्राज्य को फिर दबा सकेंगे।"

महामंत्री—"यदि ये बातें मान ली जायँ, तब तो आपको कोई शत्रुता शेष न रहेगी ?"

पुष्यमित्र—"आपके स्वामी इभारोही होकर सुगांगीय प्रासाद में गए थे, जहाँ मेरे पूज्य पिता का अपमान हुआ था। अब वह भी इसी प्रकार आपके विजय विलास-प्रासाद में पधारेंगे, तथा उसी प्रकार महाराजा खारवेल को अधीनता स्वीकारनी होगी। अनंतर मगध से कलिंग पर कोई आक्रमण न होगा, किंतु यदि कभी फिर से विद्रोह किया गया, तो मैं भी कुपित हूँगा।"

महामंत्री—"ब्राह्मणों के मान के कारण कोई दया नहीं हो रही है।"

पुष्यमित्र—"आर्य ! विशुद्धाचरण के ही कारण से कालिंग महाराज्य बचा जाता है, नहीं तो मागध शक्ति के सामने उसे स्थापित रखने की योग्यता अब आपमें शेष है नहीं।"

महामंत्री—"अच्छी बात है; अब हम लोगों को युद्ध नहीं चलाना है। आशा है, इस पूर्ण बदला लेने के पीछे अब मागध क्रोध शांत रहेगा।"

पुष्यमित्र—"इसमें संदेह न होगा, आर्य !"

इस प्रकार निर्णय हो जाने के पीछे ये धाराएँ उभय पक्षों से नियमानुसार स्वीकृत हुईं, तथा कालिंग राज्य से अनबन शांत हो गई।

(स) गार्हस्थ्य जीवन

समय पर रानी वैजयंती से एकांत में मिलकर पुष्यमित्र एक बार उन्हें

अपने सारे बाह्य विद्यार्थी-जीवन का समाचार सांगोपांग सुना गए। अनंतर युवराज्ञी हेलेन के विषय में भी बात होने लगी।

पुष्यमित्र—"देवीजी! आशा है, इस मामले में आप मुझे दोषयुक्त न समझती होंगी।"

वैजयंती—"जिस बात का मुझे भय था, वही सामने आई, किंतु इतनी प्रसन्नता है कि सौत देवियों के समान गुणवती तथा शुद्ध-हृदया है।"

पुष्यमित्र—"पूर्ण विश्वास है कि इस साध्वी के कारण आपको किसी प्रकार का कष्ट न होगा, विशेषतया इसलिये कि उन्हें साधारणतः मथुरा में रहना है, तथा आपको राजगृह में।"

वैजयंती—"समझ तो यही पड़ता है। अपने यहाँ महापुरुषों के एकाधिक विवाह हुआ ही करते हैं। रानियों को कष्ट तब होता है, जब पति द्वारा दाक्षिण्य भाव का पालन पूर्णता के साथ नहीं होता।"

पुष्यमित्र—"इस विषय में तो मैं शपथ-पूर्वक आश्वासन दे सकता हूँ।"

वैजयंती—"ऐसा तो विश्वास है ही। फिर मुझे यहाँ रहना है, तथा उन्हें मथुरा में। महाराज्य भी दो पृथक्-पृथक् हैं। किसी प्रकार से मन-मैली होने का संदेह दूर से भी नहीं दिखता। वह बेचारी प्रेमाधिक्य के कारण अपने साम्राज्य का अधिकार संशय में डालकर आई है। किसी वस्तु के लिये लालायित थोड़े ही होगी।"

पुष्यमित्र—"फिर यहाँ ऐसा कुछ रक्खा ही क्या है, जो उसे पहले से अप्राप्य हो? तुम दोनो के दूर-दूर रहने से सपत्नीपन भी कथन-मात्र का होगा। वास्तव में मेरा एकस्त्री-व्रत-सा दिखता रहेगा।"

वैजयंती—"किंतु आशा है, उसके पद और प्रेम की महत्ता के कारण तुम मुझे भुला न दोगे। सुंदरी भी एक ही है।"

पुष्यमित्र—"यह क्या कहती हो? क्या रूप, प्रेम, गुण, पदवी आदि में तुम किसी से कम हो?"

वैजयंती—"फिर यह उन्हीं का अपूर्व प्रेम था, जिसके कारण तुम्हारा कलिंग से इतना शीघ्र मोचन हो गया, नहीं तो न-जानें कितने दिन मुझे विरह-वेदना उठानी पड़ती, अथच तुम्हारे जीवन में भी संदेह लगा रहता।"

पुष्यमित्र—"बड़ी युक्ति से उन्होंने अति शीघ्र मेरा मोचन करा दिया।"

वैजयंती—"इसी की प्रसन्नता में मैंने उन्हें परम प्रेम-पूर्वक ग्रहण भी किया। इतनी बड़ी युवराज्ञी होकर बेचारी थोड़ा भी अहंकार नहीं करती।"

पुष्यमित्र—"यही तो उनमें मुख्य गुण है, जिसके कारण न चाहते हुए भी मुझे उन्हें अपनाना पड़ा।"

वैजयंती—"इतना मैं तो भी कहूँगी कि गुणों के अतिरिक्त भारी पदवी तथा रूप-लावण्य के कारण भी तुम न्यूनाधिक विवश हो गए।"

पुष्यमित्र—"यह तो मैंने स्वयं धर्मभूतिजी से भी स्वीकार किया था। फिर भी मैं दूर ही हटता रहा, किंतु उनके गुणों—मुख्यतया सहन-शीलता, सौजन्य और त्याग—से विवश हो गया।"

वैजयंती—"सारी बातें जानकर भी शुद्ध हृदय से मैं तुम्हें कोई अप-राध नहीं लगाती। स्थिति ही ऐसी आ पड़ी कि दुराव असंभव हो गया। अब भविष्य में दोनो का समान मान हो, इसमें चूक न पड़े।"

पुष्यमित्र—"इसकी तो मैं शपथ भी ले चुका हूँ। अच्छा, यह तो बतलाओ कि इतने दिन तुमने कैसे काटे? प्रसन्न तो रहीं?"

वैजयंती—"कोई कष्ट नहीं हुआ। केवल तुम्हारी चिंता लगी रहती थी, जिसके विषय में भी ककूजी उपदेश दिया करते थे, जिनसे बहुत कुछ सांत्वना मिल जाती थी। प्यारे अग्नि तथा पुष्पा की देख-भाल और प्यारी-प्यारी बातों में भी बहुत-सा समय सुख-पूर्वक बीत जाता था। फिर भी एक प्रकार से मैंने भी चार-पाँच वर्ष योग-साधन-सा किया ही।"

पुष्यमित्र—"ऐसा तो है ही। उधर अग्नि ने मुझे स्वाभाविक रीति से पहचान न पाया, किंतु दो ही तीन दिनों के पीछे फिर से ऐसा हिल

गया, मानो मैं कभी विदेश गया ही न था। बच्चा होनहार समझ पड़ता है।"

वैजयंती—"है तो ऐसा ही, यदि ईश्वर की कृपा बनी रहे। पुष्पमंजरी ने भी तुम्हें कभी देखा न था, किंतु अब खूब हिल गई है।"

पुष्यमित्र—"बच्चे ही तो ठहरे; थोड़ी-सी चुमकार में प्रसन्न हो जाते हैं।"

वैजयंती—"वह तो बहन हेलेन से ऐसा हिल गई है कि उन्हीं के पास बनी रहती है; मेरे निकट भी बहुत कम आती है। वह उसे प्रसन्न करने के प्रयत्न भी सदैव किया करती हैं।"

पुष्यमित्र—"अच्छा, उन दोनों को बुलवाओ तो सही।"

"जैसी इच्छा" कहकर रानी वैजयंती दोनों को बुलवाती हैं, तथा वे आकर पिता की गोद में बैठ जाते हैं।

पुष्यमित्र—(अग्निमित्र से) "कहो बेटा! जब मैं चार-पाँच साल बाहर रहा, तब तुम चैन से तो रहे?"

अग्निमित्र—"जी हाँ कक्कूजी! खूब मिठाई खाता और खेलता था। अम्माजी, बाबाजी और बड़ी नानीजी खेलाया करती थीं। अब पढ़ने भी लगा हूँ।"

पुष्यमित्र—"अच्छा, प्रणव क्या है, जानते हो?"

अग्निमित्र—"यह तो मैं जानता नहीं, गुरुजी ओऽम् ओऽम् किया करते हैं।"

वैजयंती—"इसके अर्थ क्या हैं?"

अग्निमित्र—"मैं क्या जानूँ? तुम्हीं बतलाओ न।"

पुष्यमित्र—(पुष्पमंजरी से) "तू भी बेटी! अच्छी है न?"

पुष्पमंजरी—"बहुत अच्छी हूँ, कक्कूजी! नई अम्माजी को आप कहाँ से लाए हैं? बड़ी गोरी-गोरी हैं। मुझे बहुत खेलाती हैं।"

पुष्यमित्र—"क्या उनके साथ रहेगी?"

पुष्पमंजरी—"उन्हीं के साथ तो रहती ही हूँ। बड़ी अच्छी हैं।"

इसी प्रकार इन सबों से बात करके पुष्यमित्र एक बार हेलेनदेवी से भी मथुरा में बात करने लगे।

पुष्यमित्र—"कहिए देवीजी! आपकी अमोघ तपस्या का फल कुछ सुखप्रद समझ पड़ रहा है या नहीं? चित्त में कोई पछतावा तो नहीं आता? यदि कोई असुविधा अथवा निराशा हो, तो बाह्लीक में भी रह सकती हैं। मैं वहाँ भी यदा-कदा दर्शन कर लिया करूँगा, यद्यपि विशेष दूरी के कारण कुछ न्यूनता संगति में आ ही जायगी।"

हेलेन—"आपने तो एक ही साथ इतने सवालात पूछ डाले कि जवाब देना सहल नहीं। जब चाहूँ, तब बलख़ जा ही सकती हूँ, और जाऊँगी भी, लेकिन नाउम्मेदी की अभी से कौन-सी बात है? पछताते हैं बेवक़ूफ़ लोग। यहाँ जो कुछ किया है, वह जान-समझकर हुआ है। दिनोंदिन ख़ुशी बढ़ने के मौक़े हैं या घटने के? ऐसा फ़रिश्ता-ख़स्लत शौहर पाया किसने होगा?"

पुष्यमित्र—"सहस्रशः धन्यवाद, प्राणप्रिये! आशा है, सदैव ऐसी ही प्रसन्नता और प्रीति बनी रहेगी। मैं समझता था, सौंदर्य से विमुग्ध होकर पहले तो अपने को विवाह-बंधन में आबद्ध कर लिया हो, किंतु पीछे निकट के संघट्ट से उन आशाओं पर न्यूनाधिक पानी पड़ने लगा हो। कहाँ एक साम्राज्य की युवराज्ञी और कहाँ एक साधारण महारानी तथा मंत्रिवधू। पदवी में कितना अंतर है?"

हेलेन—"इन बातों का कौन-सा मौक़ा है? क्या बिना कुछ जाने-समझे काम किया है? अब भी तो वलीअहेद हूँ। इन बातों पर न जाया कीजिए। मैं आपको चाहती थी, और हूँ, न कि माल व ज़र को।"

पुष्यमित्र—"मैं समझता हूँ, मेरे लिये आपने बहुत कुछ त्याग किया है, जिससे तन, मन, धन से मेरी आकांक्षा सदैव यही रहती है कि यह

चाँद-सा मुखड़ा नित्यप्रति प्रफुल्लित रहे, तथा मेरे किसी भी कार्य या कथन से तुम्हें कभी कोई निराशा न हो।"

हेलेन—"बड़ी ही मेहेरबानी हुई। जो बीबी ऐसे नेकनीयत शौहर से भी नाउम्मेदी पावे, वह खुद क़ाबिल सख़्त लानतान के होगी।"

पुष्यमित्र—"ईश्वर को कोटिशः धन्यवाद है कि वह तुम्हें अभी तक सद्बुद्धि दिए हुए है। आशा है, पुष्पमंजरी के कारण तुम्हें कोई कष्ट न होता होगा।"

हेलेन—"क्यों होने लगा? बड़ी अच्छी प्यारी-प्यारी लड़की है। उसकी बातों से मेरी तबीयत खुद शाद रहा करती है। अपना नानिहाल बलख़ देखने को अभी से मचलती है। वह इतना समझती भी नहीं कि ख़ास मेरी ही लड़की नहीं है।"

पुष्यमित्र—"बहुत ही अच्छी बात है, किंतु आश्चर्य है, स्वयं एक बालिका-मात्र होकर आप एक बच्चे के पालने में इतना चित्त लगा सकती हैं।"

हेलेन—"क्या ज़ईफ़ी तक लड़की ही बनी रहूँगी?"

पुष्यमित्र—"अच्छा, यह तो बतलाइए, विवाहित और अविवाहित जीवनों में आपको कौन विशेष सुखप्रद लगता है?"

हेलेन—"अगर कोई औरत ग़रीब न हो, नेकचलन हो, और शौहर से उसे कोई सच्ची या झूठी शिकायत न हो व नीज़ किसी नापसंदीदा ख़ातिर सौत का सामना मामूलन् न करना पड़ता हो, तो अपने ऊपर किसी का बेजा दबाव न होने व नीज़ फ़हीम होने से वह निहायत शाद रह सकती है, अगर उसे कोई सख़्त जिस्मानी तकलीफ़ न हो। ग़ैरमंसूब हालत लड़कियों के लिये ठीक है, मगर सिनतमीज़ के पीछे शादीशुदा हालत ही राहतबख़्श होगी। मैं अपनी शादी से हनोज़ निहायत ख़ुश-ख़ुर्रम हूँ।"

पुष्यमित्र—"यदि किसी बात की इच्छा हो, अथवा मेरे किसी भी

व्यवहार से दूर से भी अनौचित्य का विचार उठे, तो मुझे बतलाने में संकोच न कीजिएगा।"

हेलेन—"क्यों करूँगी? मगर ऐसा कोई मामला उठने का ख़ौफ़ ज़रा भी नहीं है।"

पुष्यमित्र—"जो दोनो प्रांत आपके पूज्य पिता ने मुझे दिए हैं, वे अपने ही समझिएगा, मुझसे कोई प्रयोजन नहीं। मैं तो ये प्रांत आपके मानता हूँ, तथा राजगृह वैजयंतीदेवी का। अपने लिये मेरा सैनिक वेतन ही बहुत है।"

हेलेन—"यह कोई बात नहीं। आप दोनो महाराज्यों के मालिक हैं। हम दोनो तो आपकी जानिब से मुंतज़िम-भर हैं।"

पुष्यमित्र—"अच्छा, अब नृत्य, गान, वाद्य, मृगया आदि का आनंद मेरे साथ भी लूटा कीजिएगा न?"

हेलेन—"ऐसा तो हो ही रहा है। कल ही हम दोनो ने एक बढ़िया किश्ती में जमुनाजी की सैर की थी। ये बातें तो पहले से भी चल रही थीं।"

पुष्यमित्र—"अपने अब्बाजान के यहाँ साल में कितने दिन रहा कीजिएगा?"

हेलेन—"इसका कोई यक़ीनी तकदमा अभी से नहीं हो सकता। तजुर्बे से ज़ाहिर होगा कि तुम्हारे साथ कितने दिन बीत सकेंगे? उसी के मुताबिक़ और जगहों के इरादे बनाए जायँगे।"

पुष्यमित्र—"सुगांग प्रासाद में भी आपके लिये निवास-स्थल नियत है ही, तथा यहाँ मथुरा में रानी वैजयंती के लिये भी। यदि जी चाहे और कोई कष्ट न हो, तो साल में दो-तीन मास वहीं विराजिएगा, तथा दो-तीन मास बाह्लीक में। शेष समय यहाँ मथुरा में बिताइएगा। मैं भी दो-तीन मास यहाँ शायद रह सकूँ।"

हेलेन—"हैं तो ये ख़यालात अच्छे, लेकिन इनकी कामयाबी आगे होनेवाले आपके फ़रायज़ व शाही कामों पर मबनी रहेगी।"

पुष्यमित्र—"यही बात है, प्राणप्रिये! आशा है, कभी आपको पछताना न पड़ेगा। मैं इस बात को बहुत डरता हूँ, वरन् इसी भय से विवाह से पीछे हटता था।"

हेलेन—"खुदा ने चाहा, तो सब ठीक-ही-ठीक चलेगा।"

पुष्यमित्र—"मैं सदैव से डरता था कि पाटलिपुत्र में मेरी हीन पदवी आँखों देखकर आपका चित्त घबरा न उठे। इसीलिये विवाह के पूर्व इधर-उधर की सोचता था, नहीं तो यह चाँद-सा मुखड़ा देखकर कौन चलित-धैर्य तथा लालायित न हो जाता?"

हेलेन—इन ख़यालात से मेरी मज़बूती मिज़ाज में शक की बात आती है।"

पुष्यमित्र—"है यही बात, किंतु प्रेमाधिक्य की फसफसाहट कुछ ही दिन रुकती है, पीछे से साधारण जीवन प्रभाव दिखलाने लगता है।"

हेलेन—"तो आपका मामूली रुतबा ही कौन फ़क़ीरों का-सा है कि इस क़दर घबराते थे, या हैं?"

पुष्यमित्र—"अब तो सिर उलूखल में पड़ ही चुका है; अब क्या घबराने की बात है? अब तो ईश्वर से यही प्रार्थना है कि आप प्रसन्न रहें।"

हेलेन—"आमीं।"

पुष्यमित्र—"क्या पुष्पा को बुलवाने की कृपा हो सकती है?"

हेलेन—"अभी आती है।"

यह कहकर पुष्पा बेटी को श्रीमती हेलेन बुलवाती हैं।

पुष्यमित्र—(बेटी को गोद में लेकर) "क्यों बेटी! तू यहाँ मथुरा में खुश रहती है न?"

पुष्पमंजरी—"हाँ कक्कूजी! बहुत खुश हूँ।"

पुष्यमित्र—(हेलेन की ओर दिखलाकर) "यह तेरी कौन हैं?"

पुष्पमंजरी—"अम्माजी हैं। मैं इनके साथ रोज़ खेलती हूँ।"

पुष्यमित्र—"और जो अम्मा तेरी राजगृह में हैं?"

पुष्पमंजरी—"वह भी अम्माजी हैं। वह बड़ी अम्मा हैं।"

पुष्यमित्र—"उनके पास चलेगी क्या?"

पुष्पमंजरी—"हाँ, चलूँगी।"

पुष्यमित्र—"नानाजी के यहाँ न जायगी?"

पुष्पमंजरी—"जाऊँगी।"

पुष्यमित्र—"पहले कहाँ जायगी?"

पुष्पमंजरी—"नानाजी के यहाँ।"

पुष्यमित्र—"पीछे रहेगी कहाँ?"

पुष्पमंजरी—"इन्हीं अम्माजी के पास।"

पुष्यमित्र—"तेरी सगी अम्मा कौन हैं?"

पुष्पमंजरी—"दोनों अम्मा हैं।"

पुष्यमित्र—"यह बात है?"

पुष्पमंजरी—"यही तो है, क्या तुम नहीं जानते थे?"

पुष्यमित्र—"अब जान लिया।"

पुष्पमंजरी—(हेलेन से) 'क्या कक्कू जी कुछ जानते नहीं?"

हेलेन—(हँसकर) "हाँ बेटी! क्या जानें?"

(ड) साम्राज्य-संचालन तथा पर-राष्ट्र

उधर राजगृह में कौटुंबिक सभा एकत्र करके महाराजा बहसतिमित्र ने एक दिन यों विचार-विनिमय किया।

बहसतिमित्र—"कालिंग युद्ध में, बेटा! तुमने वह कौशल एवं शौर्य दिखलाया कि मैं कृतार्थ हो गया।"

पुष्यमित्र—"कक्कूजी! यह आपके अनुग्रह-मात्र का फल है। कालिंग सेना स्वल्प थी ही; कोई महत्ता की बात नहीं है।"

बहसतिमित्र—"मैं समझता हूँ, दो वर्षों के अपने द्वारा शिक्षण का जो नियम मैंने स्थापित किया था, वह अब अनावश्यक हो गया है। तुम स्वयं महासेनापति का कार्य चला सकते हो।"

पुष्यमित्र—"ऐसा मैं नहीं समझता। अपनी पात्रता पर मुझे अभी विश्वास नहीं है।"

धनभूति— अभी कक्कूजी! आपकी अवस्था ही क्या है? केवल पचासवें वर्ष में तो हैं।"

बृहस्पतिमित्र—"क्या शास्त्रों का कथन नहीं कि पचास वर्ष का हो जाने पर अथवा पौत्र का मुख देखकर प्रत्येक सुधी को वानप्रस्थाश्रम में जाना चाहिए?"

वैजयंती—"कक्कूजी! अभी आपको हुआ ही क्या है? वन जाने का विचार सारे कुटुंब का हृदय हिलानेवाला है। मानीजी की आज्ञा क्या आप पर बाध्य नहीं है?"

मातामही—"क्यों, बेटा! तू अपने बच्चों को छोड़ने के विचार में क्यों रहता है? क्या गार्हस्थ्य सुख नितांत तुच्छ है?"

बृहस्पतिमित्र—"नहीं, अम्माजी! मैं ऐसा कब कहता हूँ? किंतु इस सुख के साथ चिंताएँ भी तो लगी रहती हैं, जिन्हें मैंने अवश होकर अब तक झेला। अपने लिये मैं कुछ चाहता नहीं, तथा पुष्य को अब कार्यों में कुशल पाता हूँ। मेरे गुरुवर का कथन था कि यौगिक क्रियाओं में मैंने जितनी प्रवीणता प्राप्त की है, उसे यदि समुचित प्रकारेण बढ़ाना चाहूँ, तो इसी अवस्था से चिंता त्यागकर परिश्रम आवश्यक है। देखिए, उनका पतंजलि-नामक एक शिष्य बालवय से ही योगाभ्यास में लग जाने से अभी केवल १० ही वर्ष का है, लेकिन यौगिक क्रियाओं में प्रवीण हो गया है। वह योग, आयुर्वेद तथा व्याकरण, इन तीनो में पूर्ण परिश्रम कर रहा है, और आशा है, दस वर्षों के पीछे निष्णात हो जायगा। अनंतर उसे यौगिक क्रियाओं में एक प्रहर से अधिक समय नित्य न लगा करेगा। मुझमें उतना यौगिक बल नहीं, जितना उसने इतनी ही अवस्था में प्राप्त कर लिया है।"

धनभूति— क्षमा कीजिएगा, कक्कूजी! यौगिक बल से लाभ ही क्या?"

बहसतिमित्र—"इससे, बेटा ! चिंता भंग होती है, आयु बढ़ती है तथा श्वासाएँ स्वाधीन रहती हैं। यह शरीर-साधन का एक परमोत्कृष्ट मार्ग है। इसे एक प्रकार का व्यायाम समझो।"

पुष्यमित्र—"क्या इसमें कोई धार्मिक महत्ता नहीं ?"

बहसतिमित्र—"धर्म हम इसी शरीर में बैठकर करते हैं। विश्वास तो मानने-भर की बात है। उसे छोड़ देने से शरीर स्वस्थ रखकर यदि कोई व्यक्ति स्वास्थ्य-प्रद स्थानों में निर्लोभ पूर्ण रह सके, तो उसे सुख विशेष होगा, और कष्ट निकट न आएगा। यही स्वर्ग माना जा सकता है। धर्म-ग्रंथों में कथित स्वर्ग देखा किसने है ? यदि वह कहीं होगा, तो निष्पाप जीवन से प्राप्त होगा ही, और यदि शरीरवादियों के अनुसार जीवात्मा हो ही नहीं, और मृत्यु के पीछे दीप-निर्वाण हो, तो भी नीरोग, चिंता-हीन, निर्लोभ, दीर्घकालीन जीवन स्वर्ग से क्या कम है ? इंद्रिय-सुख के आधिक्य से जीवन का ह्रास होता ही है। महत्ता-प्राप्ति अथवा उसका उपभोग-मात्र बिना विशेष चिंता अथच प्रबंध के प्राप्त नहीं होता, जिससे जीवन की अवधि घटती ही है। यदि कोई समझे हुए सांसारिक सुखों की लालसा त्याग सके, तो वानप्रस्थ होकर भी किसी सम्राट् से कम सुखी न रहेगा। इन्हीं कारणों से मैं योगाभ्यास-पूर्ण वानप्रस्थ जीवन श्रेष्ठ समझता हूँ।"

मातामही—"जब ये ही बातें हैं, तो मैं भी क्यों न इसी आश्रम में लगूँ ?"

बहसतिमित्र—"माताजी ! आपने अब तक इसका अभ्यास किया नहीं, अतएव इस अवस्था में अब योग से समुचित लाभ नहीं उठा सकतीं। यदि केवल वानप्रस्थाश्रम से प्रसन्न रह सकें, तो हो सकता है। इधर मैं योग का न्यूनाधिक अभ्यास दस-बारह वर्षों से कर रहा हूँ। आप तृष्णा को यथासाध्य कम करके भवन में ही विराजिए। मुझे अब आज्ञा दीजिए। पुष्य अथवा धनभूति को यदि कभी मेरी सम्मति की

आवश्यकता होगी, तो मैं प्रस्तुत रहूँगा। बेटा! अब तुम लोग समर्थ हो; सुख करो, और मुझे बिदा कर दो।"

पुष्यमित्र—"अभी लगभग डेढ़ वर्ष मेरे शिक्षण का समय शेष है। इतने दिन आपके नित्य दर्शन पाने का आनंद मुझे ले लेने दीजिए। अनंतर मैं बाधा न दूँगा।"

मातामही—"इतने दिनों में तेरे प्रायः दो पौत्र-पौत्रियाँ भी और हो जायँगी। उनके मुख देखकर चले जाना; मैं भी न रोकूँगी। मैं तो इन बच्चों को छोड़ न सकूँगी, और तेरी सम्मति में भी वानप्रस्थ में मेरी विशेष उपयोगिता नहीं है।"

बहसतिमित्र—"बहुत अच्छी बात है, माताजी! एक वृद्ध व्यक्ति से बच्चों को बड़ा सहारा रहता है।"

मातामही—"यही तो मैं तेरे निमित्त कहती थी, किंतु जो बातें तूने कही हैं, उनमें भी बहुत कुछ सार है। अब प्यारे पुष्य की विनती मानकर अपने दो वर्ष यहीं पूरे कर ले।"

बहसतिमित्र—"जो आज्ञा।"

इस प्रकार कौटुंबिक मंत्रणा स्थिर होने पर महाराजा बहसतिमित्र यथापूर्व राजसेवा करते रहे, किंतु सारा सैनिक कार्य-भार पुत्र पर छोड़कर स्वयं कुछ निरीक्षण-भर का कार्य करने लगे। ऐसा प्रबंध सम्राट् सोम-शर्मन की आज्ञा से स्थापित किया गया, क्योंकि कलिंग-विजय के पीछे उन्हें भी पुष्यमित्र के रण-कौशल पर पूर्ण विश्वास हो गया था। दैव-वश इन सम्राट् महोदय का शरीरांत नंद-संवत् ३०७ (१०३ ई० पू०) में, महासेनापति बहसतिमित्र के पद-त्याग से कुछ मास पूर्व ही, हो गया, तथा सम्राट् शतधन्वन गद्दी पर विराजे। इन्होंने भी इन पिता-पुत्र पर सम्राट् सोमशर्मन (देववर्मन) के समान ही विश्वास रक्खा। मौर्य-साम्राज्य में जो सम्राट् प्रियदर्शी के समय से धर्मामात्य स्थापित थे, उनके कार्यों से पौर जानपद में लोकतंत्र प्रिय न था। वे प्रजा के निजू जीवन

में बहुत कुछ हस्तक्षेप करते थे। अतएव महामंत्री तथा महासेनापति की सम्मति से कुप्रबंध तथा अनुचित राजव्यय के कारण धर्मामात्यों की स्थिति स्थगित कर दी गई। इन्हें महामात्र भी कहते थे।

उधर शाम में वृद्ध सम्राट् एँटिवोकस महान् के स्वर्गवास से महामंत्री यूक्रेटिडस ने किसी तत्स्थानीय उत्तराधिकारी के अभाव में अपने को ही सम्राट् बना लिया। बलख की महारानी शाम की उत्तराधिकारिणी थीं अवश्य, किंतु अनुपस्थिति के कारण उनके अधिकार का मान न हुआ। बलख से महाराजा डिमिट्रियस की ओर से सेन-संधान भी हुआ, किंतु कोई सफलता प्राप्त न हो सकी, वरन् इतना दोष हुआ कि दोनो राज्यों में विरोध और भी बढ़ गया। समय पर रानी वैजयंती तथा युवराज्ञी हेलेन को एक-एक पुत्र प्राप्त हुआ, जिन्हें देखकर महाराजा बहसतिमित्र अत्यंत प्रसन्न हुए, तथा युवराज्ञी महोदया की प्रार्थना पर उन्होंने अपने सप्तसिंधु-प्रांत के महाराज्य का निरीक्षण भी परिभ्रमण करके किया। अनंतर सम्राट् शतधन्वन से प्रार्थना द्वारा पुष्यमित्र को महासेनापति के पद पर प्रतिष्ठित करके उचित समयों पर मंत्र तथा सहायता प्रदान की प्रतिज्ञा के साथ वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश किया। उन्होंने अपने पुत्र से यह भी प्रतिज्ञा की कि योगसाधक पतंजलि के योगारूढ़ हो चुकने पर उनको इनका सहायक बना देंगे। इधर सम्राट् शतधन्वन ने प्रायः आठ वर्ष शांति पूर्वक राजसुख का भोग किया। इनके शरीरांत के ही वर्ष में विदर्भपति मौर्य यज्ञसेन इनसे मिलने पाटलिपुत्र पधारे।

दोनो भूपाल बहुत ही प्रेम-पूर्वक मिले। सम्राट् प्रियदर्शी अशोक के पीछे इन दोनो मौर्य-शाखाओं में प्रेम-पूर्ण मिलन इससे पूर्व कभी न हुआ था, जिससे यह सम्मेलन बड़ा ही शुभ समझा गया। अनंतर एक दिन दोनो भूपाल अपने-अपने महामंत्रियों के साथ आपस में राजनीतिक विषयों पर वार्तालाप करने लगे। उस समाज में महासेनापति पुष्यमित्र भी सम्मिलित थे।

विदर्भपति—"देखिए, काकाजी ! हमारी दोनो शाखाओं में पूर्ण मैत्री के अभाव में अपना भारतीय प्रभाव कितना मंद पड़ गया है, सो देखा नहीं जाता।"

सम्राट्—"यही बात है, बेटा ! सम्राट् प्रवर प्रियदर्शी ने धार्मिक उन्नति पर इतना ध्यान दिया कि साम्राज्य की शक्ति तथा महत्ता गिर गई। बेचारे हम लोगों के पूर्व-पुरुष थे। जो कुछ किया, अच्छा ही किया। कुछ दिनों से आर्य पुष्यमित्र के पिता तथा इन्होंने हमारे सामरिक बल को सँभाला है, नहीं तो कलिंगपति-से लुब्ध शत्रु के दाप से साम्राज्य ही डूबा जाता था। अब तो कई वर्षों से कार-बार ईश्वरेच्छा से ठीक चल रहा है।"

विदर्भपति—"तो भी क्या चल रहा है, जब काश्मीर, सप्तसिंधु आदि राज्य से निकल गए ? यदि अब भी हम दोनो मिलकर चलें, तो बहुत कुछ काम निकल सकता है। मागध गद्दी ने तो फिर भी बहुत कुछ सँभाला, हमीं लोगों का बनाया कुछ न बना। कहाँ तो कृष्णा-नदी-पर्यंत अपना राज्य था, और कहाँ अब नर्मदा के उत्तर भी पूरा-पूरा अधिकार नहीं है।"

सम्राट्—"बाबा संप्रति, वृहस्पति, वृषसेन, पुष्यधर्मन आदि महाराजे यथासाध्य राज्य सँभालते रहे, किंतु बेचारे क्या करते, पूर्ण शक्ति के अभाव में पूरा प्रयोजन बन न पाया।"

विदर्भपति—"यदि कोई ऐसा सेनापति मुझे भी मिल जाता, जो राज-भक्ति और योग्यता, दोनो में विश्वसनीय होता, तो इधर का भी कार-बार अच्छा चलने लगता।"

महामंत्री—"इनका पुत्र अग्निमित्र भी है होनहार, किंतु अभी बच्चा है।"

विदर्भपति—"वही राजकुमार न, जो अभी परसों ही मुझसे देर तक बातें करता रहा था। उस दिन मृगया में भी साथ था। उसका लक्ष्य तो अभी से अचूक-सा है।"

सम्राट्—"है तो बड़ा होनहार ; पाँच ही छ वर्षों में काम के योग्य हो जायगा। किंतु हमारे महाराजा पुष्यमित्र दो राज्यों में अपने कुटुंब का प्रवेश उचित नहीं समझते।"

विदर्भपति—"किंतु हम दोनो के राज्य दो हैं कब ? वे अब एक ही हैं। मैं तो कुमार अग्निमित्र की मृगया से बहुत प्रसन्न हुआ था। क्यों आर्य ! आप क्या समझते हैं ?"

पुष्यमित्र—"महाराज ! कथन तो आपका नितांत योग्य है, किंतु विविध अभूतपूर्व दशाओं में काठिन्य उपस्थित हो सकता है। अभी उसमें योग्यता ही क्या है ? यदि महाराज उसे चाहते हों, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। ऐसी दशा में मैं आर्य महामंत्रीजी से निवेदन करके समय पर उसे विदिशा (भेलसा) आदि में किसी कार्य पर नियोजित कर दूँगा। वहीं से आपका भी कार्य संपादित कर दिया करेगा।"

विदर्भपति—"तो ऐसा ही प्रबंध कर न दीजिए। अवस्था के विषय में आप क्या चिंता करते हैं ? क्या सिंह-पुत्र बचपन से ही हाथी पर झपट नहीं करता ? मुख्यता तो राजभक्ति और लगन की होती है। योग्यता शीघ्रता-पूर्वक संपादित हो सकती है।"

महामंत्री—"तब फिर विदिशा में इन्हें सेनापति नियत कर दिया जाय। वहीं साम्राज्य के सैनिक विभाग का प्रबंध कर सकेंगे, तथा विद्यापीठ में योग्यता-लाभ भी करते रहेंगे। वहाँ महाराजा के इच्छानुसार इनका भी कार्य करेंगे।"

पुष्यमित्र—"किंतु अवैतनिक रूप में।"

विदर्भपति—"वेतन पर आपको क्यों आपत्ति है ?"

पुष्यमित्र—"कृपासिंधो ! मैं साम्राज्य से भी वेतन नहीं लेना चाहता। वह तो राजनियम के कारण लेता हूँ। दो महाराज्य दिए जा चुके हैं। क्या इतने से भी एक ब्राह्मण की लालसा शांत न हो सकेगी ?"

विदर्भपति—"फिर निष्कारण साम्राज्य का काम ही कोई क्यों करे ?"

पुष्यमित्र—"निष्कारण क्यों ? देव ! उसमें तो स्वार्थ भी लगा हुआ है। यदि देव न करें, कहीं साम्राज्य का अमंगल सम्मुख आए, तो अपने ही महाराज्य कब बचे जाते हैं ?"

सम्राट्—"यह बात है ? आर्य !"

पुष्यमित्र—"यह तो है ही, देव ! साम्राज्य की स्थिरता तथा दृढ़ता में अपने सबों का महत्त्व है।"

विदर्भपति—"फिर भी, मेरा काम करने पर, नितांत अवैतलिक दशा मुझे कैसे अच्छी लगेगी ? आज्ञा देते हुए संकोच होगा, और वास्तविक सेवा-धर्म का रूप न उतरेगा।"

पुष्यमित्र—"है देव के कथन में भी बहुत कुछ सार, किंतु अभी तो अग्नि बालक-मात्र है, और इधर साम्राज्य के नियमानुसार उसे वेतन लेना ही होगा, तब विद्यार्थी होकर विदर्भ से भी वेतन-प्राप्ति न्यूनाधिक स्वार्थ-परता की ओर जायगी। अभी छ वर्ष-पर्यंत प्रतिवर्ष दो-एक मास के लिये अपने पास बुलाकर मैं भी उसे अपना सैनिक अनुभव बतलाया करूँगा; केवल विद्यापीठ-भर के शिक्षण से काम न चलेगा। जब इतने दिनों की राजसेवा से आप उस पर प्रसन्न हो सकेंगे, तब जो आज्ञा करेंगे, वह शिरोधार्य होगी।"

सम्राट्—"मैं भी समझता हूँ, इनकी सम्मति है उचित।"

विदर्भपति—"जो आज्ञा, काकाजी ! फिर भी, मैं समझता हूँ, आप उस बेचारे की योग्यता का कुछ अनुचित तिरस्कार करते हैं। बालक होकर भी विद्या और बुद्धि में वह आयु के देखते बहुत प्रवीण है।"

पुष्यमित्र—इस आज्ञा के लिये मैं अनेकानेक हार्दिक धन्यवाद देता हूँ !"

अनंतर कुछ काल अत्यंत प्रेम, मान तथा उत्साह के साथ पाटलिपुत्र में रहकर अथच मृगयादि का पूर्ण आनंद प्राप्त करते हुए सम्राट् को

विदर्भ पधारने के लिये हठ-पूर्वक निमंत्रित करके विदर्भपति महाराजा यज्ञसेन अपनी राजधानी पधारे। इस बार वह पुष्यमित्रजी तथा तत्पुत्र अग्निमित्र से बहुत प्रसन्न रहे। अनंतर कुछ ही मासों के पीछे साम्राज्य के महामंत्रीजी का शरीरांत हो गया, तथा किसी अन्य व्यक्ति को इस योग्य न पाकर सम्राट् ने आर्य पुष्यमित्र को ही उस पद पर भी प्रतिष्ठित कर दिया, यद्यपि स्वयं आप बहुत कुछ नाहीं करते रहे थे। अनंतर कुछ महीनों के पीछे सम्राट् शतधन्वन का भी शरीरांत हो गया, और तत्पुत्र सम्राट् बृहद्रथ सिंहासनारूढ़ हुए।

त्रयोदश परिच्छेद

पाटलिपुत्र

कुछ काल-पर्यंत पाटलिपुत्र में राजकाज नियम-पूर्वक उत्तमता के साथ चलता रहा। एक दिन सम्राट् बृहद्रथ की सम्राज्ञी ने महाराज पुष्यमित्रजी को बुलाकर यों बात की। दो-चार सखियाँ वहीं प्रस्तुत थीं।

सम्राज्ञी—"काकाजी! सुना है, आजकल आपने ऋषि पतंजलि को राजगृह में निमंत्रित किया है। क्या ऐसा ही है?"

पुष्यमित्र—"है तो देवीजी! ऐसा ही।"

सम्राज्ञी—"सुना, वह योग-शास्त्र में बहुत प्रवीण हैं।"

पुष्यमित्र—"इस विषय का वह एक ग्रंथ ही बना रहे हैं। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद तथा व्याकरण पर भी उनके ग्रंथ बन रहे हैं।"

सम्राज्ञी—"समझ अच्छे विद्वान् पड़ते हैं।"

पुष्यमित्र—"हैं तो मुझसे प्रायः पाँच वर्ष छोटे, किंतु विद्वत्ता तथा यौगिक क्रियाओं में उन्होंने परिश्रम अवश्य अच्छा किया है।"

सम्राज्ञी—"तब फिर काकाजी! उनको एक बार पाटलिपुत्र बुलवाइए न?"

पुष्यमित्र—"जैसी आज्ञा। एक बार देव से भी इसकी चर्चा कर लूँगा। क्यों न?"

सम्राज्ञी—"बहुत यथार्थ है। मैं भी पूछ लूँगी। यहीं राजप्रासाद के अंतरंग कक्ष में उनसे कथोपकथन हो न?"

पुष्यमित्र—"जो आज्ञा।"

इस प्रकार कथन के उपरांत महाराजा पुष्यमित्र ने सम्राट् से आज्ञा

लेकर महर्षि पतंजलि को पाटलिपुत्र बुलवाया, और राजप्रासाद में सम्राट्, सम्राज्ञी, पुष्यमित्र तथा अन्य राजकीय पुरुषों के मध्य में उनसे वर्तालाप होने लगा।

सम्राट्—"महर्षि! आपने योग के विषय पर परिश्रम सुना, अच्छा किया है।"

ऋषि पतंजलि—"यथासाध्य यौगिक क्रियाओं तथा शास्त्र पर गुरुजी ने कुछ सिखलाया अवश्य है, तथा अपना भी न्यूनाधिक मनन हुआ है। यदि आज्ञा होगी, तो कथन करूँगा।"

सम्राट—"तो फिर प्रारंभ कीजिए।"

ऋषि पतंजलि—"जो आज्ञा। मेरा पहला विचार इस प्रकार है—'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' [उस समय (योग की अवस्था में) देखनेवाले की (आत्मा की) स्थिति अपने रूप में हो जाती है।]"

सम्राज्ञी—"इसका मुख्य प्रयोजन क्या है? ऋषिवर!"

ऋषि पतंजलि—"बिना योगस्थ हुए मनुष्य भाँति-भाँति के विचार किया करता है, किंतु योग में स्थित हो जाने पर उसे आत्मा का शुद्ध रूप अवगत हो जाता है।"

पुष्यमित्र—"यदि कोई व्यक्ति योगारूढ़ न हुआ, तो उसकी क्या दशा रहती है?"

ऋषि पतंजलि—"'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' [इस (योग) से भिन्न अवस्था में (आत्मा की) वृत्तियों (आत्मा से भिन्न वस्तुओं) से सरूपता रहती है।] अर्थात् मनुष्य अपना शुद्ध रूप न जानकर अपने रूप में अपने से भिन्न वस्तुओं की भी स्थिति मानता है, अर्थात् उन्हें भी आत्मा का अंग समझता है।"

सम्राट्—"इसका निरोध कैसे हो? ऋषिवर!"

ऋषि पतंजलि—"'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' [उन (वृत्तियों) का अभ्यास और वैराग्य से निरोध होता है।]"

पुष्यमित्र—"इसका तो कथन भगवद्गीता में भी निम्नानुसार हुआ है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ;
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।

[हे महाबाहुवाले ! निश्चय-पूर्वक मन चल तथा कठिनता से पकड़े जाने योग्य है ; किंतु हे कुंतीपुत्र ! तो भी वह वैराग्य और अभ्यास से वश में आ सकता है ।]"

ऋषि पतंजलि—"है दोनों में अभ्यास तथा वैराग्य का कथन, किंतु विषय में कुछ भेद है। इन दोनों से कई बातों की सिद्धि संभव है।"

सम्राज्ञी—"योग-मुक्तों का भी क्या कुछ कथन कीजिएगा ? यह भी योग का एक मुख्य फल है।"

ऋषि पतंजलि—"सम्राज्ञी महोदया ! इस विषय पर मैं अपने कुछ सूत्र कहता हूँ।

(१) 'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ।' [विदेह एवं प्रकृति लयवालों (सहज मुक्तों) का जन्म कारण है। प्रयोजन यह है कि कुछ आत्माएँ जन्म से ही मुक्त होती हैं।]

(२) 'श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ।' [अन्य जीवों के (मोक्ष) का कारण श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा हैं।] प्रयोजन यह है कि कुछ आत्माएँ इस जन्म से पूर्व ही ऐसी उन्नत हो चुकती हैं कि जन्म के पीछे मुक्त होने के लिये उन्हें करणीय कार्य इतना स्वल्प रह जाता है कि वे मानो सहज मुक्त होती हैं। जो आत्माएँ इतनी उच्च नहीं हैं, किंतु तो भी श्रेष्ठ हैं, उन्हें श्रद्धा-वीर्यादि के द्वारा उन्नति करनी होती है।

(३) 'तीव्रसंवेगानामासन्नः ।' [जिनका प्रयास तीव्र होता है, उनकी योग-सिद्धि निकट होती है।]

(४) 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।' [अन्य प्रकार से यौगिक सिद्धि ईश्वरीय ध्यान से भी प्राप्य है ।]"

पुष्यमित्र—"विषय बहुत बढ़ाकर हम आपका समय नष्ट नहीं करना चाहते, किंतु सिद्धियों तथा ईश्वर के संबंध में कुछ और सुनने की इच्छा शेष है ।"

ऋषि पतंजलि—"अवश्य सुनिए । सिद्धियों को बहुतेरे सज्जन श्रद्धा-मात्र का विषय मानते हैं । दंभी लोगों ने इसका उचित से अधिक विस्तार करके जनता को पूर्ण आर्ष समाज पर लांछन लगाने का अवसर भी दे रक्खा है, जिससे वेदांत के प्रतिकूल प्राचीन काल में लोकायत विचार चल पड़े, और वर्तमान समय में भी श्रीभगवद्गीता तथा महर्षि गौतम बुद्ध के उच्चतम उपदेशों को जनता में ग्राह्य मोटे भावों द्वारा अधिकाधिक स्थूल बनाया जा रहा है । यहाँ तो उच्चातिउच्च समाज मेरे सम्मुख है, जिससे मैं केवल सूत्रों द्वारा श्रेष्ठतम कथन करूँगा । पहले सिद्धियों का विषय उठाता हूँ । बहुतेरी कथित सिद्धियाँ अशुद्ध हैं, किंतु इतना सिद्ध किया जा चुका है कि यौगिक क्रियाओं द्वारा कतिपय ऐसी शक्तियाँ प्राप्य हैं, जो बिना इसके अलभ्य रहती हैं । अब कुछ मंत्रों का कथन करता हूँ ।

(१) 'तत्र ध्यानजमनाशनम् ।' [उन (सिद्धियों) में जो ध्यान से मिलती हैं, वे अविनाशी हैं, अर्थात् सदैव बनी रहती हैं ।]

(२) 'वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ।' [वस्तु के समान रहने पर भी चित्त-भेद से (उसमें) भेद दिखने लगता है ।]

(३) 'प्रातिभाद्वा सर्वम् ।' [जन्मज योग्यता से सभी वस्तुओं का ज्ञान होता है ।]

(४) 'हृदये चित्तसंवित् ।' [हृदय में चित्त का सम्यक् बोध होता है ।]"

पुष्यमित्र—"प्रयोजन आपके कथन का यह समझ पड़ता है कि सिद्धियों की प्राप्ति ध्यानादि से है।"

ऋषि पतंजलि—"यही बात है। यह प्राप्ति यौगिक क्रियाओं से है, जिनमें ध्यान भी एक है।"

सम्राट्—"अच्छा, ऋषिवर! अब ईश्वर पर भी कुछ कथन कर दीजिए। हमारे यहाँ बौद्धों में इसका मान क्यों नहीं है, यह भी कहिएगा।"

ऋषि पतंजलि—"जैसी इच्छा, देव! इस विषय का कथन आदिम समय से करूँगा।"

सम्राज्ञी—"बहुत ठीक है।"

ऋषि पतंजलि—"हमारे कोल, द्राविड़ तथा नाग पूर्वजों ने इस पर विचार नहीं किया। नागों का प्राचीनतम धार्मिक भाव अज्ञात है, तथा कोलों का ईश्वरीय भाव से पृथक् था। द्राविड़ों ने धार्मिक उन्नति विशेष करके ध्यान-मग्न पशुपति, सिंहवाहिनी देवी आदि के भाव तो निकाले, किंतु ईश्वरीय कथन नहीं किया। ऋग्वेद में विनतियाँ तो विशेषतया तैंतीस देवताओं से हुईं, किंतु वे सब केवल ईश्वरीय शक्ति से शक्तिमान् माने गए। वह ईश्वर कैसा है, इसका वर्णन ऋग्वेद में विशेषतया न हुआ, केवल पुरुषसूक्त में कुछ कहा अवश्य गया, किंतु वह कथन आलंकारिक-मात्र था, वास्तविक नहीं। अनंतर यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में ईश्वरीय भाव कुछ बढ़ा। इस विचार की कहने योग्य वृद्धि औपनिषत् काल में हुई, जहाँ यह कथन निम्नानुसार हुआ—

व्यतिरेक (वह क्या नहीं है)-युक्त कथनों द्वारा वह अस्पृश्य, अरूप, अव्यय, अरस, अनादि, अनंत, अच्छाय, अशरीर, अलोहित, अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षु, अश्रोत्र, अपाणिपाद, अमूर्त, अज, अप्राण, विरज, निष्कल, अमन, अक्षर आदि है। अन्वयवाची शब्दों (कैसा है) में वह शुद्ध आँख की आँख, कान का कान, मन का मन, नित्य,

विभु, सर्वगत, सूक्ष्म, भूतयोनि, शुभ्र, रुक्मवर्ण, अचिंत्यरूप, सूक्ष्मात् सूक्ष्मतर, ज्योतिषां ज्योतिः, तमसःपर, परतःपर आदि है।"

पुष्यमित्र—"उपनिषदों का ईश्वर-विषयक सारांश आपने बहुत ही थोड़े शब्दों में कह दिया। धन्य है आपकी योग्यता और परिश्रम को! अब अपना ऐतिहासिक विवरण फिर से उठाने की कृपा कीजिए।"

ऋषि पतंजलि—"ईश्वर की पुष्टि में ऋषि याज्ञवल्क्य ने बृहदारण्यकोपनिषद् में सबके प्रथम कार्यवाद उठाया। प्रयोजन यह था कि जब विश्व एक महत्कार्य है, तब इसका कर्ता कोई अवश्य होगा, जो ईश्वर है। इसके प्रतिकूल गार्गीदेवी ने ईश्वर को भी कार्य मानने का संदेह उठाया, जिससे ऋषि को मानना पड़ा कि तर्क से अज्ञेय ईश्वर केवल शास्त्रों से ज्ञातव्य है। इस प्रकार कार्यवाद कट गया।

अनंतर यमाचार्य ने कठोपनिषत् में धृत्यायोजनवाद उठाया, जिसका प्रयोजन यह था कि विश्व प्राकृतिक शक्तियों का फल है, किंतु वे आप-ही-आप कैसे स्थिर हो सकती हैं? उनका कोई धारण करनेवाला आवश्यक है, जो ईश्वर है। इसी प्रकार सांसारिक पदार्थों में कारीगरी का अनुपमेय फल छोटी-छोटी वस्तुओं तक में दिखता है। यह महदायोजन बिना किसी आयोजक के असिद्ध है। विश्व हमें एक सेना के रूप में दिखता है, विशृंखल अंधाधुंध रूप में नहीं। सेना के नियम पालनादि से सेनापति का विचार आवश्यक है, चाहे वह उस स्थान पर प्रस्तुत न भी हो। इस प्रकार प्राचीन काल में यह महाविषय सिद्ध किया गया, अथवा कम-से-कम शिष्टों के विचारगम्य माना गया है। अब इस पर मैं अपने भी कुछ सूत्र कहता हूँ।

(१) 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।' [वह पुरुष विशेष, जो क्लेश (तथा) कर्म-फलों से मुक्त है, ईश्वर है।]

(२) 'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।' [काल से स्वतंत्र होने से वह (ईश्वर) पहले के जीवों का भी गुरु है।] जीवधारी यद्यपि प्राचीन काल से चले आते हैं, और उन सबका ईश्वर से संबंध

रहा है, तथापि वह समय की सीमाओं में आबद्ध न होने के कारण जैसे अब हमारा गुरु है, वैसे ही तब उनका भी था।

(३) 'तस्य वाचकः प्रणवः।' [उस ईश्वर का निर्देश करनेवाला प्रणव (ओं) शब्द है।]

(४) तज्जपस्तदर्थभावनम्।' [उस प्रणव का जप तथा उसके अर्थ का चिंतवन करना योग्य है।]

अब इस गूढ़ विषय की मान्यता का थोड़ा-सा ऐतिहासिक विवरण करता हूँ। सबसे पहले उत्कृष्टतम ईश्वरीय विवरण उपनिषदों में हुआ, जो धार्मिक कम था तथा दार्शनिक विशेष। भारतीय जनता में विद्या की ऐसी न्यूनता थी कि वह इन उच्च भावों का आत्मीकरण न कर सकी, और लोकायत रूप में अनीश्वर-वाद चलने लगा, तथा प्राचीन शैव ईश्वरता गिर गई। ऐसा कुदिन देखकर भगवान् बुद्ध ने कार्मिक सिद्धांत के अनुसार धर्म-शिक्षा दी, जिसमें ईश्वर का कथन अनावश्यक था। उन्होंने अनीश्वर-वाद का प्रयोग न किया, वरन् केवल जनता में अमान्य ईश्वरीय कथन भी न किया, जिससे यह तत्कालीन अप्रिय विषय उनके उपदेशों का बाधक न हो। उनके पीछे शिष्यों ने अनीश्वर-वाद बहुतायत से चलाया, और स्वयं बुद्ध भगवान् के मत को बहुतेरे हीनयान कहकर वर्तमान बौद्ध मत को महायान कहते हुए समझ पड़ते हैं। महायान में बुद्ध भगवान् ईश्वर-से दिखते हैं, जिससे यह महामत भी ईश्वर-वादी होता जा रहा है। उधर महर्षि बादरायण व्यास ने जनता में निर्गुण-वाद अप्रिय देखकर उसे निंद्य न कहते हुए अधिक लोक-प्रिय सगुण तथा अवतार-वाद भी चलाया। तो भी जनता में महोपदेशकों द्वारा प्रतिपादित ये उत्कृष्ट मत न चलकर स्थूलता-गर्भित धर्म चल रहा है, जिसके रूप न्यूनाधिक वाल्मीकीय रामायण, कौटिल्य-कृत अर्थशास्त्र तथा प्रियदर्शी सम्राट् के विचारों में पाए जाते हैं। आजकल भक्ति-भाव-गर्भित भागवत-मत लोक में आधिक्य से चल रहा है, जिसके अनुसार विष्णु भगवान् माने

जाकर उनके मुख्य उपासक भागवत कहलाते हैं। धार्मिक विषय है तो बहुत दीर्घकाय, किंतु सूक्ष्मतया यहाँ कहा गया है।"

सम्राट् "तब तो, महर्षि ! आपका विचार ऐसा दीखता है कि हमारा बौद्ध मत भी वास्तव में अनीश्वर-वादी नहीं है।"

ऋषि पतंजलि—"ऐसा ही समझ पड़ता है, देव !"

पुष्यमित्र—"अच्छा, यदि कष्ट न हो, तो अब अपने प्रिय विषय आयुर्वेद तथा व्याकरण पर भी कुछ स्वमत प्रकाशन की कृपा कीजिए।"

ऋषि पतंजलि—"मैंने भाषा, शरीर तथा मानसिक शुद्धियों के अर्थ व्याकरण, आयुर्वेद और योग पर ध्यान दिया है। व्याकरण का विषय मुनिद्वय (महर्षि पाणिनि तथा महर्षि कात्यायन) ने स्पष्ट कर दिया है। यद्यपि इन दोनों मुनियों में अमुख्य बातों पर कुछ मतभेद भी है, और मेरा मतैक्य बहुत करके महर्षि पाणिनि से है, तथापि हैं दोनों मुनि पूज्य, और उनके महामतों पर अनुगमन करने से जिह्वा की शुद्धता प्राप्त हो सकती है। मुख्य बात तो यह है कि जनता शब्दों की एकरूपता पर नहीं चलती, वरन् एक-ही-एक मूल शब्दों के रूपों को अनेक प्रकार से कहती है। यथा जाने को गो, गवो, गया, गैलो, गवा, गयो आदि अनेकानेक प्रकार से व्यवहृत करती है। इसी भाँति लेखन में एक शब्द कैकेयी को केकई, केकयी, कैकेयी, कैकई आदि अनेक रूपों में लिखती है। स्वयं ओऽम् तक को ओम् कहने लगती है। ऐसे-ऐसे अशुद्ध कथन शब्द न होकर अपशब्द हैं।"

पुष्यमित्र—"बात तो ऐसी ही है ऋषिवर ! किंतु शुद्ध प्रयोग के लिये जनता में विशेष विद्या-प्रचार की आवश्यकता है, जो अपने देश में अब तक अप्राप्य है।"

ऋषि पतंजलि—"भाषा की शुद्धि यदि आवश्यक है, तो कुछ परिश्रम योग्य है, न कि अपभ्रंश शब्दों का प्राचुर्य से प्रयोग।"

सम्राट्—"यह तो इच्छा है, किंतु संभवनीयता का भी प्रश्न रहता है।"

ऋषि पतंजलि—"यह गोनर्दीय यावज्जीवन परिश्रम में निरत रहा है, अतएव इसे प्रचंड अशुद्धता असह्य-सी रहती है। अच्छा, अब आयुर्वेद का भी कुछ वर्णन किए देता हूँ।"

सम्राट्—"अवश्य कीजिए।"

ऋषि पतंजलि—"भोजन करने में मनुष्य को उचित है कि चतुर्थांश पेट भोज्य वस्तुओं से भरे, अन्य चतुर्थांश जल से तथा शेषार्द्ध वायु से। क्षुधार्त होने से जनता में प्रायः कुछ भी रोग नहीं बढ़ते, क्योंकि अकालादि को छोड़कर ऐसी भोजन-हीनता होती ही नहीं है। उधर बहुभोज से सैकड़ों रोग उत्पन्न होते हैं। अतएव इससे शत्रु के समान बचना चाहिए। मानुष-तन एक प्रकार का यंत्र है। इसे सुचारुरूपेण परिचालित होने के लिये जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता हो, केवल उन्हें ही भोजन के रूप में लेना चाहिए। जिह्वा लौल्यात् सुस्वादु भोजन का आधिक्य एक प्रकार से मृत्यु का आह्वान है। प्रत्येक समय हम शारीरिक क्रियाओं से शक्ति का व्यय किया करते हैं। वह कमी पुष्टिकर भोजन से पूरी होती है। शरीर में शक्ति का जो कोष है, वही हमारे दुरुपयोगों की हानियों को भी यथासाध्य पूरी करता है। उचित यह है कि नित्य के भोजन से समुचित मात्रा में शक्ति-संचय हो, तथा उसका प्रयोग भी योग्य मात्रा में किया जाय। मानुष-जीवन १०० तथा १२० वर्षों का साधारण रूप में होना चाहिए। यदि अनुचित प्रयोगों द्वारा हम उसे न घटाएँ, तो यह जीवनावधि सुगमता-पूर्वक प्राप्य है। यही आयुर्वेद के मोटे-मोटे-सिद्धांत हैं। विविध दशाओं में वैद्यों के उपदेश यथाकाल होने ही चाहिए।"

सम्राट्—"ऋषिवर! आपके उपदेश सुनकर हम लोग अत्यंत प्रसन्न हैं। अब आर्य पुष्यमित्र आपसे कुछ कथन करनेवाले हैं। आशा है, आप उसे मानकर मुझे बाधित करेंगे।"

पुष्यमित्र—"ऋषिवर! देव का यह विचार है कि आपको कुछ भूमि

अर्पित करें। यह किसी वस्तु का मूल्य नहीं है, वरन् राजकीय प्रसन्नता की उपहार-मात्र होगी। उपदेश आपके अमूल्य हैं ही।"

ऋषि पतंजलि—"देव! मैं इस कृपा के लिये आपको अनेकानेक धन्यवाद देता हूँ, किंतु मुझे भूमि आदि की क्या आवश्यकता हो सकती है? मैं तो एक संसारत्यागी पुरुष हूँ, जिसे भोजनाच्छादन के अतिरिक्त और कुछ चाहना नहीं है। आपकी जनता ऐसी उदारचेता है कि इसके लिये भिक्षा माँगने की भी आवश्यकता नहीं होती। गुरुवर के आश्रम में सारे शिष्य-समुदाय के लिये आवश्यक वस्तुओं की कोई कमी नहीं रहती। महात्मा बृहस्पतिमित्र भी वहीं विराजते हैं, और बड़े आनंद से कालक्षेप हो रहा है। यौगिक शिक्षाएँ हो रही हैं, और इस गोनर्दीय ब्राह्मण को किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं रहती। तब फिर भूमि-दान लेकर यह एक प्रकार से गृहस्थ क्यों बने? मैं देव की उदारता पर धन्य-वाद देता हूँ, किंतु क्षमा का प्रार्थी हूँ।"

सम्राज्ञी—"ऋषिवर! जैसे ये उपदेश उच्च हैं, उसी प्रकार के आचरण से आप उनकी महत्ता और भी प्रतिपादित कर रहे हैं।"

इस प्रकार से संलाप के पीछे यह समाज भंग किया गया, और सब लोग अपने-अपने स्थानों को पधारे। ऋषि पतंजलि अपने आश्रम चले गए, और प्रजा-पालन का कार्य यथापूर्व चलता रहा। समय के साथ सम्राट् बृहद्रथ में सुरा-पान की लत बढ़ चली, तथा कर्तव्यों की ओर से ध्यान हटता गया, अथच आनंद-प्राप्ति पर रुचि बढ़ती गई। एक दिन सोमयश और गंगयश-नामक दो नटों ने सम्राट् के सम्मुख अपनी उच्च नट-कला का प्रदर्शन किया। इसमें उनकी भगिनी विनीता ने भी भाग लिया। उसकी अवस्था प्रायः सोलह वर्ष की थी, तथा शरीर का रंग स्वर्णाभा धारण किए हुए था। वह दुबली तो थी नहीं, किंतु शारीरिक गठन स्थूलता की ओर न जाकर कृशता लिए हुए थी। अंग-प्रत्यंग की शोभा अपूर्व थी। दृष्टि जिन अंगों पर पड़ती थी, वहीं की हो रहती

थी। समझा क्या थी, मानो कामदेव ने संसार का सारा सौंदर्य-कोष एकत्र करके उस रमणी के रूप में मूर्तिमान् कर दिया था। उच्च समाज में यथायोग्य संभाषण करने में वह परम प्रवीणा थी। नट-कला-प्रदर्शन भी परमोच्च कर चुकी थी। सम्राट् के इच्छानुसार अब अंतरंग समाज में अपनी गान-विद्या का भी बढ़िया उदाहरण दिखलाने लगी। उसने नृत्य के साथ निम्न पद गाया—

जोबना जोर मचावे, बलम परदेसा में छावे।

इस पद को देर तक गा-गाकर उसने तदनुकूल भावों का अंग-भंगी से परमोत्कृष्ट प्रदर्शन किया। वाहवाही से समाज गूँज उठा। सम्राट् हर्ष-गद्गद हो गए। अनंतर आज्ञा लेकर विनीता ने निम्न-लिखित गाना और गाया—

नैना नट-नागर सक नाहीं;
उलटि-पलटिकै कला दिखावैं, मुरकि छिनक में जाहीं।
बरबस मन मोहत हैं, मानो प्रकटि धूप औ' छाहीं;
सित अरु असित रंग मिलि सबके हरत न चित सकुचाहीं।

यह गाना भी सुनकर सम्राट् बहुत प्रसन्न हुए, और बोले कि मद्य पर भी कोई पद सुनाया जाय। ऐसी आज्ञा सुनकर विनीता ने निम्न-लिखित गाना गाया—

मदिरा मुख सों निंद्य बतावैं;
तऊ समय पर कोउ न चूकैं, छकि-छकि सबै उड़ावैं।
कोऊ खुले, छिपे कोउ पीवैं, मद सों बाज न आवैं;
प्याले पै प्याले ढरकावैं, भलेहिं मस्त बनि जावैं।
खुले बहुत दिन धारन कीन्हों, अब ऐसी मन भावैं;
त्यागिन में हमहूँ मिलि बैठैं, छिपि-छिपि चोट चलावैं।

ये दोनों गाने भी विनीता ने भाव बतला-बतलाकर बड़ी उमंग के साथ गाए। सम्राट् उस पर पूर्णतया मोहित हो गए। अनंतर गुप्त सभा

भंग हुई, किंतु उसी रात्रि से विनीता छिपा-छिपाकर उनकी सेवा में उपस्थित कराई जाने लगी। दस-पंद्रह दिनों के पीछे एक दिन सम्राट् ने राजचर को बुलाकर आलाप किया।

सम्राट्—"आजकल दंडपाश-विभाग तथा दूतों के पत्रों में यदा-कदा नट-कन्या विनीता का नाम आ जाया करता है। यह क्या बात है?"

राजचर—"देव! मैंने भी पत्रों को बहुतायत से देखा, चरों, दूतों आदि से आलाप किया, तथा इतरों के भी हृदयांतरिक भेद लिए। यह चर्चा इन दिनों नगर में चल कुछ आधिक्य से रही है।"

सम्राट्—"इसका क्या कारण है? पहले भी सुंदरियाँ आया-जाया की हैं, किंतु कोई चर्चा न उठी; इस बार क्या मुख्यता है?"

राजचर—"देव! उन समयों पर कार्य बुद्धिमान् अनुचरों द्वारा हुए, तथा जो सुंदरियाँ आती थीं, वे स्वयं अपयश से डरकर यह कांड गोप्य रखती थीं। इधर विनीता तथा उसके दोनो भ्राताओं को इस विषय पर भारी आत्मगौरव तथा अभिमान है। वे इसे क्यों छिपाने लगे?"

सम्राट्—"यदि उनको इस पर विशिष्ट आज्ञा दी जाय, तो कैसा हो?"

राजचर—"तब संभवतः बात इतनी प्रकट न रहे, किंतु नीचों में इतना चित्त-निरोध है कुछ कठिन। अपने जीविका-साधनार्थ वे यत्र-तत्र नट-कला-प्रदर्शन किया ही करते थे, जो अब स्थगित है। इसका भी अर्थ पौर लगाते ही हैं।"

सम्राट्—"क्या यह कथा सम्राज्ञी तथा महासेनापति के कानों तक भी पहुँच गई है?"

राजचर—"देव! सम्राज्ञी महोदया तो बौद्ध होकर सनातनधर्मिणी भी हैं। उनका धर्म पर अनुराग है, तथा पूजनादि में समय विशेष व्यय होता है। किसी से यत्र-तत्र की वार्ता वह बहुत कम करती हैं, तथा देव पर उनका विश्वास एवं प्रेम इस आधिक्य से है कि चित्त में अनावश्यक संदेहों

के लिये स्थान ही नहीं है। उन तक यह वार्ता तो पहुँची न होगी, किंतु महासेनापतिजी को अवश्य ज्ञात है।"

सम्राट्—"यह तुमने कैसे जाना ?"

राजचर—"सुना गया है, इन्हीं दिनों नगरश्रेष्ठी, कुलिक और प्रथम सार्थवाह उनकी सेवा में उपस्थित होकर इसी विषय पर आलाप करते रहे, तथा पौरों में जो महती चर्चा चल रही है, उसका भी निवेदन किया गया।"

सम्राट्—"तब उन्होंने क्या कहा ?"

राजचर—"महासेनापति उन्हें समझाते रहे कि जब तक किसी राजकीय कार्य का कोई अनुचित प्रभाव पौर जानपद पर न पड़े, तथा लोकतंत्र यथापूर्व सुचारुरूपेण परिचालित रहे, तब तक किसी को ऐसी क्षुद्र घटनाओं पर विचार करने से क्या प्रयोजन था ?"

सम्राट्—"बात तो उन्होंने उचित कही ; इस पर वे लोग क्या बोले ?"

राजचर—"उनका ऐसा कथन हुआ कि इस तर्क के शुद्ध होते हुए भी कुछ पौरों की क्षुद्रता अथच निर्बुद्धि के कारण ऐसी चर्चाएँ अनुचित प्रकर्षता के साथ चलती अवश्य हैं। साधारण लोगों को उच्च महापुरुषों के अनुचित कार्यों की समीक्षा में ऐसा आनंद आता है कि कुछ कहते नहीं बनता। क्षमा का प्रार्थी होकर मैं बिनती करूँगा कि स्वयं सम्राज्ञी महोदया का सौंदर्य इस क्षुद्रा विनीता से क्या कम है ? तब फिर इन बातों की आवश्यकता ही क्यों समझी जाती है ? यदि यह विषय पहले ही से न उठता, तो अच्छा रहता।"

सम्राट्—"अब तो तुम भी धर्मोपदेशकों का रूप धारण कर रहे हो। ऐसे महात्मा थे, तो उन कामों में सहायक क्यों हुए ?"

राजचर—"अपराध क्षमा हो, अन्नदाता ! मैंने एक साधारणी बिनती-मात्र की। यदि कोई साधारण व्यक्ति ऐसा करता, तो विशेष चर्चा न होती, किंतु देव की राजकीय महत्ता के कारण ऐसा हो रहा है। किया क्या जाय ? यदि ऐसे अवसरों पर दंड का प्रयोग हो, तो अपकीर्ति और

भी बढ़े। मुझे इन बातों से क्या प्रयोजन? जो आज्ञा होगी, उसका पालन करूँगा!"

सम्राट्—"अरे मूर्ख! यह भी तो देख कि कामशास्त्रियों की शांति कहीं एक युवती से होती है? उनका चित्त ऐसा चंचल रहता है कि आज्ञाएँ देनी ही पड़ती हैं।"

राजचर—"यही तो बात है, देव!"

राजचर से इस प्रकार परामर्श करके सम्राट् ने दस-पाँच दिनों के लिये विनीता का संसर्ग स्थगित रक्खा, किंतु जब चित्त न माना, तब उसे तथा उसके दोनो भ्राताओं को समाचार गुप्त रखने के संबंध में कठिन आज्ञाएँ देकर उसका यदा-कदा बुलवाना फिर प्रारंभ किया। नगर में दिनोंदिन चर्चा बढ़ती रही, अथच सम्राज्ञी महोदया तक भी समाचार पहुँच ही गया। अनंतर उन्होंने एक दिन सुअवसर पाकर सम्राट् से यों संलाप किया।

सम्राज्ञी—"मेरे द्वारा इन पुनीत चरणों की सेवा में क्या त्रुटि पड़ जाती है, जिससे देव का चित्त इतर क्षुद्र रामाओं की ओर धावित होने लगता है?"

सम्राट्—"प्राणप्रिये! ऐसा मैंने कब कहा? मैं तो सदैव इन चरण-कमलों का भृंग बना रहता हूँ, और कभी आदर-सम्मान में न्यूनता नहीं आने पाती। फिर ऐसे नीरस विचार आपके चित्त में क्यों उठ पड़े? आपने तो अब तक कभी ऐसा कथन किया न था। आज क्या बात है?"

सम्राज्ञी—"नाथ! मैं तो संसार-यात्रा में कर्तव्यों को ही मुख्यता देती हूँ, और ऐंद्रिय सुख की ओर कभी चित्त ही नहीं ले जाती। चाहे आप वर्षों न पधारें, तो भी मुझे कष्ट नहीं होता, किंतु मेरा स्वामी क्या नीच-गामी होकर भी वैसा ही पूज्य बना रह सकता है, और क्या इन बातों से मेरे शरीर में भी कोई अनुचित संसर्ग का दूषण नहीं लग सकता?"

सम्राट्—ऐसा तब होता, जब नीचों से संसर्ग की जनश्रुति वास्तविकता

पर अवलंबित होती। मैं तो कहता हूँ, यह वार्ता नितांत अशुद्ध है।"

सम्राज्ञी—"यदि ऐसा होता, तो पखवारों-पर्यंत मेरे राजभवन की शय्या सूनी क्यों पड़ी रहती? मुझे कर्तव्य-परायणता के सम्मुख ऐंद्रिय सुख की तिल-मात्र आवश्यकता नहीं, किंतु अपने प्राणपति की अपकीर्ति असह्य हो उठती है।"

सम्राट्—"यह विचार नितांत उचित है। अच्छा, आज से आप ही के राजप्रासाद में रात्रियाँ बिताया करूँगा। अब तो प्रसन्नता है?"

सम्राज्ञी—"प्रसन्नता तो मुझे सदैव थी, और है, केवल जनापवाद अखर जाता है।"

इस प्रकार सम्राज्ञी महोदया से आलाप करके सम्राट् ने एक दिन आर्य पुष्यमित्र से भी इस विषय पर बात की।

सम्राट्—"आर्य! आजकल पौरों में मेरे विषय में जो अनुचित आचरण के कथन चल रहे हैं, उन पर आपका क्या विचार है?"

पुष्यमित्र—"जब तक लोकतंत्र के प्रबंध में कोई शैथिल्य न आवे, देव! तब तक कोई वास्तविक हानि तो होती नहीं, किंतु सम्राटों के आचरणों के समाचार उड़ बहुत दूर-दूर जाते हैं, जिससे पर्राष्ट्रों से संघर्ष की संभावना होने लगती है। अपने यहाँ का एक शत्रु तो कलिंग-पति है, जो आजकल दबा हुआ अवश्य है, किंतु कभी उभड़ सकता है। दूसरा प्रबल शत्रु बलख़-पति है, जिसकी रण-दुर्मद यवन-सेना कभी अपने फाटक पर प्रस्तुत हो सकती है। तृतीय कठिनता यह है कि अपनी सम्राज्ञी बड़े ही श्रेष्ठ आचरण तथा उच्च विचारों की व्यक्ति हैं। यदि कहीं उनसे बिगाड़ हो गया, तो राजपद का संशयाकीर्ण हो जाना संभव है।"

सम्राट्—"आर्य! कलिंग की ओर तो मुझे संदेह होता नहीं, तथा बलख़-पति आपका श्वशुर होकर शायद शत्रुता न करे।"

पुष्यमित्र—"यवनों में राज्य-लोभ इतना विशेष होता है कि ऐसी-ऐसी

बातों पर वे समुचित ध्यान नहीं देते। मैं तो एक राजसेवक-मात्र हूँ। केवल मेरे कारण यवनेश अपना भारतीय प्रसर क्यों रोकने लगे, विशेषतया उचित अवसर पाने पर? उधर सम्राज्ञी के भावी क्रोध का भी मुझे विशेष भय है, क्योंकि जितना जिसमें सौजन्य होता है, प्रायः वैसा ही क्रोध किसी के दुर्गुणों पर उमड़ सकता है।"

सम्राट्—"अच्छा, नगर की क्या दशा है?"

पुष्यमित्र—"कुलिक आदि ने एक दिन मुझसे वार्तालाप की थी, जिन्हें मैंने समझा दिया था। पौर में उन नटों की कल्पित महत्ता के विचार विशेष घर न करें, इसलिये मैंने नट-कला दिखलाने को एक दिन सोनयश तथा गंगयश को बुलवाया। वे भी देव की आज्ञा से चैतन्य हो चुके थे, जिससे प्रसन्नता-पूर्वक काम दिखलाते रहे, वरन् विनीता के लाने को भी प्रस्तुत थे, किंतु उसे मैंने ही न बुलाया। जहाँ तक संभव हो, इस व्यवहार का बंद हो जाना भविष्य के विचार से है उचित, किंतु मैं जानता हूँ, ऐसी बातों में एकदम हटना कभी-कभी अशक्य हो जाती है। फिर भी सम्मति मेरी है छोड़ने ही की, विशेषतया सम्राज्ञी महोदया के कारण।"

सम्राट्—"मैं भी यथासाध्य इसे घटाऊँगा। आशा है, उन पर इसका भेद न खुलेगा। उनकी चित्त-वृत्ति संदेह की ओर कम झुकती है।"

अनंतर कुछ काल इसी प्रकार और बीत गया, किंतु न तो यह प्रेम-लीला स्थगित हुई, न छिप ही सकी, यहाँ तक कि इसके कथन सम्राज्ञी महोदया के कानों तक अधिकता से पहुँचने लगे। उन्होंने एक रात अपनी सखी कांचनमाला से पूछा।

सम्राज्ञी—"क्यों, कांचनमाले! क्या अब भी सम्राट् का उस नट-कन्या से व्यवहार चल रहा है?"

कांचनमाला—"देवीजी! इस विषय पर मुझसे प्रश्न योग्य नहीं। आप पदवी और स्वभाव, दोनो में वास्तव में देवी हैं। आपसे मिथ्या

कहने का मुझे साहस नहीं होता; उधर मेरे यथार्थ भाषण से आप ही को कष्ट होगा।"

सम्राज्ञी—"नहीं सखी, मैं जानना चाहती हूँ। अवश्य कहो।"

कांचनमाला—"मैं क्षमा माँगती हूँ, देवि! किसी और से पूछ लिया जाय।"

सम्राज्ञी—"नहीं, तुम्हीं बतलाओ; तुम पहले मुझे इस प्रकार कष्ट नहीं देती थीं।"

कांचनमाला—"कष्ट तो देवीजी को उभय प्रकार होना है।"

सम्राज्ञी—"तो भी कहो।"

कांचनमाला—"तो, देवीजी! वह आती कब नहीं, वरन् इस समय भी सम्राट् की शय्या पर प्रस्तुत है।"

सम्राज्ञी—"और स्वयं वह?"

कांचनमाला—"आप भी क्या प्रश्न करती हैं? वह क्या बैठे पूजन करते हैं?"

इतना सुनकर सम्राज्ञी को महाक्रोध आ गया, और पाँच सखियों को साथ लेकर वह उसी कक्ष में पहुँचीं। उन्होंने उसे पकड़वाकर तथा पूरे इक्यावन बार कशाओं द्वारा अपने ही हाथ से ताड़ित करके निकलवा दिया। सम्राट् किं-कर्तव्य-विमूढ़ होकर वहीं लेटे रहे। अनंतर दूसरे ही दिन सम्राज्ञी ने आर्य पुष्यमित्र को बुलवाकर कांचनमाला की प्रस्तुति में यों संलाप किया।

सम्राज्ञी—"आर्य! आपके सम्राट् एक नट-कन्या से संलग्न हैं, तथा मुझसे असत्य भाषण का भी पातक कर चुके हैं। अब मुझे आप क्या उपदेश देते हैं?"

पुष्यमित्र—"देवी महोदया! आप-सरीखी उच्च महिलाओं को क्षमा न छोड़नी चाहिए।"

सम्राज्ञी—"मैं उन्हें कोई दंड थोड़े ही देने जा रही हूँ, किंतु महर्षि

पतंजलि तक के उपदेश सुनकर तथा मुझसे सदाचरण का प्रण करके भी वह दुराचार में ऐसे लिप्त हैं कि प्रतिज्ञा-दौर्बल्य उनका अंग हो रहा है। वह न तो मद्य छोड़ सकते हैं न नीच-गमन। क्या आप समझते हैं, ऐसा पुरुष मेरा शरीर छूने योग्य रह गया है?"

पुष्यमित्र—"पूज्यवरे! आप यह कैसे कथन श्रीमुख से निकाल रही हैं? कहीं कोई मनुष्य सदैव के लिये पतित अथवा अस्पृश्य हो जाता है? गंगा-स्नान अथवा अन्य समुचित शुद्धि-संस्कार करने से वह पाप-मुक्त हो ही सकता है।"

सम्राज्ञी—"प्रायश्चित्तों से पाप-मुक्त वह होगा, जो आगे ऐसे कार्य न करे। जिसके वचनों का कोई प्रमाण नहीं, जिसकी प्रतिज्ञाएँ भंग होने ही को की जाती हैं, जो शुद्धि-संबंधी क्रियाएँ करता हुआ भी भविष्य में वैसे ही कर्मों का करना सोचा करता है, वह एक कुलवती महिला का पवित्र शरीर स्पर्श करने का अधिकारी नहीं। मुझे उनकी पवित्रता पर अणु-मात्र विश्वास शेष नहीं। मैं तो अब ऋषि पतंजलि के गुरुवरवाले आश्रम में जाकर योग-साधन करूँगी। मुझे साम्राज्य-भोग का न तो अधिकार रहा है, न उसकी इच्छा। यह जीवन तो बिगड़ ही चुका, आगे का जन्म क्यों बिगाड़ा जाय?"

पुष्यमित्र—"आप मेरी पुत्री के समान होकर भी पद में माता हैं। हे पुनीत माता! इस प्राचीन राजवंश का त्याग करके इसे मिट्टी में न मिलाइए। अभी आपके संसर्ग से कोई युवराज भी साम्राज्य को नहीं प्राप्त हुआ है। समझ जाइए, देश पर दया कीजिए, सतीशिरोमणि! आपके शाप से यह प्राचीन राजवंश नष्ट हो जायगा।"

सम्राज्ञी—"युवराज की प्राप्ति सम्राट् के द्वितीय विवाह से हो सकती है। मेरा अंग अब उस दुराचारी के लिये अस्पृश्य हो चुका है। मैं कोई शाप किसी को नहीं देती, किंतु यदि इस कुल का अंत भी हो जाय, तो क्या निश्चय है कि आगे आनेवाला राजकुल इससे निकृष्टतर होगा?"

पुष्यमित्र—"देवीजी ! क्षमा कीजिए । किसी प्रकार क्रोध का त्याग हो जाय ।"

सम्राज्ञी—"काकाजी ! मैं क्षमा करनेवाली कौन हूँ ? क्या ईश्वर के यहाँ से भी पापों का फल नहीं मिलता ? आप भारी विद्वान् और विप्र होकर क्या आज्ञा दे रहे हैं ?"

पुष्यमित्र—"माताजी ! मैं तो इस झँझे में पड़ना ही नहीं चाहता था, किंतु क्या करता, सम्राट्-प्रवर सोमशर्मन की आज्ञा से विवश हो गया । इस काल आप स्वामिनी हैं । इतनी कृपा मुझ पर भी हो जाय कि इस राजसेवा से त्याग-पत्र देने का अधिकार एक ब्राह्मण को दान में मिल जाय । देखिए, देवीजी ! श्रीमुख से नहीं नाहीं न निकल जाय ।"

सम्राज्ञी—"क्या कहते हैं, काकाजी ! आपने साम्राज्य-रक्षण का भार ले रक्खा है, वह किसका मुँह देखेगा ?"

पुष्यमित्र—"माता ! यदि ईश्वर न करे, कहीं आपने तपोवन पधारने का विचार न छोड़ा, तो मैं इस साम्राज्य में नटों का प्राधान्य अभी से देखता हूँ । क्या लोकतंत्र का रक्षण उन नीचों द्वारा होगा ?"

सम्राज्ञी—"महाराजा-श्रेष्ठ बृहस्पतिमित्र ने यह साम्राज्य दुर्धर्ष शत्रु खारवेल से बचा लिया था; क्या हमारा काका उसे नटों से भी न बचा सकेगा ?"

पुष्यमित्र—"उस काल एक प्रचंड, किंतु केवल बाह्य शत्रु था ; अब कुप्रबंध तथा आंतरिक शत्रु बढ़ने से दुर्मद युद्धवर्ती यवनों का सामना भी हो पड़ेगा ।"

सम्राट्—"मेरा काका इन दोनों के मद चूर्ण कर सकेगा, ऐसा मुझे निश्चय है ।"

पुष्यमित्र—"किंतु, महादेवीजी ! इस आरंभ में मुझे न-जाने क्या-क्या कर डालने की आवश्यकता दिखने लगे, जिसमें स्वामिविरोध

एवं स्वार्थांधता के भी दूषण दुष्टों द्वारा शायद उपस्थित समझे जा सकें। मान जाइए, माताजी! मेरा धर्म रख लीजिए।"

सम्राज्ञी—"हमारा काका स्वार्थी नहीं है। इस बात के शतशः प्रमाण प्राप्त हैं। आप साम्राज्य के सेवक हैं, मेरे नहीं। स्वामिविद्रोह तो आप त्याग-पत्र के विचार में कर रहे हैं; साम्राज्य-रक्षण में यह पाप नहीं होगा।"

पुष्यमित्र—"विचार कर लीजिए, मातेश्वरी! फिर संभवतः आप ही मुझसे घृणा करने लगें।"

सम्राज्ञी—"यह अबला अभी ऐसी दुर्बला नहीं, अथच योग-साधन से मानस-शक्ति ह्रास के स्थान पर उसका वर्धित होना संभव है। गिराव नहीं होने पाएगा।"

पुष्यमित्र—"अच्छा, देवीजी! शास्त्रानुसार बिना पति की आज्ञा के स्त्री गृह-त्यागिनी भी नहीं हो सकती; इसका क्या प्रतीकार है?"

साम्रा०—"आर्य-श्रेष्ठ! मैं सम्राट् से आज्ञा प्राप्त कर लूँगी।"

इस प्रकार आर्य पुष्यमित्र से आलाप करके, काली के समान कराल रूप धारण किए, यह उग्र सम्राज्ञी कांचनमाला को साथ लिए हुए सम्राट् के सम्मुख उपस्थित होकर बोली।

सम्राज्ञी—"पतिदेव! अब मेरा-आपका प्रेम असंभव है। आप अपनी समान कुलशीला नट-कन्या से प्रसन्न रहिए, और यथासाध्य उसी के द्वारा युवराज उत्पन्न कीजिए। यदि साम्राज्य ऐसे उच्च कुलस्थ पुत्र-रत्न को यौवराज्य के योग्य न माने, तो आप द्वितीय विवाह कर लीजिए। आज से मेरा-आपका पति-पत्नी-संबंध विच्छेद होता है। कृपया मुझे धर्म-साधन की आज्ञा दे दीजिए। मैं वन-गमन करूँगी।"

सम्राट्—"प्राणप्रिये! मुझसे अपराध अवश्य हुआ, जिस पर आपने उस नट-कन्या को समुचित दंड भी दे दिया। मैंने आपका हाथ तो न

पकड़ा । अब यह प्रचंड कालिका-रूप त्यागकर सौम्य भाव ग्रहण कीजिए । भविष्य में ऐसा अपराध मुझसे न होगा ।"

साम्राज्ञी—"ऐसा ही प्रण एक बार करके आप उसी समय से उसे भंग भी करते आए हैं । आपकी किसी प्रतिज्ञा पर अब मुझे विश्वास शेष नहीं । यदि किसी भी कुलीना कन्या से आप द्वितीय या तृतीय विवाह कर लेते, अथच जन्म-पर्यंत मेरा मुख न देखते, तो भी मुझे क्रोध न होता, क्योंकि आपका पवित्र वीर्य तो नष्ट न होता, तथा साम्राज्य को युवराज प्राप्त हो जाता । जब प्रतिज्ञा में विश्वास शेष है ही नहीं, तब नित्यप्रति यहाँ अपना हृदय क्यों दग्ध करूँ, अथवा चित्त में भी पूज्य पतिदेव के प्रतिकूल क्यों अनुचित भावों का समावेश करूँ ? अब धर्म-साधन के अतिरिक्त मेरा कोई भविष्य नहीं । आप एक बार मेरा हित-साधन करके इतनी आज्ञा दे ही दीजिए । ईश्वर यथासंभव आपका कल्याण करे ।"

सम्राट्—"यद्यपि मैं आपको छोड़ना नहीं चाहता, तथापि देखता हूँ कि अब आप यहाँ सुखी नहीं रह सकतीं । अतएव धर्म-साधन की आज्ञा देता हूँ । यदि संभव हो, तो तपोवन से आकर इस प्रासाद को भी सुशोभित कीजिएगा । अब मैं अपने सुधार का उद्दाम प्रयत्न करूँगा, और आशा है, तब आप मुझे क्षमा कर सकेंगी ।"

यह सुनकर, स्वस्ति-वाचन करके सम्राज्ञी महोदया तपोवन को प्रस्थित हो गईं । सखी कांचनमाला ने अनेकानेक विनतियों द्वारा साथ चलने की उनकी आज्ञा प्राप्त कर ली । दोनो पुनीत योगाश्रम में पधार, गुरु की दीक्षा लेकर धार्मिक क्रियाओं में लीन हुईं ।

चतुर्दश परिच्छेद

विदर्भ

कुमार अग्निमित्र विदिशा के सेनापति नियत होने पर वहीं पधारे। आपने साम्राज्य के स्थानीय दल का उचित प्रबंध किया, तथा वहीं के विद्यापीठ में प्रविष्ट होकर विशेष सामरिक ज्ञान-प्राप्ति का आरंभ भी उठाया। चलते समय महाराजा पुष्यमित्र ने सैनिक प्रबंध, रण-कौशल तथा इतर कर्तव्यों की योग्य शिक्षा इन्हें दे दी थी। सैनिक तथा विद्यार्थी-जीवन के कर्तव्य, इन दोनो का आपने समुचित रीति से पालन किया। स्वस्थ और सबल रहकर शरीर जितना कुछ परिश्रम कर सकता था, उसके करने में आपने अणु-मात्र त्रुटि न की। व्यायाम आदि पर पूर्ण ध्यान देते हुए तथा सैनिक योग्यता उच्च रखते हुए विद्यार्थी-जीवन में भी आपने वह प्रतिभा दिखलाई कि अध्यापकवर्ग चकित हो गया। प्रतिमास का तीन चौथाई अंश विदिशा में बिताते थे, तथा चतुर्थांश विदर्भ में। वहाँ के भी सैनिक बल की महती उन्नति देखकर महाराजा यज्ञसेन आश्चर्यान्वित हो रहे थे। महाराजा के पितृव्य के आत्मज माधवसेनजी थे, जिनके सुपुत्र वीरसेनजी भी उसी विद्यापीठ में अध्ययन करते थे, जहाँ युवराज अग्निमित्र की विद्या-प्राप्ति होती थी। दोनो के सहपाठी होने तथा वैदर्भ संबंध से इनमें स्वभावतः मित्र-भाव बढ़ गया, और कुमार जब विदर्भ में जाते थे, तब इनकी प्रार्थना पर इन्हीं के पिता के अतिथि होते थे, यद्यपि आतिथ्य का संभार महाराज्य की ओर से रहता था। दोनो मित्रों को मृगया पर विशेष रुचि थी, जिससे इनकी मित्रता दिनोंदिन और भी

वर्धमान हो रही थी। एक दिन जब आप दोनों माधवसेनजी के साथ इनके कौटुंबिक मुख्य कक्ष में विराजमान थे, तब वीरसेनजी की दशवर्षीया भगिनी मालविका भी आकर वहीं बैठ गई, तथा आलाप होने लगा।

मालविका—"काकाजी ! यह कौन हैं, जो आपके साथ विराजमान हैं?"

माधवसेन--"बेटी ! यह पूर्ण कृपा रखनेवाले हमारे अतिथि हैं।"

मालविका—"काका ! अतिथिवाली कौन-सी तिथि है ? अध्यापकजी ने तो अमा और पूर्णिमा को मिलाकर कुल सोलह तिथियों के नाम गिनाए थे। अतिथि नाम की कोई सत्रहवीं तिथि तो उन्होंने बतलाई नहीं।"

माधवसेन—(अग्निमित्र से) "कृपासिंधो ! क्षमा कीजिएगा। यह पगली अभी मूर्खा है। (मालविका से) तू जा यहाँ से, चली है पंचायत करने।"

अग्निमित्र—(मालविका से) "बहन ! तू यहीं बैठ। (माधवसेन से) इस बेचारी को खदेड़ते काहे को हैं ? प्रश्नों के उत्तर दीजिए।"

मालविका—"हाँ अतिथिजी ! आप ही उत्तर दीजिए। काकाजी तो रिसाने लगेंगे।"

अग्निमित्र—"बहन ! मैं सचमुच सत्रहवीं तिथि हूँ। तुम्हारे घर में जितने लोग हैं, वे ही १६ तिथियाँ हैं, जो यहाँ बैठ सकते हैं, तथा सत्रहवीं तिथि आकर मैं बैठ गया हूँ, किंतु मान मेरा ही सबसे अधिक हो रहा है।"

मालविका—"यह नहीं; बात का उत्तर ठीक-ठीक दीजिए।"

माधवसेन—"अच्छा सुन, मैं बतलाता हूँ।"

मालविका—"हाँ, कहिए।"

माधवसेन—"अतिथि उसे कहते हैं, जो कोई तिथि नियत किए बिना ही पधारे।"

मालविका—'यह बात तो इनकी नहीं है, क्योंकि दद्दूजी अभी परसों कहते थे कि इनकी अवाई है।"

अग्निमित्र—"अब तो काकाजी! आपकी पराजय हुई जाती है। सुन, बहना! मैं प्रायः आता बिना तिथि नियत किए हूँ। यदि एक बार नियत भी कर दी, तो अतिथि ही रहा।"

मालविका—"ऐसा कैसे मान लूँ? इस बार तो आप अतिथि हैं नहीं।"

वीरसेन—"अरी सुन, पगली! अतिथि उस माननीय पुरुष को कहते हैं, जो किसी के यहाँ बिना विशिष्ट संबंध के एकाएकी ठहर जाय। पहले इतना ही अर्थ था, किंतु पीछे से इसका प्रयोग बढ़ गया है। समझी?"

मालविका—"अच्छा, इन्होंने मुझे बहन क्यों कहा? क्या यह भी काकाजी के लड़के हैं? यह तो झूठ बोलना हुआ।"

अग्निमित्र—"देख, बहन! जब मैं तेरे दद्दूजी का मित्र हूँ, तब भाई के समान उन्हें ऐसा प्यारा हो गया हूँ, मानो भाई ही हूँ। जब इनका भाई हो चुका, तब तेरा कौन हुआ?"

मालविका—"हुए तो मेरे भी भाई, किंतु है तो झूठ।"

वीरसेन—"ऐसी बहुतेरी बातें समाज में कही जाती हैं, जो बोलने में अच्छी लगती हैं। वे झूठ नहीं समझी जातीं; सभ्यता की अंग हो गई हैं।"

मालविका—"क्या सभ्यता असत्यता सिखलाती है?"

वीरसेन—"यह बात नहीं है, किंतु मनुष्य भी वास्तव में एक जंतु होकर शेष जंतुओं से उन्नति विशेष कर गया है। यदि उन्हीं के समान आचरण करने लगे, तो उसकी उच्चता में बट्टा लग जाय। इसीलिये बहुतेरी सुभाषित बातें समाज में चलती हैं। बात झूठ वह होती है, जिससे कोई धोखा खा जाय। सभ्य बातों से कोई धोखा नहीं खाता।"

मालविका—"अच्छा, दद्दूजी! हमारे यह भाई काले क्यों हैं?"

वीरसेन—"दुर, मूर्खा कहीं की! काले कहाँ हैं? तू गोरी है या नहीं?"

मालविका—"मैं तो गोरी हूँ ही।"

वीरसेन—"कहाँ गोरी है? कोंकणवाले हमारे दो अतिथि भाई-

बहन जो थोड़े दिन हुए आए थे, उनके सम्मुख तो काली है या नहीं ?"

मालविका—"काली काहे को हूँ ? वे बहुत गोरे थे, मैं उतनी गोरी नहीं हूँ, किंतु हूँ तो भी गोरी ।"

माधवसेन—"इसी प्रकार यह भी गोरे हैं, केवल तुमसे कुछ कम गोरे हैं। काला है वह तेरा सेवक, जो भोजन बनाता है ।"

मालविका—"वह तो काला-कलूटा है । उसके सामने कोई भी मनुष्य गोरा होगा ।"

माधवसेन—"हैं यह भी गोरे. किंतु विदर्भ के लोग जल-वायु की विशेषता से पाटलिपुत्रवालों के देखते हुए कुछ अधिक गोरे होते हैं ।"

मालविका—"ऐसा क्यों है ?"

माधवसेन—"इनका देश पहाड़ के निकट स्थित है, जल-प्रधान है, तथा हमारी अपेक्षा समुद्र से भी निकट है । अनेकानेक कारण होते हैं । लोगों का रंग विविध कारणों के अनुसार चलता है ।"

मालविका—"अच्छा, सुंदरता में यह अच्छे हैं या मेरे दद्दू ?"

माधवसेन—"तू तो आज ही सारा ज्ञान पढ़ लेगी । सुन, स्त्रियों की सुंदरता का विचार कोमलता के अनुसार चलता है, तथा पुरुषों का शक्ति पर । इनमें शक्ति इतनी है कि तेरे दद्दू के-से दो मनुष्यों को साथ-ही-साथ पराजित कर दें । जैसी सच्ची सुंदरता इनमें है, वैसी हमारे विदर्भ-भर में ढूँढ़े न मिलेगी ।"

मालविका—"क्यों अतिथि ? क्या सचमुच तुमको बहुत सुंदर समझूँ ?"

अग्निमित्र—"नहीं बहन ! मैं एक साधारण व्यक्ति हूँ ।"

मालविका—"अच्छा, आप हमारे यहाँ विदर्भ में क्यों पधारे हैं ? सुना, आप भी तो राजकुमार हैं ।"

अग्निमित्र—"विदर्भराज यज्ञसेन के बुलाने से आया हूँ ।"

मालविका—"वह तो मेरे चाचा हैं न ?"

अग्निमित्र—"चाचा और विदर्भराज दोनो हैं।"

माधवसेन—"तू तो बेटी! आज बहुत बक-बक नाधे हुए है; मुझे अपने अतिथि से बात नहीं करने देती।"

अग्निमित्र—"काकाजी! आज इसी को जी-भरकर बातें कर न लेने दीजिए। कभी विशेष बात करती नहीं। आज इसका मुँह बहुत दिनों के पीछे खुला है।"

माधवसेन—"यह ऐसी बक्की है कि आपको बैठना कठिन कर देगी।"

अग्निमित्र—"तो क्या हानि है? आज मुझे आपसे कुछ विशेष कहना भी नहीं है। (मालविका से) हाँ, बहन! पूछ, तू क्या जानना चाहती है?"

मालविका—"मैं यही पूछना चाहती हूँ कि आप भी महाराज-से हैं, और चाचाजी भी; क्या काका भी महाराज हैं?"

माधवसेन—"नहीं बेटी! मैं कहाँ महाराजा हूँ।"

मालविका—"क्यों नहीं हैं? जब चाचाजी महाराजा हैं, तब आप क्यों नहीं हैं?"

माधवसेन—"तू तो पगली है; कहीं घर में सब महाराजा होते हैं?"

मालविका—"अच्छा, चाचाजी आपके कौन हैं?"

माधवसेन—"ककियावते भाई हैं। मेरे पितामह के दो बेटे थे। बड़े होने से उनके पिता ने राज्य पाया, तथा छोटे भाई होने से मेरे पिता ने न पाया। यही नियम है।"

मालविका—"बड़ा ही अंधेर है, काकाजी! जब दोनो भाई समान थे, तब मेरे पितामह ने अपना भाग क्यों न पाया? क्या वह भाई थे ही नहीं?"

माधवसेन—भाई तो सब कुछ थे, किंतु राज्य यदि बटा करे, तो दो-चार पीढ़ियों में रह ही न जाय।"

मालविका—"तो हानि क्या हो? यदि कोई फिर भी छीन ले, तो कैसे रह जाय?"

माधवसेन—"बेटी ! तू अभी ये बातें नहीं समझ सकती ।"

मालविका—"राज्य कोई पाता कैसे है ? (अग्निमित्र से) भला, आपने अपना राज्य कैसे पाया ?"

अग्निमित्र—"बहन ! उसमें से कुछ मेरे पिता ने कमाया, और कुछ पितामह ने ।"

मालविका—"तब फिर काकाजी क्यों नहीं कमाते ?"

माधवसेन—"बेटी ! सबमें राज्य कमाने की योग्यता नहीं होती ।"

मालविका—"क्यों नहीं होती ? क्या आप लड़ना नहीं जानते ?"

माधवसेन—"अच्छा, अब कमा लूँगा ।"

मालविका—"अब तक क्यों न कमाया ?"

माधवसेन—"अब तक तूने कमाने को कहा कब था ?"

मालविका—"दद्दू ने क्यों न कहा ?"

माधवसेन—"यह अपने दद्दू से पूछ । वह कहते, तो मैं कमाता ।"

वीरसेन—"बहन ! मेरा ध्यान इधर न गया ।"

मालविका—"क्या राजा बहुत बड़ा होता है ?"

माधवसेन—"अवश्य ।"

मालविका—"तब आपके अतिथि राजा होकर आपके यहाँ क्यों आते हैं ?"

माधवसेन—"मेरे ऊपर कृपा करते हैं ।"

मालविका—"क्या मेरे ऊपर भी करेंगे ?"

माधवसेन—"जब मेरे ऊपर की, तब मेरे सभी पुत्र-पुत्रियों पर कर ही चुके । क्या तुझ पर कृपा करते नहीं ?"

मालविका—"करते अवश्य हैं । अभी उसी दिन मेरे लिये मिठाई और पाटांबर लाए थे । अच्छा, क्या यह सचमुच सुंदर हैं ? मुझे तो दद्दू अच्छे समझ पड़ते हैं ।"

अग्निमित्र—"भला, मैं तेरे दद्दू के समान सुंदर कैसे हो सकता हूँ ?"

मालविका—"क्यों ?"

अग्निमित्र—"यदि मैं भी तेरा दद्दू होता, तो सुंदर होता।"

मालविका—"मुझसे बड़े तो आप हैं ही, तथा अभी मुझे बहन कहते थे। फिर दद्दू हो ही चुके।"

माधवसेन—"तू तो है पगली ; तेरे दद्दू से यह दसगुना अधिक सुंदर हैं। परखने की बुद्धि हो, तब न तू समझे।"

मालविका—"जब यह भी सुंदर हैं, तब मैं आज इन्हीं के साथ बैठकर एक थाली में भोजन करूँगी।"

माधवसेन—"दुर मूर्खा कहीं की। यह ब्राह्मण हैं, कहीं हम क्षत्रियों के साथ एक थाली में खा सकते हैं ?"

वीरसेन—"आप मौर्य हैं, न ? उधर यह भी कहते थे कि इनके पिता के नाना भी मौर्य-क्षत्रिय थे।"

माधवसेन—"कुल माता से न चलकर पिता से चलता है। इनके पितामह ब्राह्मण थे, और मौर्य माता के होते हुए भी पिता ब्राह्मण रहे। इनके नाना भी ब्राह्मण थे। क्या तुम इतना भी नहीं जानते ?"

मालविका—"सुना, इनकी माता तो यवनी हैं।"

वीरसेन—"इनकी सगी माता ब्राह्मणी हैं, और सौतेली यवनी। जब उन्होंने इनके पिता से विवाह कर लिया, तो वह भी यवनी न रहकर ब्राह्मणी हो गई।"

मालविका—"यदि मेरा विवाह इनसे हो जाय, तो क्या मैं भी ब्राह्मणी हो जाऊँ ?"

माधवसेन—"हो क्यों न जाय ?"

मालविका—"जब मैं ब्राह्मणी हो सकती हूँ, तब मेरे साथ खाने में इन्हें क्या दोष है ?"

वीरसेन—"अभी तू क्षत्रिया है, न-जाने तेरा विवाह किसके साथ हो ? तब अभी से ब्राह्मणी कैसे मानी जा सकती है ?"

मालविका—"क्या ब्राह्मण क्षत्रियों से ऊँचे होते हैं ?"

माधवसेन—"साधारण क्षत्रियों की क्या चलाई, वे तो राजपुत्रों से भी ऊँचे हैं।"

मालविका—"क्यों ? इसका क्या कारण है ?"

माधवसेन—"जितनी कुछ आर्य-संस्कृति है, वह बहुत करके ब्राह्मणों के ही प्रयत्नों पर स्थापित एवं उन्नत हुई है। वेद, उपनिषत, षड्-दर्शनादि सब बहुत करके ब्राह्मणों के ही प्रयत्नों के फल हैं।"

मालविका—"ये कब की बातें हैं ?"

माधवसेन—"हैं तो बहुत पुरानी, किंतु आजकल भी सहस्रों विद्वान् ब्राह्मण हैं।"

वीरसेन—"जो विद्वान् थे, और हैं, वे पूज्य हैं, किंतु बहुतेरे ब्राह्मण तो वही कार्य करते हैं, जो हम लोग कर रहे हैं। फिर वे बड़े क्यों माने जाते हैं ?"

माधवसेन—"यह तो अवांतर से हमारे पूज्य अतिथि का अपमान है।"

अग्निमित्र—"अपमान क्या ? यह तो सीधा-सादा प्रश्न है। जब हारने लगे, तब अपमान की आड़ ले रहे हैं।"

वीरसेन—"अपमान की आड़ कौन लेता है ?"

मालविका—(हँसकर) "अब तो, दद्दूजी ! आप मुझसे हार गए। स्वयं अतिथिजी कहते हैं।"

वीरसेन—"हार क्यों गया ? अच्छा सुन, जब ब्राह्मण-जाति ने आर्य-संस्कृति को उन्नत किया, तब प्रत्येक ब्राह्मण का उसमें हाथ माना जा सकता है।"

मालविका—"बात कुछ समझ में नहीं आ रही है; जब दस लोग

सेवा करेंगे, तब क्या वेतन बारह को मिलेगा? गुरुजी तो कहते थे कि अपने-अपने गुण प्रधान होते हैं।"

माधवसेन—"होते तो हैं, किंतु जाति के रूप में समूह का भी विचार रहता है। अभी तू इतना समझ नहीं सकती।"

मालविका—"अच्छा, एक थाली में न खाकर उसी चौके में खाऊँ, तब तो यह अप्रसन्न न होंगे।"

माधवसेन—"इसमें क्या दोष है?"

मालविका—"तब यही सही। अच्छा, अतिथि! आप मुझे तलवार चलाना सिखा देंगे?"

अग्निमित्र—"अभी तुमसे खड्ग उठेगा ही नहीं, सीखेगी क्या?"

मालविका—"और कटार?"

अग्निमित्र—"वह सीख सकती है।"

वीरसेन—"पहले साधारण गुरुओं से सीख; जब विशेष योग्यता हो जाय, तब इनसे भी सीखना।"

मालविका—"यह उनसे अच्छा सिखला देंगे।"

माधवसेन—"किंतु इनके पास इतना समय तो नहीं है।"

मालविका—"क्या दिन में एक घड़ी भी समय नहीं निकाल सकते?"

माधवसेन—"क्या यहाँ तेरी सेवा करने आए हैं?"

मालविका—"तो राजसेवा क्यों करते हैं? उनकी सेना को क्यों सिखलाते हैं? क्या उनसे कुछ पाते हैं?"

माधवसेन—"पावेंगे क्या? इन्हीं के पास क्या कमी है?"

मालविका—"तब पराया काम क्यों करते हैं?"

माधवसेन—"इसी से तो कहता था कि पूज्य हैं। यह हमारे विदर्भ-देश की उन्नति के अर्थ इतना काम निष्कारण करते हैं। स्वयं इनका कोई लाभ नहीं। सारे देश की मंगल-कामना करते हैं।"

मालविका—"सारे देश की करते हैं, तब मेरी क्यों न करेंगे ?"

माधवसेन—"सारे देश में करोड़ों लोग हैं ; यदि एक-एक को सिखलाने लगें, तो दस को भी न उन्नत कर सकें । सेना के शिक्षण से सबका कल्याण है । समझी न ?"

मालविका—"हाँ, समझी; अब मैं जाती हूँ, कल फिर पूछूँगी ।"

अग्निमित्र—"अवश्य पूछना, बहन !" (जाती है)

माधवसेन—"युवराज महोदय ! आज मालविका की बातों में इतना समय लग गया कि हम लोगों के अन्य विचार टल ही से गए ।"

अग्निमित्र—"अभी तो बहुत समय है, काकाजी ! जो जानने की इच्छा हो, सो कहिए न ।"

माधवसेन—"आप मेरे वीरसेन के प्रायः समवयस्क हैं । जैसे आप सेना तथा विद्यापीठ, दोनों में काम करते हैं, वैसे ही क्या यह भी कर सकता है ?"

अग्निमित्र—"ऐसा होने से तो युद्ध-शिक्षा में वास्तविक अनुभव की वृद्धि से ज्ञानोपार्जन कुछ शीघ्र भी हो जाता है । कोई हानि तो दिखती नहीं; क्यों मित्रवर ! परिश्रम कुछ विशेष पड़ेगा ही; क्या करोगे ?"

वीरसेन—"जैसा आप उचित समझें । मैं आपके ऊपर कोई दबाव नहीं डालना चाहता; मित्रता का शुद्ध समुज्ज्वल रूप स्वार्थ-सिद्धि के प्रयत्नों में कुछ मलिन पड़ सकता है ।"

अग्निमित्र—"यह भली कही । अपने प्रिय, विश्वास-पात्र महापुरुषों क नियुक्ति से देश पर स्वयं अपना भी प्रभाव बढ़ता है । यदि इसमें स्वार्थ है, तो दोनो ओर से । इस भ्रम को त्यागकर कथन कीजिए । मुख्य प्रश्न विशेष परिश्रम की इच्छा पर निर्भर है । संकोच त्यागकर कहिए ।"

वीरसेन—"यदि अभी से परिश्रम से भागूँगा, तो भविष्य में क्या करूँगा ? मैं श्रम से नहीं दबता ।"

अग्निमित्र—"तब दूसरा प्रश्न यह उठता है कि विदर्भ में कहीं नियुक्त हों या विदिशा में ?"

माधवसेन—"विदर्भ में अभी मैं ऐसा नहीं चाहता। भाई यज्ञसेन की मैं निंदा नहीं करता, न मेरी उनसे कुछ मनमैली है, किंतु राजाओं का मन अपने भ्रातृवर्ग से स्वभावतः कुछ संदिग्ध रहता है। फिर पाटलिपुत्र का एक साम्राज्य है, और हम लोगों का उससे कोई कथन-योग्य संबंध भी नहीं ! वहाँ के मन्त्रिमंडल या किसी मंत्री की आज्ञा मानने में मुझे कोई संकोच नहीं, किंतु यहाँ के अमात्यवर्ग का आज्ञाकारी होना अपने कुटुंब के लिये मुझे कुछ विशेष रुचता नहीं।"

अग्निमित्र—"कथन आपका है योग्य। अच्छा, यदि इन्हें विदिशा से मिले हुए अंतपाल-संबंधी दुर्ग का अध्यक्ष करा दूँ, तो क्या आप ठीक समझेंगे ?"

माधवसेन—"क्यों बेटे ! तेरा क्याविचार है ?"

वीरसेन—"उस दुर्ग में अध्यक्ष होकर तो मैं विद्यापीठ के अध्ययन से भी वंचित न हूँगा। है तो अच्छी बात।"

अग्निमित्र—"तब फिर पिताजी को लिखकर इसका प्रबंध करा दूँगा। आजकल वह पद रिक्त भी है।"

वीरसेन—"बड़ी कृपा हुई, भाईजी ! अच्छा, मैं पूछता हूँ, विदर्भ की शक्ति को आप कैसा समझते हैं ?"

अग्निमित्र—"अभी तो कुछ है नहीं, किंतु दो-चार वर्षों के प्रयास से यहाँ भी एक उत्कृष्ट सेना प्रस्तुत हो सकती है। सबसे बड़ा दोष यह है कि यह महाराज्य प्रायः विजयी कभी नहीं हुआ, जिससे एतद्देशीय सेना में आत्मविश्वास की कुछ ऊनता है। जब समर-शास्त्र का कौशल प्राप्त करके वह युद्धों में दो-चार बार प्रबल पड़ेगी, तब आत्मोत्कर्ष का भाव जाग्रत् होकर वृद्धिंगत होगा, जिससे राज्यकीय सीमाओं में भी प्रसर की संभावना हो जायगी।"

माधवसेन—"तब फिर वीरसेन के निमित्त आप क्या ठीक समझते हैं ? इसे वैदर्भ दल में ही रहकर उसकी उन्नति में दत्तचित्त होना योग्य है, अथवा विदिशा में सेवा प्राप्त करनी ?"

अग्निमित्र—"काकाजी ! अभी मैं अपना वैदर्भ संबंध दृढ़ नहीं समझता। देखिए, पाटलिपुत्र में ही उथल-पुथल मची हुई है। स्वयं सम्राज्ञी तपोवन पधार गईं, और जिस नट-कन्या के कारण उन्होंने ऐसा किया, उससे संबंध-विच्छेद तो दूर रहा, अब वह राजप्रासाद ही में रहने लगी है, तथा उसके दोनो भ्राता यद्यपि कोई राजकाज नहीं करते, तथापि सम्राट् के विश्वासपात्र मित्र-से हो रहे हैं। ऐसी दशा चिरस्थायिनी नहीं रह सकती। अभी पाँच-छ वर्ष मुझे इसी ओर विद्या-प्राप्ति तथा विदर्भोन्नति में बिताने हैं। ईश्वर जाने, इतने दीर्घ काल में उधर क्या-क्या घटनाएँ संगठित न हो जायँ।"

माधवसेन—"इस विषय में तो बहुत कुछ प्रचंड परिवर्तन संभव हैं। कौन कह सकता है कि आपका संबंध निकट भविष्य में विदर्भ-पति से कैसा रहेगा ?"

वीरसेन—"इसी कारण से तो मैं अपना विदिशा में ही नियुक्त होना योग्य समझता हूँ। यदि विदर्भ-पति से आपका भाव बदला, तो हमारे-उनके संबंध में भी संदेह उपस्थित हो सकता है।"

अग्निमित्र—"क्या आप यहाँ तक समझते हैं ?"

माधवसेन—"इसमें क्या संदेह है ? हमारा-आपका प्रेम शुद्ध, निष्कपट मैत्री पर आधारित हो चुका है, जो प्रत्येक दशा में दृढ़ रहेगी। उधर उनका मामला कौटुंबिक संदेहों तथा राजनीतिक कुटिलताओं पर चल रहा है, जो किसी भी संदिग्ध स्थिति से न-जाने कहाँ से कहाँ पहुँच सकता है ?"

पंचदश परिच्छेद

अपालोडोटस

शाम तथा बल्ख के नरेशों में तो न्यूनाधिक विग्रह कुछ काल बना रहा, किंतु युवराज्ञी हेलेन के उच्च आदर्शों के कारण यूक्रेटिडस के सुपुत्र अपालोडोटस का संबंध भारतीय स्थिति से यहाँ तक बढ़ा कि समय पर वह स्वयं तक्षशिला में समर-विद्या सीखने तथा शस्त्रास्त्र-प्रहार का उच्च ज्ञान उपार्जित करने को पधारे। यहाँ के परिषत् में इन बातों की उच्चातिउच्च शिक्षा प्राप्त थी। युवराज अपालोडोटस विद्या-प्राप्ति में पूर्णतया दत्तचित्त रहते थे, तथा इनका आचरण अत्यंत श्रेष्ठ था। इन कारणों से अध्यापकवर्ग का इन पर प्रगाढ़ स्नेह रहता था। उधर युवराज्ञी हेलेन की अभिभावकता में महाराजा पुष्यमित्र की कन्या पुष्पमंजरी भी सोलहवें वर्ष में पदार्पण करके तक्षशिला के परिषत् में उच्च शिक्षा-प्राप्ति के लिये प्रविष्ट हो चुकी थी। इसका सौंदर्य अत्यंत मनोहर था, तथा आचरण भी परमोच्च। कुछ काल में इन दोनो का परिचय परिषत् में ही हो गया, और दोनो की आचरण-संबंधी उच्चता तथा उत्कृष्ट विद्या-प्रेम के कारण वे एक दूसरे की ओर परम संयत रूप से आकृष्ट हुए। समय पर अपालोडोटस का नियम-सा हो गया कि जब यह राजकन्या अपनी सखियों के साथ परिषत् से विश्राम-स्थल को जाती थी, तब यह उसे वहाँ तक भेज आते थे। मार्ग में विद्या एवं इतर विषयों पर वार्तालाप भी हुआ करता था। एक दिन राजकन्या अपनी अंतरंगा सखी के साथ परिषत् के उपवन में भ्रमण करती थी। उसी समय दैव-गति से युवराज अपालोडोटस भी वहीं आ गए, तथा दोनो में वार्तालाप होने लगा।

अपालोडोटस—"शहज़ादी साहबा! आपने हिंदुस्तानी सूबेजात में नज़ारों के देखने को सैर तो की होगी।"

पुष्पमंजरी—"अवश्य। ऐसा प्रायः हुआ है। हमारी अम्माजी भी देशाटन किया करती हैं।"

अपालोडोटस—"कौन अम्माजी? क्या हेलेनदेवी से आपका मतलब है?"

पुष्पमंजरी—"जी हाँ, युवराज!"

अपालोडोटस—"भला, कैसे नज़ारे आपको पसंद आते हैं?"

पुष्पमंजरी—"उपवन, प्राकृतिक शोभा, पर्वतीय दृश्य, वन-भ्रमण, समुद्र-तट, जल-प्रपात, समुद्र-यात्रा, पाषाण-कारीगरी आदि।"

अपालोडोटस—"कौन-से पहाड़ी नज़ारे मुलाहिज़े में आए हैं?"

पुष्पमंजरी—"विंध्याचल, हिमालय आदि के।"

अपालोडोटस—"क्या सफ़ेद कोह, गांधार वग़ैरह भी देखे हैं?"

पुष्पमंजरी—"उधर जाने का सौभाग्य नहीं हुआ।"

अपालोडोटस—"कभी ठंडे मुक़ामात में साल-दो साल रहने के मौक़े क्या मिले हैं?"

पुष्पमंजरी—"गंधमादन आदि में एकाध वर्ष बिताए हैं।"

अपालोडोटस—"वहाँ आपकी सेहत कैसी रही थी?"

पुष्पमंजरी—"बहुत अच्छी। अभी अवस्था ही क्या है, जो इस प्रकार के प्रश्न उठें? मैं तो समझती हूँ, मुझमें ऐसी शक्ति है कि किसी भी प्रकार के जल-वायु में सुख-पूर्वक रह सकती हूँ।"

अपालोडोटस—"यह सुनकर मुझे अज़हद ख़ुशी हुई। भला, एक बात और भी पूछ सकता हूँ क्या?"

पुष्पमंजरी—"हमारा-आपका साथ तो कई मास से चल रहा है। क्या अब भी किसी प्रकार के प्रश्न करने में संकोच शेष है?"

अपालोडोटस—"बड़ी मेहरबानी। अच्छा, पूछता हूँ कि क्या आप कभी हमारे शाम मुल्क में सैर करना पसंद फ़र्मावेंगी ?"

पुष्पमंजरी—"परिभ्रमण तो मुझे अच्छा ही लगता है, किंतु यवन-देशों को यातायात यहाँ से कम होता है। स्वयं अम्माजी भी बल्ख़ से आगे प्रायः नहीं जातीं। वहाँ तक उनके साथ हो ही आई हूँ, वरन् नानाजी के दरबार में भी बहुत समय बीता है।"

अपालोडोटस—"तब शाम जाने में ही क्या हिचक है ? शायद आपको मालूम हो कि वही मेरा मुल्क है।"

पुष्पमंजरी—"यह तो जानती हूँ, किंतु निष्कारण एक दूरस्थ यवन-देश में जाना कुछ अनोखा-सा होगा, विशेषतया इस कारण से कि नानाजी का राजनीतिक संबंध भी उससे बहुत घनिष्ठ नहीं है।"

अपालोडोटस—"यह पुरानी बात है। अब तो कई साल से कोई अनमैत्री नहीं है। ख़ास करके जब से आपकी नानी साहबा रहलत फ़र्मा गई हैं, तब से झगड़े की कोई जड़ भी बाक़ी नहीं है।"

पुष्पमंजरी—"है तो ऐसा ही, कृपया खुलकर आज्ञा कीजिए कि आप चाहते क्या हैं ?"

अपालोडोटस—"मेरा मतलब यह जानने का है कि अभी तक शायद आपने शादी के बाबत किसी से गुफ़्तगू नहीं की है।"

पुष्पमंजरी—"नहीं। एक यह भी बात है कि मैं किसी से ऐसी वार्ता करती ही क्यों ? यह प्रश्न तो माता-पिता के अधीन है।"

अपालोडोटस—"बड़े ही तअज्जुब का मुक़ाम है। क्या आप इस मामले में कुछ कहेंगी ही नहीं ?"

पुष्पमंजरी—"मैं क्या कह सकती हूँ ? उत्तरदायित्व ही उनका है, मेरा नहीं।"

अपालोडोटस—"यदि वे मेरे साथ विवाह करना मान लें, तो आपको इनकार हो या नहीं ?"

पुष्पमंजरी—"मैं हाँ या नहीं करनेवाली कौन हूँ ?"

अपालोडोटस—"अच्छा, मान लिया कि वे मेरी बात मानते हैं।"

पुष्पमंजरी—"तो बहुत अच्छी बात है। वे सब ऊँच-नीच विचार करके ही निर्णय करेंगे न ? फिर मुझे क्या कहना होगा ?"

अपालोडोटस—"अगर वे किसी ऐसे को पसंद करें, जो आपको नापसंद हो, तब ?"

पुष्पमंजरी—"ऐसे वे कौन गए-बीते हैं, जो अनुचित वर चुनें ?"

अपालोडोटस—"बहरहाल आपको इनकार तो न होगा ?"

पुष्पमंजरी—"मैं ऐसी कौन लज्जा-हीना हूँ, जो उनके निर्णय में दंश दूँ ?"

अपालोडोटस—"तो क्या आप मुझे हेलेनदेवी से ही बात करने की इजाज़त देती हैं ?"

पुष्पमंजरी—"मैं आज्ञा देनेवाली कौन हूँ ? आपको किसी से कुछ भी कहने-सुनने का अधिकार है।"

अपालोडोटस—"मैं साफ़ पूछता हूँ कि आप मुझे नापसंद तो नहीं करतीं ?"

पुष्पमंजरी—"यह प्रश्न जब उन्हीं के विचाराधीन है, तब मैं इसका उत्तर क्या दूँ ?"

अपालोडोटस—"आप भी एक मुअम्मा हैं। ख़ैर, मैं उनसे बात करूँगा। इतनी ही ख़ुशी है कि आप इनकार नहीं करतीं।"

पुष्पमंजरी—"जब प्रश्न ही मेरे विचाराधीन नहीं, तब मैं नाहीं या हाँ कैसे करूँ ?"

अपालोडोटस—"क्या हिंदुस्तानी सभी लड़कियों का यही तरीक़ा है ?"

पुपष्मंजरी—"ऐसा तो हुई है।"

इस प्रकार पुष्पमंजरी से आलाप करके युवराज महोदय एक दिन हेलेनदेवी के प्रासाद में उपस्थित हुए, और यों बात होने लगी।

हेलेन—"वलीअहेद साहब ! आपने बड़ी ही मेहरबानी फ़र्माई, जो मुझे इस तर्ज़ से सर्फ़राज़ी बख़्शी । कहिए, क्या हुक्म है ?"

अपालोडोटस—"देवीजी ! मुझे आपकी बेटी पुष्पमंजरी से गुफ़्तगू करने का मौक़ा आया, तो बड़ा ही तअज्जुब हुआ । मैंने एक तरीक़े से उनसे अपनी शादी का ज़िक्र छेड़ा, तो उन्होंने न तो एक़बाल किया न इनकार । बोलीं, यह मामला मेरे वाल्दैन के अख़्तियार पसंदीदगी में है, न कि मेरे । क्या यह महज़ टालबाज़ी थी, या असली गुफ़्तगू ?"

हेलेन—"वलीअहेद साहब ! हिंदुस्तान का तरीक़ा ही ऐसा है कि लड़कियाँ यहाँ इस मामले पर गुफ़्तगू करना अपने लिये निहायत नाज़ेबा समझती हैं ।"

अपालोडोटस—"तब फिर इस सवाल का ज़िक्र क्या मैं आपसे छेड़ूँ ?"

हेलेन—"यही तो यहाँ का तरीक़े-अमल है ।"

अपालोडोटस—"मैं आपको यक़ीन दिलाता हूँ कि मैं उन्हें जान से ज़ायद अज़ीज़ रखता हूँ, और अगर आप मेरी इल्तिजा क़ुबूल फ़र्मावें, तो मैं ग़ायत दर्जा मम्नून व मश्कूर हूँगा ।"

हेलेन—"मुझे उम्मीद है कि वह राजकुमारी भी आपको चाहती ज़रूर होगी । जब दो-चार बार ख़ारिजन उसने मुझसे आपका ज़िक्र किया, तब निहायत उम्दगी के साथ । कभी मुहब्बत का इज़हार तो यहाँ की लड़कियाँ किसी होनेवाले शौहर के सिलसिले में करती नहीं हैं, मगर जो ज़िक्र हुए, उनसे दिली ख़ुश्नूदी की झलक मिलती थी ।"

अपालोडोटस—"मैं आपके मुँह से ऐसा बयान सुनकर ग़ायत दर्जा महज़ूज़ हो रहा हूँ । उनसे बातचीत में तो सिवा मामूली ख़ुशी मिज़ाज के मुझे कभी इतना भी न समझ पड़ा, जितना आपने फ़र्माया ।

हेलेन—"इस मुल्क में ऐसे मामलात में दिली ख़यालात पोशीदा

रखना लड़कियों की नेकचलनी का सुबूत माना जाता है, बल्कि इसके ज़रा भी ख़िलाफ़ जानेवाली लड़कियाँ यहाँ बदवज़ा समझी जाती हैं।"

अपालोडोटस—"अच्छा, फिर मेरे सवाल का आप क्या फ़ैसला फ़र्माती हैं? समझ लीजिए कि मेरे लिये यह जीने-मरने का सवाल है।"

हेलेन—"वलीअहेद साहब! मैं तो बज़ाते ख़ुद आपके हस्ब दिलख़्वाह जवाब देना चाहती हूँ, मगर इस मामले में उसकी मा और वालिद की भी राय लिए बग़ैर कोई फ़ैसला ज़ाहिर नहीं कर सकती। मुझे अच्छी तरह मालूम है कि आपने मेरे ही ख़यालात पर यक़ीन करके इस मुल्क में हुसूले-इल्म के लिये आना पसंद फ़र्माया है।"

अपालोडोटस—"मैं इस इनायत के लिये बहुत ही मम्नून व मश्कूर हूँ, मगर इतना और जानना चाहूँगा कि सवाल का जवाब मुस्तेहकम तरीक़े से कब तक मिल सकेगा?"

हेलेन—"मेरी जीजी और महाराजा साहब दस-पंद्रह दिनों में ही इधर तशरीफ़ फ़र्मा होनेवाले हैं। उसी वक़्त मैं उनसे ज़िक्र करके मामला तय कर दूँगी। इस सिलसिले में एक बात और ज़रूरी है कि आप हुज़ूर शहंशाह साहब से भी इजाज़त हासिल फ़र्मा लीजिए, क्योंकि बग़ैर ऐसा हुए, महाराजा साहब भी क़तई मंज़ूरी न देंगे।"

अपालोडोटस—"ऐसा तो मैं भी समझता हूँ, क्योंकि मेरे वलीअहेद होने की वजह से वालिद माजिद की भी मंज़ूरी एक लाज़िमी अम्र है। मैं उनकी मंज़ूरी जल्द हासिल कर लेने की उम्मीद करता हूँ, और इस हालत में आपको मुत्तला भी कर दूँगा।"

हेलेन—"मुत्तला तो मेहरबानी करके हर हालत में कर दीजिएगा।"

अपालोडोटस—"जैसी मर्ज़ी। अब मैं रुख़्सत माँगता हूँ। आपकी मेहरबानियों से निहायत मम्नून व मश्कूर हूँ। दमिश्क़ से मंज़ूरी आई हुई समझिएगा।"

हेलेन—"बहुत अच्छी बात है। इधर से भी मुझे इस्ब दिलख़्वाह उम्मीद है।"

अपालोडोटस—"आमीं।"

इस प्रकार बात करके तथा हाथ मिलाकर युवराज अपालोडोटस प्रसन्नता-पूर्वक प्रस्थित हुए, और एक परम विश्वासी तथा चतुर मित्र को प्रार्थना-पत्र के साथ इन्होंने पितृसेवा में भेज दिया, जहाँ से उचित समय पर स्वीकृति-सूचक उत्तर आ गया। इसकी सुखद सूचना युवराज द्वारा हेलेमदेवी की सेवा में भेज दी गई। इन्होंने स्वीकृत लानेवाले अपने मित्र की भूरि-भूरि प्रशंसा की, तथा उसे भली भाँति पुरस्कृत भी किया। एक बार फिर जाकर हेलेमदेवी के दर्शन भी कर आए, तथा पुष्पमंजरी को भी यह सारी व्याख्या विश्वस्त प्रकारेण गुप्त भाव से सुना दी, किंतु उस कन्या ने अपना आंतरिक विचार शब्दों द्वारा प्रकट न किया, यद्यपि आकृति से वह बहुत प्रसन्न समझ पड़ी। दो-चार दिनों में वैजयंतीदेवी, धनभूति तथा श्रीमती इथ्यूज़ा के साथ महाराजा पुष्यमित्र मथुरा पधारे, और हेलेनदेवी से मिलकर ये सब अत्यंत प्रसन्न हुए। साधारण आलाप के पीछे इन्होंने राजकुमारी के विवाह का विषय छेड़ा।

धनभूति—"है तो विचार अच्छा, क्योंकि बेटी बड़ी सम्राज्ञी होगी, तथा युवराज भी गुणों, विद्या, योग्यता, आचरण आदि में एक ही है; फिर भी विलोम विवाह का प्रश्न है।"

हेलेन—"वह बेटी को चाहता भी बहुत है। कहता था, उसके लिये यह मौत वा ज़िंदगी का सवाल है। लड़की ने मुँह से तो कभी कुछ कहा नहीं, लेकिन तर्ज़-अमल से उसे चाहती हुई ज़ाहिर होती है।"

वैजयंती—"तब तो फिर कर ही लिया जाय। प्राचीन समय में सम्राट् ययाति का विवाह शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी से हुआ था, महाराजा अणूह का महर्षि शुकदेव की पुत्री से, तथा महाराजा उदयन का

मागंधी से। ये सब ब्राह्मण-कन्याएँ थीं, जिनके क्षत्रियों से विवाह हुए। यदि कामोद्वेग-वश विवाह हो, जैसा कि अंग-राज्य में हुआ था, तो संतान तक सूतज कहलाए, किंतु यदि बालिका कुछ कहती ही न हो, जैसी कि यहाँ दशा है, तथा विवाह माता-पिता की आज्ञा से हो, तब कोई दोष नहीं लगता। प्रश्न केवल इतना है कि यवनों की गणना क्षत्रियों में है कि नहीं?"

धनभूति—"है अवश्य। बहुतेरे यवन-नरेश भागवत कहलाते तथा यज्ञादि करते हैं। कई बौद्ध भी थे। स्वयं सम्राट् प्रियदर्शी ने धर्मरक्षित यवन को अपरांत (कोंकण-प्रांत) में धर्म-प्रचारार्थ भेजा था। यवन धर्मदेव के पुत्र का नाम इंद्राग्निदत्त था। न-जाने कितने यवन तथा यवनियों के विवाह अपने सनातनधर्मियों में हो चुके हैं।"

इथ्यूज़ा—"मैं भी समझती हूँ कि यह शादी मानने के क़ाबिल है।"

पुष्यमित्र—(पुष्पमंजरी को पास बुलाकर) "क्यों बेटी! तू क्या दमिश्क़ जाना चाहती है या नहीं?"

पुष्पमंजरी—"कहीं विवा माता-पिता पुत्रियों से पूछ-पूछकर करते हैं? क्या मेरी बुद्धि औरों से बढ़कर है, जो सम्मति माँगी जाती है?"

पुष्यमित्र—"बात तो उसने ठीक ही कही। जब सभी की सम्मति है और मेरा भी विचार ऐसा ही है, तथा हेलेनदेवी एक प्रकार से स्वीकृति दे ही चुकी हैं, तब सबकी ओर से यही उत्तर भेज दिया जाय।"

हेलेन—"शुक्रिया, हज़ार शुक्रिया। (पुष्पमंजरी से) बेटी! अब तू मलिका हो रही है।"

अनंतर युवराज अपालोडोटस एवं सम्राट् यूक्रेटिडस के पास विवाह का प्रस्ताव नियमानुसार भेज दिया गया, तथा स्वयं पुष्यमित्र अथच महारानी वैजयंती तथा हेलेन ने युवराज अपालोडोटस को बुलवाकर उन्हें उचित प्रकार से भेंटें दीं। यथासमय मथुरा में विवाह-कार्य का समारंभ हुआ। महाराजा डिमिट्रियस कन्या-पक्ष की ओर से निमंत्रण में आए, तथा सम्राट् यूक्रेटिडस दस सहस्र सेना के साथ बारात लाए। उचित रीतियों

के साथ कन्यादान दिया गया। धन, गज, वाजि, रथ, मणि, मुक्तादि के अतिरिक्त महाराज पुष्यमित्र ने महारानी हेलेन के कहने से श्रीवर को साकल नगर तथा प्रांत भी दायज में दिया। हेलेनदेवी के पाँच सहस्र विनीत यवन योद्धा भी स्वयं युवराज तथा युवराज्ञी की आज्ञा में रहने को दायज में दिए गए। युवराज स्त्री-रत्न को लेकर सकुटुंब दमिश्क को प्रस्थित हो गए। उन्होंने मन-ही-मन अपने भाग्य को बहुत सराहा, तथा मार्ग में पत्नी से इस प्रकार बात भी की।

अपालोडोटस—"क्यों जानेमन्! आजकल सोहाग रात के पीछे पाँच-छ दिनों तक तुम मुझसे बात करने तक से क्यों हिचकती रहीं? अब जाकर कल से फिर खुलकर बोलने लगी हो। उधर अपनी सखियों से भी मुँह छिपाए रहीं? क्या मामला है?"

पुष्पमंजरी—"क्या बतलाऊँ? अनावश्यक लज्जा न-जाने क्यों घेर रक्खा था? किसी के सम्मुख मुँह करने तक को जी ही न चाहता था। न-जाने कहाँ की पिचक सवार हो गई थी।"

अपालोडोटस—"तुम्हारी सखियाँ तो मुझसे कई बार तअज्जुब के साथ इस अम्र पर गुफ्तगू करती रहीं। ललिता और माधवी दोनो परेशान थीं। एक बार बोलीं—'क्या आपने कुछ कह तो नहीं दिया कि बेचारी लड़की दो-तीन दिनों से मुँह छिपाए पड़ी रहती है, यहाँ तक कि हम दोनो से भी नहीं बोलती, हालाँकि हमेशा बड़ी ही ललक से मिलती थी।' मैंने कहा—'भला, मैं क्या कह देता? अभी अपने महलों तक नहीं पहुँची हैं, और बीच ही में कुछ कहने भी लगता? क्या ऐसा गया-बीता हूँ? फिर कहने की कोई बात भी हो।"'

पुष्पमंजरी—"तब उन्होंने क्या कहा?"

अपालोडोटस—"इस पर ललिताजी कहने लगीं कि हमारी बबुई कभी कोई बेजा बात ख़्वाब में भी नहीं करती, ताहम अगर कोई निहायत अज़ीज़ शख़्स कुछ कह दे, तो विकल भी बहुत हो जाती है।"

पुष्पमंजरी—"यह कोई बात नहीं। माता-पिता ने मुझे आपको सौंप दिया है; उनके पूरे अधिकार आपको प्राप्त हो चुके हैं; जो चाहिए, बराबर कहिए। आपकी भी न सहूँगी, तो सहूँगी किसकी ?"

अपालोडोटस—"क्यों किसी की सहो ? आपको तो मा-बाप ने मुझे सौंपा है; उनका भी हुक्म मानो या न मानो, मगर मैं ख़ुद अपने को इन क़दमों को सौंपता हूँ। जो हुक्म दोगी, हमेशा बजाऊँगा।"

पुष्पमंजरी—"धन्य स्वामी ! धन्य ! प्रीति इसी का नाम है। हमारे यहाँ इसीलिये विवाह के समय नव-दंपति को वशिष्ठ तथा अरुंधती नक्षत्र दिखलाए जाते हैं, अर्थात् पति सदैव स्त्री के वश में रहे, तथा स्त्री उसकी इच्छा न रोकनेवाली हो।"

अपालोडोटस—"क्या ही बढ़िया ख़याल है। वाह ! अगर ज़नो शू में भी मुहब्बत न होगी, तो होगी किसमें ?"

पुष्पमंजरी—"यही तो बात है; तब मेरी सखियाँ क्या बोलीं ?"

अपालोडोटस—"वे बोलीं, तब शायद सोहाग-रात की शरम हो। शरमाती बहुतेरी लजीली लड़कियाँ हैं, लेकिन ऐसा नहीं कि दो-दो, चार-चार दिन बात ही न करें। हमारे यहाँ यूनान में भी कुछ लड़कियाँ कमोबेश शरमा जाती हैं, मगर इस क़दर नहीं कि किसी से बोलें ही नहीं। तुम्हें क्या हो गया था ?"

पुष्पमंजरी—"हो क्या गया था, एक मूर्खता थी। न-जानें क्यों, किसी के सम्मुख आँख ही न होती थी।"

अपालोडोटस—"यह भी आला ख़ानदान व नेकचलनी की एक सिफ़त है। कोई अहमक़ी नहीं है। घबराने या पछताने की कोई बात नहीं, मगर अब तो ठीक हो न ?"

पुष्पमंजरी—"अब कोई बात नहीं। आज से उन लोगों से भी खुलकर बात होने लगी है। अब इसकी चर्चा न चलाइएगा; मुझे लज्जा लगेगी।"

अपालोडोटस—"क्यों ज़िक्र छेड़ूँगा ? जो कुछ किया, अच्छा ही किया। ऊँचे ख़ानदान व पूरी नेकचलनी के सुबूत हो गए। अब दीगर बातों पर अच्छी तरह ख़ंदाँ पेशानी से बात कर सकोगी न ?"

पुष्पमंजरी—"हाँ, अब कोई घबराहट शेष नहीं। जो पूछना हो, बराबर पूछिए।"

अपालोडोटस—"अच्छा, जानेमन् ! तुम्हें अपनी तबीयत पर कितना क़ाबू है कि शादी के क़ब्ल किसी तरह अपना इंदिया ज़ाहिर ही न किया। अब जी खोलकर बतलाओ कि तुम्हारे ख़यालात मेरे बाबत किस तरह वक़्त के साथ बदलते रहे ?"

पुष्पमंजरी—"अब जी की बात कहने में कौन-सी रोक है ? 'कहा लाज भरतार सों, जिन देखी सब देह।' सुनिए। पहले मैंने आपका रूप बहुत ही श्रेष्ठ माना, किंतु कोई विशेष ध्यान न दिया, क्योंकि जेठों ने समझा रक्खा था कि गुरुतर प्रश्नों के विषय बिना समुचित विचार किए तथा पूर्ण विवरण जाने सहसा कोई मानसिक निर्णय भी न करना चाहिए। जब आपके परमोच्च आचरणों का पूर्ण अनुभव हुआ, तथा रुचि भी अपनी ओर देखी, तब मेरा भी चित्त इन चरणों में लग गया, किंतु ऐसा भाव प्रकट न होने दिया, क्योंकि अपने यहाँ की संस्कृति यही है कि कन्याएँ विवाह का प्रश्न माता-पिता की अनुभवी सम्मति पर छोड़े रहें।"

अपालोडोटस—"बात तो बहुत दुरुस्त है, मगर इस क़दर तबीयत का रोकना कारे दारद।"

पुष्पमंजरी—"हमारे यहाँ ऐसी चाल सदा से चली आती है, कोई नवीन बात नहीं है।"

अपालोडोटस—"आफ़रीं है आपकी मज़बूती मिज़ाज को। अच्छा, अब यवन-देश की कुछ चाल-ढालों को बतलाए देता हूँ, जिसमें अपने भारतीय ढंगों से फ़र्क़ पड़ने पर तुम्हें बेजाइयत का ख़याल न हो।"

पुष्पमंजरी—"हाँ, यह अवश्य बतला दो, जिसमें मेरी कोई मूर्खता समाज में प्रकट न हो।"

अपालोडोटस—"अच्छा, एक तो बात यह है कि हमारे यहाँ औरतों से भी पराए लोग हाथ मिलाया करते हैं। इसमें मुताजिब न होना। यह एक बहुत मामूली तहज़ीब है।"

पुष्पमंजरी—"मैं तो ऐसा करना चाहती नहीं, किंतु जब बात परम साधारणी है, तब करनी ही पड़ेगी। अच्छा, अब और बतलाइए।"

अपालोडोटस—"हमारी तहज़ीब में बाप, ख़ुसुर, चचा, फूफा, मामूँ वग़ैरह और उनके दोस्त भी अपने से छोटी औरतों का मुहब्बत से बोसा ले लेते हैं। इसमें कोई बेजाइयत न समझनी चाहिए।"

पुष्पमंजरी—"यह तो मुझसे न होगा। बालवय में चुंबन एक साधारणी घटना है, किंतु युवा तरुणियों का चुंबन पिता, पितृव्य आदि भी नहीं कर सकते, इतरों की तो बात ही क्या? युवा रमणियों के लिये चुंबन एक कामोद्दीपक कार्य है, जिसका अधिकार केवल पति को है, इतरों को नहीं। मैं इसे सह्य नहीं मान सकूँगी।"

अपालोडोटस—"इतना अख्तियार तो न आपको है, न मुझे कि अवाम में मानी हुई चालों के बजाय अपने नए क़ायदे जारी करें।"

पुष्पमंजरी—"अच्छा, आपके यहाँ ऐसे हैं कौन-कौन संबंधी, जो इस प्रकार का धृष्ट व्यवहार कर सकें?"

अपालोडोटस—"बदज़ुबानी इसमें कुछ नहीं है, मगर तुम्हारी ख़ुशक़िस्मती से अब्बाजान के अलावा ऐसा कोई नज़दीकी रिश्तेदार नहीं है, जिसके लिये ऐसा बर्ताव लाबुदी हो। औरों से आप तरकीब से बच सकती हैं।"

पुष्पमंजरी—"तब देखा जायगा; यथासंभव उनसे भी दूर रहा करूँगी।"

अपालोडोटस—"ख़ुदा के लिये ऐसी बेवक़ूफ़ी मत करना।"

पुष्पमंजरी—"तुम लोग मर्द हो, ये बातें क्या जानो। मैं विना मूर्खता प्रकट किए सैकड़ों प्रकार से बच सकूँगी। अच्छा, अब आप आगे चलिए।"

अपालोडोटस—"तीसरी बात नाच है। वह भी ज़रूरी समझा जाता है।"

पुष्पमंजरी—"मैंने कुछ यवनों को स्त्रियों की छाती से छाती मिलाकर नाचते हुए देखा है। क्या वह भी आवश्यक है? मैं तो किसी दशा में ऐसा न करूँगी। इतना अधिकार केवल प्राणपति को है; कोई दूसरा चाहे पिता या भ्राता भी हो, ऐसा नहीं कर सकता।"

अपालोडोटस—"तो बचोगी कैसे? बेवक़ूफ़ी न साबित होगी?"

पुष्पमंजरी—"मुझे सौ बार मूर्ख बनना स्वीकार है, किंतु किसी के साथ नाचूँगी कभी नहीं। बचने की युक्ति तो बहुत ही सुगम है। कह दूँगी कि मुझे नाचना आता ही नहीं, न किसी से सीखना अभीष्ट है।"

अपालोडोटस—"क्यों?"

पुष्पमंजरी—"ज्यों-का-त्यों। क्या किसी की नौकरी लिखाई है, जो उत्तर देती फिरूँ?"

अपालोडोटस—"क्या सचमुच नाचना जानतीं नहीं?"

पुष्पमंजरी—"जानने में क्या कठिनता है? नाचने में प्रायः स्त्रियाँ बहुत साधारण ज्ञान रखती हैं। नृत्य-कला के निगूढ़ रहस्यों को न तो बहुतेरी स्त्रियाँ जानती हैं, न उनका अभ्यास रखती हैं।"

अपालोडोटस—"और तुम?"

पुष्पमंजरी—"मैंने इनका ज्ञान तथा अभ्यास, यदि अहंकार न समझा जाय, तो कुछ समुचित मात्रा में प्राप्त किया है।"

अपालोडोटस—"क्या अकेले नाचती हो या किसी के साथ भी?"

पुष्पमंजरी—"दोनों प्रकार से।"

अपालोडोटस—"क्या मेरे साथ नाचोगी?"

पुष्पमंजरी—"यह देव-रूप नृत्य के लिये मिले कहाँ ?"

अपालोडोटस—(हँसकर) "और लोग क्या दानव हैं ?"

पुष्पमंजरी—"और लोग मेरे लिये पुरुष ही नहीं हैं।"

अपालोडोटस—"क्या सब हिजड़े हैं ?"

पुष्पमंजरी—"मुझे यही समझना चाहिए।"

अपालोडोटस—"है तो यही बात। अच्छा, मेहरबानी करके पहले अकेले का नाच दिखलाओ। देखूँ तो सही, कैसा नाचती हो ?"

यह सुनकर पुष्पमंजरी नाच के वस्त्राभूषण धारण करके केवल पखावज के सहारे बहुत ही बढ़िया नृत्य अपने प्राणपति को एक घड़ी-पर्यंत नाचकर दिखलाती है। अपालोडोटस दौड़कर उसे हृदय से चिपटा लेता और परम प्रसन्न होता है। अनंतर उसके इच्छानुसार पुष्पमंजरी उसके साथ भी नाचकर उसे पूर्णतया मुग्ध करती है।

अपालोडोटस—"तुम तो, जानेमन ! इतना बढ़िया नाचती हो कि अगर इसका रोज़गार करने लगो, तो भी हज़ारों, लाखों पैदा करो।"

पुष्पमंजरी—"गुण-ग्राहकता इसी का नाम है; प्रियवर ! व्यापार भी अच्छा बतलाया गया।"

अपालोडोटस—"इतना अच्छा नाचना जानकर भी तुम इस फ़न में बेवकूफ़ कही जाना भी पसंद करती हो; यह बड़े ही तअज्जुब की बात है।"

पुष्पमंजरी—"मैं किसी सुए के साथ थोड़े ही नाचने को बैठी हूँ। इस हृदय का स्पर्श प्राण रहते हुए एक ही व्यक्ति कर सकता है।"

अपालोडोटस—"और अकेले नाचने में क्या ऐब है ?"

पुष्पमंजरी—"क्या सामान्या हूँ, जो किसी को नाच दिखलाने बैठूँ। यहाँ मेरा नाच पुरुषों में या तो प्राणपति देख सकते हैं, या श्रीठाकुरजी। और किसी पुरुष की क्या मजाल है कि इन घुँघुरुओं का श्रवण-सुखद रव सुने, अथवा इन चरणों की नृत्य में गति देखे। परिचित स्त्री-समाज में कोई बात नहीं है।"

अपालोडोटस—"आफ़रीं है आपकी पाकदामनी को, जानेमन् ! जो चाहना, करना। यह ग़ुलाम हमेशा इन क़दमों का ख़ादिम बना रहेगा।"

पुष्पमंजरी—"यह क्या आज्ञा होती है ? मैं स्वयं इन चरणों की सेविका होने का गर्व करूँगी, और करती हूँ। बात ऐसी है कि यदि लोगों के सम्मुख एकाकी नृत्य भी दिखलाऊँ, तो किसी के साथ भी नाचने का हठ होने लगना संभव है। इसी से अनभिज्ञ बनी रहने में कोई कठिनता नहीं होगी।"

अपालोडोटस—"इतना नफ़ीस इल्म रखकर भी बेवक़ूफ़ बनने का ढकोसला तुम हमेशा दिखला कैसे सकोगी ? बड़ा दुश्वार काम है।"

पुष्पमंजरी—"भाव-गोपन की क्षमता हम भारतीयों में बहुत रहती है।"

अपालोडोटस—"अच्छा, यह तो बतलाओ कि किन्हीं बाजे बजाने में भी लियाक़त हासिल की है क्या ?"

पुष्पमंजरी—"योग्यता तो बात ही और है, किंतु हमारे यहाँ मृदंग और वीणा बजाने का चलन है, जो न्यूनाधिक मैं भी जानती हूँ।"

अपालोडोटस—"इस समय बजा सकोगी ? थक तो नहीं गई हो ?"

पुष्पमंजरी—"ऐसी कौन बूढ़ी हूँ, जो इतने ही परिश्रम से थक जाऊँ ? अभी बजाती हूँ।"

ऐसा कहकर इन्होंने मृदंग और फिर वीणा भी बजाकर दिखलाया।

अपालोडोटस—"तुम तो सभी फ़नों में उस्ताद हो। मुझे अब तक क्यों न बतलाया ?"

पुष्पमंजरी—"अब तक आप थे कौन, जो बतलाती ? केवल परिचित थे; क्या ऐसों को गुण-प्रदर्शन से मोहित करना अभीष्ट था ?"

अपालोडोटस—"क्या वायोलिन बजाना नहीं जानतीं ?"

पुष्पमंजरी—"नहीं, किंतु कई यवनों को बजाते हुए देखा है; दस दिनों में सीख लूँगी। सारंगी जानती ही हूँ।"

अपालोडोटस—"अच्छा, एक बात पूछूँ, नाराज़ तो न होगी ?"

पुष्पमंजरी—"क्या अब भी वह समय शेष है, जब हम दोनो के मध्य में कोई अंतर हो ?"

अपालोडोटस—"तो बतलाओ, काम-शास्त्र भी सीखा है या नहीं ?"

पुष्पमंजरी—"अम्माजी ने बड़ी अम्मा के मायकेवाली उन्हीं की एक प्रवीणा शिक्षिका द्वारा वात्स्यायन के काम-सूत्रों को मुझे पढ़वाया था।"

अपालोडोटस—"और कलाओं को ?"

पुष्पमंजरी—"यह शिक्षण हमारे यहाँ सभ्य समाज में नहीं होता, वरन् सामान्याओं की कला समझी जाती है।"

अपालोडोटस—"बतलाने पर तो कुछ लियाक़त ज़ाहिर की थी।"

पुष्पमंजरी—"केवल तुम्हारे प्रसन्नतार्थ। आप तो भारत में उच्च आचरण की बहुत डींग मारते थे, फिर कोक-कलाएँ कहाँ से सीखीं ?"

अपालोडोटस—"मैंने डींग की कब ली ?"

पुष्पमंजरी—"जब-जब अपने देशियों के उच्चाचरणों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे, तब-तब क्या उन कथनों से आत्मगौरव नहीं व्यंजित होता था ?"

अपालोडोटस—"होता ज़रूर था; लेकिन मेरा चाल-चलन भी हमेशा औवल दर्जे का रहा है। ये मामूली बातें तो तसवीरों से मालूम हुई थीं।"

पुष्पमंजरी—"धन्यवाद !"

अपालोडोटस—"सुनता हूँ, अब्बाजान की लियाक़त इस फ़न में बढ़ी-चढ़ी है।"

पुष्पमंजरी—"यही आप लोगों की सभ्यता है कि पिता के भी ऐसे गुणों का बखान करते हो। कुछ लज्जा भी तो लगनी चाहिए !"

अपालोडोटस—"तो मैंने कहा ही क्या, जो इतनी डाँट पड़ने लगी ?"

पुष्पमंजरी—"डाँट की कौन-सी बात है। मैंने तो एक बात कही।"

अपालोडोटस—"हिंदुस्तानी इल्म की तो तुम्हें काफ़ी लियाक़त है, मगर हमारे यूनानी उलूम के निस्बत क्या राय है ?"

पुष्पमंजरी—"दो-तीन श्रेष्ठ अध्यापिकाएँ नियत कर दीजिएगा, जिनसे साल-दो-साल में भाषा तथा इतर ज्ञातव्य बातें जान लूँगी।"

अपालोडोटस—"बहुत ठीक है। इधर मैं तो तक्षशिला ही में थोड़ा-बहुत हिंदुस्तानी ज़बान और उलूम सीख चुका हूँ। और भी सीख लूँगा।"

पुष्पमंजरी—"बड़ी ही कृपा होगी।"

अनंतर यह बरात यथासमय दमिश्क़ पहुँची, और पूर्ण प्रसन्नता के साथ उचित नियम-पालन द्वारा राजकुमारी का गृह-प्रवेशोत्सव युवराज के प्रासाद में हुआ। प्रायः एक मास पीछे इन दोनों में निम्नानुसार बातें हुईं:—

अपालोडोटस—"कहिए, जानेमन् ! अपनी दारुस्सल्तनत में तबीयत तो ख़ुश रहती है ?"

पुष्पमंजरी—"इसमें क्या संदेह है ? मेरे दुर्भाग्य से आपकी माता अब नहीं हैं, जिस कमी से मुझे सिखलानेवाली कोई राजमहिला प्रस्तुत नहीं, इतनी ही न्यूनता यहाँ देख पड़ती है।"

अपालोडोटस—"शहंशाही कैसी लगती है ?"

पुष्पमंजरी—"मुझे तो ऐसे उच्च जीवन का कभी अभ्यास नहीं रहा। आपका साम्राज्य तो पाटलिपुत्र से भी बड़ा है। सम्राज्ञी के अभाव में तथा किसी उच्च राजमहिला के भी न होने से मेरा ही पद सम्राज्ञीवाले का प्रतिबिंब-सा दिखता है। सेवक-सेविकाएँ समुचित मात्रा से भी बहुत अधिक हैं। सब ओर से पूर्ण मान होता है। आठ बार

नो त्योहार की बात है । अब्बाजान भी बड़ी कृपा करते हैं । हर प्रकार से प्रसन्न हूँ । आपके दर्शनों का सौभाग्य सबसे ऊँचा है, जो बराबर प्राप्त रहता है ।"

अपालोडोटस—"मैं बहुत ही महज़ूज़ हुआ कि आप यहाँ खुश-खुर्रम हैं । भला, जो कपड़े, ज़ेवर, सामान वग़ैरह आपके लिये महल में मुहैया हुए हैं, उनमें से कोई पसंद आए या नहीं ?"

पुष्पमंजरी—"वे वस्तुएँ एक-से-एक बढ़िया हैं, पसंद क्यों न आतीं ? फिर इतनी अधिक संख्या में हैं कि उन सबका ध्यान-पूर्वक देखना ही एक बड़ा काम हो गया । मैं कहती हूँ इतनी सामग्री होगी क्या ? मथुरा से ही बहुतेरी आई थी, तथा उससे भी दूनी-तिगुनी यहाँ रक्खी हुई है । अब्बाजान जब-जब पधारते हैं, तब-तब कोई-न-कोई बहुमूल्य वस्तु भेंट अवश्य करते हैं ।"

आपालोडोटस—"जानेमन् ! जो कुछ ज़्यादा पसंद हो, उसे खुद इस्तेमाल करना, बाक़ी रिश्तेदारों, सखियों, नौकरानियों वग़ैरह में से जिस-जिससे खुश होना, उसे-उसे बख़्शती रहना । ये ही तरीक़े हैं । कुछ नौकर मथुरा से आए हैं, और बहुतेरे यहीं के हैं । सबको एकसाँ समझना । ऐसा ही तुम कर भी रही हो । तुम्हें बतलाना ही क्या है ?"

पुष्पमंजरी—"पदवी के एकाएकी इतना बढ़ जाने से एक भय भी उपस्थित है कि कहीं मैं आपे को भूलकर गर्व न करने लगूँ । यहाँ कोई अभिभावक तो है नहीं, और अभी मेरी अवस्था कम है । प्रार्थना यही करूँगी कि स्वयं आप अभिभावक का भी रूप ग्रहण करके जब कभी कोई मूर्खता देखें, तब निःसंकोच भाव से मुझे सचेत कर दें, जिसमें शील न बिगड़ने पाए ।"

अपालोडोटस—"जानेमन् ! तुम्हारी भलमंसी ऐसी बढ़ी-चढ़ी है कि चेती की ज़रूरत ही नहीं । सारा दमिश्क़ एक ज़बान से तुम्हारे

तरीक़ों की तारीफ़ करता है। कभी किसी को शिम्मा-भर भी शिकायत का मौक़ा नहीं आता। सारा-का-सारा शहर मेरी ख़ुशक़िस्मती की तारीफ़ करता है। आप बिलकुल बेफ़िक्र रहें। कौन लौंडिया है, जो अपनी हैसियत भूल जाने का ख़ौफ़ खाती हैं। एक तरीक़े से आप ही की मा की सल्तनत तो हम लोग भोग रहे हैं। आपकी तशरीफ़ आवरी से एक तरह से हक़ बहक़दार रसीद का मामला है। मैं तो तुम्हें पाकर अज़हद महज़ूज़ हो रहा हूँ।"

पुष्पमंजरी—"बड़ी ही कृपा हुई, देवता! हाँ, एक बात अवश्य ध्यान में आती है।"

अपालोडोटस—"कहो, वह क्या है?"

पुष्पमंजरी—अब्बाजान की कृपा तो बहुत बड़ी हुई है, किंतु मुझे एक बड़ा संकोच यह पड़ता है कि वह मेरे प्रासाद में प्रायः नित्य घड़ी-आध घड़ी के लिये पधारते अवश्य हैं। इसकी क्या युक्ति हो?"

अपालोडोटस—"तरकीब की क्या ज़रूरत है? इससे तुम्हारा नुक़सान ही क्या है? बात सिर्फ़ मुहब्बते पिदरी व मेहरबानी की है।"

पुष्पमंजरी—"है तो यही बात, किंतु मुझे संकोच सीमा से अधिक हो जाता है। यदि क्षमा प्रदान हो, तो वास्तविक बिनती करूँ।"

अपालोडोटस—"क्या बात करती हो? मुझसे असली हाल न कहोगी, तो क्या राहगीरों से कहोगी? मुआफ़ी की क्या बात है? जो ख़याल में आए, बराबर कहो।"

पुष्पमंजरी—"बड़ी कृपा। अच्छा, सुनिए। मुझको अब्बाजान की आँखें देखकर कुछ डर लगता है। हर समय मेरे मुँह पर गड़ी रहती हैं। उनमें प्रबल लालसा तथा कामोद्वेग देख पड़ता है। संभव है, मेरा भ्रम ही हो। फिर भी निष्कारण नित्यप्रति आने का कष्ट उठाने से क्या प्रयोजन?"

अपालोडोटस—"है कुछ ग़ैरमामूली बात ज़रूर, मगर एक ज़माने से

शाही हरम में कोई मलिका वग़ैरह हैं नहीं, जिससे महज़ मुहब्बताना आना मुश्किल है। कुछ तो शुबहा मुझे भी होता है, मगर क्या शाम-भर में कोई ख़ूबसूरत नाज़नीन है ही नहीं, जो घर ही में निगाह बद डालेंगे ?"

पुष्पमंजरी—"दूसरी बात संदेह-जनक यह है कि एक दिन मुझसे आज्ञा करते थे कि मेरी दोनो सखियाँ ललिता और माधवी क्यों सदा मेरे साथ बैठी रहती हैं ? बोले, यदि कोई सलाह की बात कहनी हो, तो कैसे कही जाय ?"

अपालोडोटस—"तुमने क्या जवाब दिया ?"

पुष्पमंजरी—"मैंने कहा, वे दोनो मेरी अभिभाविका-सी हैं तथा अंतरंगा सखी। मेरी माता के मायके की हैं, और उन्हीं की इच्छा से मेरे साथ नियोजित हैं। मैं भी उन्हें बहुत चाहती हूँ। उन्हीं के बुद्धि सिखलाने से अब्बाजान तक से उचित वार्तालाप कर सकती हूँ, नहीं तो घबराकर कुछ कह-सुन न सकूँ। अब्बा के-से प्रवीण व्यक्ति से मंत्र करने की मुझमें क्या योग्यता है ? यदि कुछ कहना हो, तो अपालो से आज्ञा हो जाय, वह मुझसे कह देंगे।"

अपालोडोटस—"जवाब तो तुमने अच्छा दिया। तब वह क्या बोले ?"

पुष्पमंजरी—"उनकी आज्ञा हुई कि ऐसे ऊँचे कुटुंब में विवाहित होकर ऐसी निबुद्धिता मुझे छोड़नी होगी। बोले, क्या मैं जूजू थोड़े ही हूँ, जो मुझे देखकर कोई घबरा जाय !"

अपालोडोटस—"बात उनकी भी एक तरी से ठीकक़े थी।"

पुष्पमंजरी—"अनंतर आज्ञा हुई कि क्या मैं उनके साथ मृगया में जाना पसंद करूँगी ? मैंने कहा, अपालो के भी साथ होने से मुझे साहस रहेगा, नहीं तो हाथ हिल जाने से निशाना चूक जाऊँगी।"

अपालोडोटस—"सब बातों को सुनकर मुझे समझ पड़ता है कि

तुम नाहक़ शक करती हो। चाल-चलन उनका औरतों के मामलों में बहुत ऊँचा नहीं है। मेरी वाल्दा माजिदा से उनसे कभी न बनी। फिर भी सोचता हूँ कि अपनी ही बेटी पर निगाह बद क्या डालेंगे ?"

पुष्पमंजरी—"अभी उनकी अवस्था तो आपके कथनानुसार केवल ४८ वर्ष की है। कुछ बृद्ध तो हैं नहीं। बहू और बेटी में अंतर भी बहुत होता है। मेरा बेटीपन तो कहने-भर का है। मैं निश्चय-पूर्वक कुछ कहती नहीं, किंतु संदेह अवश्य है।"

अपालोडोटस—"मेरे ख़याल में ऐसा नहीं आता।"

पुष्पमंजरी—"ऐसी बातों में मर्द तो होते हैं प्राय: मूर्ख। क्षमा कीजिएगा, मैं संशय-हीना नहीं हूँ।"

अपालोडोटस—"पहले तो वली का दर्जा ख़ाली था, जो अता फ़र्माया गया, बादहू बेवक़ूफ़ का ख़ाली हुआ, तो उस पर भी तक़र्रुरी हो गई। ऐसी इनायतों के लिये ऐन शुक्रिया है।"

पुष्पमंजरी—"क्षमा कीजिएगा, मैं निश्चय-पूर्वक तो कुछ कहती नहीं, किंतु प्रार्थना करती हूँ कि उनके पधारने के समय आप भी मेरे प्रासाद में विराजे रहा कीजिए, जिसमें मुझे भय न रहे।"

अपालोडोटस—"ख़ौफ़ किस बात का है ? क्या खा लेंगे ?"

पुष्पमंजरी—"भय जो है, वह आप जान चुके हैं; कोई किसी को खा लेता है क्या ? धर्म का प्रश्न है, सो मैं दूँगी नहीं। यदि कभी अपने प्रासाद में बुलवाया, तो जाऊँगी नहीं, और एकाकी उनसे संभाषण भी न करूँगी। बड़े मर्द बनकर चले हो। स्त्री की रक्षा नहीं करते।"

अपालोडोटस—"अच्छा जानेमन् ! बिगड़ती क्यों हो ? अकेली न जाना, और मैं उस वक़्त आपकी ख़िदमत में मौजूद रहा करूँगा।"

पुष्पमंजरी—"क्षमा करते रहना, प्राणनाथ ! मैं घबरा भी जाती हूँ।"

अपालोडोटस—"मुआफ़ी की कौन बात है ? कोई भी बाअस्मत बानू

ऐसा ही सोचेगी, जैसा तुम कह रही हो। फिर भी इतना और समझाना मेरा फ़र्ज़ है कि हिंदुस्तान ज़रा गर्म मुल्क है, जहाँ थोड़े ही से वजूहात से शकूक के ख़यालात उठ पड़ते हैं, मगर हमारा मुल्क ठंडा होने से उसी क़दर काम यहाँ मामूली समझे जाते हैं, और सिर्फ़ मुहब्बताना रहते हैं, न कि बेजाइयत के। तुमको नाचना निहायत नाज़ेबा समझ पड़ता है, मगर यहाँ वह मज़ी का एक मामूली तरीक़ा है।"

पुष्पमंजरी—"है आपके कथन में भी बहुत कुछ सार। अच्छा, देखूँगी, भविष्य कैसा निपटता है ?"

अनंतर दस-बारह दिनों में एक दिन पुष्पमंजरी ने इस विषय पर फिर बात चलाई।

पुष्पमंजरी—"प्राणनाथ ! अब तो मैं अब्बा से अपना धर्म बचाना कठिन देख रही हूँ। अब तक दो-चार वार जब-जब उन्होंने प्रेम-चुंबन लिया, तब-तब साधारण रीति से, किंतु आज परम प्राबल्य से ले लिया। अब मुझे संदेह शेष नहीं है।"

अपालोडोटस—"ज़रा मेरे होठों पर वैसा ही बोसा लेकर बतलाओ कि कितने ज़ोर से लिया ?"

पुष्पमंजरी—"मैं ऐसा नहीं कर सकती; आपके चोट लग जायगी।"

अपालोडोटस—(कुछ प्रबल चुंबन लेकर) "क्या इतने ज़ोर से लिया था ?"

पुष्पमंजरी—"इससे भी अधिक। देखो, मेरा अधर खंडित हो गया है।"

अपालोडोटस—"मुम्किन है, किसी और ख़याल में हों, और जल्दी में ले गए हों। बात ग़ैरमुम्किन नहीं है।"

पुष्पमंजरी—"संभव हो या असंभव, अब मैं उनके सम्मुख जाऊँगी नहीं।"

अपालोडोटस—"बचोगी कैसे ?"

पुष्पमंजरी—"या तो प्रबंध के ब्याज से कहीं दमिश्क़ से बाहर रहने लगिए, अथवा मुझे मथुरा भेज दीजिए। मैं यहाँ धर्म बेचने थोड़े ही आई हूँ। इससे तो मेरे लिये तपस्या अच्छी।"

अपालोडोटस—"तुमने शादी किससे की थी, वलीअहेद से या मुझ से ?"

पुष्पमंजरी—"मैं युवराज को क्या जानूँ ? मैंने तो अपने प्यारे अपालो से विवाह किया है।"

अपालोडोटस—"तब फिर उसी प्यारे अपालो को छोड़ क्यों रही हो ? चाहे सल्तनत जाय, मगर पुष्पा न छूटेगी।"

पुष्पमंजरी—"मैं कब छोड़ती हूँ ? एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। अब मुझे कोई संदेह शेष नहीं है, वरन् पूर्ण निश्चय है। उनका आचरण आदि से वात्सल्य-गर्भित न होकर काम-वासना-युक्त रहा है। मेरी रक्षा अब यहाँ साधारणतया नहीं हो सकती। मैं आपका राज्य भी नहीं छुड़ाना चाहती, चाहे मैं वनवास करूँ।"

अपालोडोटस—"क्या अपालोडोटस अपनी बीवी की हिफ़ाज़त करने से मजबूर है ? मैं प्यारी पुष्पा पर हमला करनेवाले का सर काट कर फेंक दूँगा।"

पुष्पमंजरी—"हाय ! मैं अपने प्यारे अपालो को पितृघाती कैसे होने दूँ ? यह तो मैं तीन काल में नहीं सह सकती।"

अपालोडोटस—"मैं भी अपनी प्यारी पुष्पा को किसी की निगाहे बद का शिकार न होने दूँगा, चाहे कुछ भी हो जाय।"

पुष्पमंजरी—"आप ऐसा पाप न सोचिए, देखिए—

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः;
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्तेऽ सर्वदेवताः।"

अपालोडोटस—"इसका क्या मतलब है, जानेमन् !"

पुष्पमंजरी—"पिता धर्म है, पिता स्वर्ग है, और पिता ही सबसे

बड़ी तपस्या है, तथा पिता के प्रीति-युक्त होने से सारे देवता प्रेम-पूर्ण होते हैं।"

अपालोडोटस—"यह तो सच है, मगर मैं न तो अपनी प्यारी मनकूहा ज़ौजा को छोड़ सकता हूँ, न उसकी हिफ़ाज़तवाले अपने फ़र्ज़ से दस्तकश हूँगा।"

पुष्पमंजरी—"पितृद्रोह भी नहीं किया जा सकता। जान लो प्यारे! (कटार दिखलाकर) यह कटार मेरे पास सदैव रहती है। मुझे कोई बल से स्ववश नहीं कर सकता। या तो वही मरेगा या मैं। धर्म मेरा हर दशा में अटल रहेगा। मेरा विचार है कि अब किसी ब्याज से कहीं खिसक चलो।"

अपालोडोटस—"यही ठीक है। मैं उनसे बात भी करूँगा। एक बात कहे देता हूँ कि कटार के सहारे कभी अपने ऊपर जोखिम न लाना।"

अनंतर युवराज उसी दिन समय ताड़कर सम्राट् की सेवा में उपस्थित होकर बोले—

अपालोडोटस—"अब्बाजान! आज मुझे हुज़ूर की ख़िदमत में कुछ ज़रूरी मामलात की अर्ज़ मारूज़ तनहाई में करनी है।"

इतना सुनना था कि सम्राट् का चेहरा पीला पड़ गया तथा शरीर भिझक गया। बड़ी उद्विग्नता की दशा में लड़खड़ाती हुई वाणी से बोले—

सम्राट्—"बेटा! इस वक़्त मुझे फ़ुर्सत बिलकुल नहीं है, कल सुबह बात कर सकूँगा। उम्मीद है, आपको दिक़्क़त न होगी।"

अपालोडोटस—"जैसी मर्ज़ी।"

इस प्रकार समय पाकर युवराज वहाँ से तो प्रस्थित हो गए, किंतु पिता की ऐसी घबराहट से उन्हें निश्चय हो गया कि मामला सत्य है। अनंतर दूसरे दिन इन्होंने उनको फिर से घेरा, और टालने की युक्ति न देखकर उन्होंने वार्तालाप आरंभ किया—

सम्राट्—"हाँ, बेटा! अब कहो, क्या कहना चाहते हो?"

अपालोडोटस—"हुज़ूरे अक़्दस पर अच्छी तरह से रोशन है कि हिंदुस्तान में ऊँचे तब्क़े के लोग ज़्यादातर सच्ची मुहब्बत निभानेवाले होते हैं। ख़ुद शहंशाह सैंड्रोकोटस (चंद्रगुप्त) को देख लीजिए कि ज्यों ही उनकी मलिका, जो शहंशाह सल्यूकस की शहज़ादी थीं, रहलत फ़र्मा गईं, त्यों ही उन्होंने सारी अज़ीमुश्शान सल्तनत छोड़कर फ़क़ीरी अख़्तियार कर ली।"

सम्राट्—"यह मामला मुझे अच्छी तरह मालूम है।"

अपालोडोटस—"वही हालत मेरी बीवी की है। अब वह यहाँ एक लमहे के लिये रहना नहीं चाहतीं, बल्कि मुझसे इस इजाज़त की ख़्वास्तगार हैं कि सल्तनत के हक़ूक़ व नीज़ शादी की ज़िम्मेदारियाँ छोड़कर वह फ़क़ीरी करें। हुज़ूर को मालूम ही होगा कि इसी तरह पाटलिपुत्र की मलिका ने ज़रा-सी नाराज़ी से शाही छोड़कर फ़क़ीरी अख़्तियार कर ही ली, जिस हालत में वह अब तक मौजूद हैं।"

सम्राट्—"मैं जानता हूँ, तुम्हारी भी बीवी बड़ी नेकबख़्त है, मगर उनकी नाराज़गी का क्या बायस है? तुमने उन्हें किसी तरह नाशाद तो नहीं किया?"

अपालोडोटस—"मैं ऐसा क्यों करता, मगर हुज़ूर के तरीक़ों से वह दो-डेढ़ महीनों से सख़्त मुतवहिहश हैं। उनके महल में हुज़ूर का रोज़ाना तशरीफ़ ले जाना उन्हें शफ़क़ते-पिदरी से बहुत ज़ायद समझ पड़ता रहा, और मुझसे रोज़ाना इल्तिजा करती रहीं कि किसी तरह से यह बात रुके। नाचना, गाना, बजाना, सब दर्जे औवल का जानती हैं, मगर क्या मजाल कि किसी के सामने इस लियाक़त का इज़हार हो जाय। जान-बूझकर बेवक़ूफ़ बनी रहती हैं, यहाँ तक कि किसी के बुरा नाचने वग़ैरह से कोई ऐसी बात भी नहीं कहतीं, जिससे उस फ़न में उनकी ज़रा भी लियाक़त साबित हो। मुझे अपने सारे फ़न अच्छे-से-अच्छे दिखलाया करती हैं, मगर दीगर अशख़ास के सामने गोया कुछ जानती ही नहीं।"

सम्राट्—"बड़े ग़ज़ब का क़ाबू दिल पर रखती हैं।"

अपालोडोटस—"उन्होंने सिवा हुज़ूर के किसी को मामूली बोसा भी लेने का मौक़ा न दिया। सिर्फ़ हुज़ूर के निस्बत मेरे बहुत कुछ कहने-सुनने से इस बात में इनकार न किया, हालाँकि अंदर-ही-अंदर इससे बहुत परेशान होती थीं, बल्कि उनके शकूक बराबर बढ़ते जाते थे।"

सम्राट्—"बड़े अफ़सोस का मुक़ाम है कि हमारे यहाँ उन्हें तकलीफ़ हुई। मुझसे ऐसी बात तुमने ज़ाहिर क्यों न कर दी कि बंद हो जातीं।"

अपालोडोटस—"इस चारेकार मे ख़यालात अदब माने रहे। अभी कल हुज़ूर ने इस ज़ोर से बोसा ले लिया कि उनके निचले लब पर निशान पड़ गया, जो मुझे दिखला रही थीं! अब उनको यहाँ रहना मंज़ूर नहीं। कहती हैं, जितना सवाब फ़रायज़ ज़ौजियत के अदा करने में है, उतना ही फ़क़ीरी में भी। फिर वही क्यों न की जाय? इनको शाही या गदागरी में इम्तियाज़ नहीं है; सिर्फ़ फ़रायज़ पर ख़याल करती हैं।

सम्राट्—"तब तो वह आज भी फ़ुक़रा में से हैं।"

अपालोडोटस—"यही तो बात है, मगर मुझे ऐसी बीवी के छोड़ने से मजबूरी है।"

सम्राट्—"मैंने बोसा कुछ सख़्ती से ज़रूर ले लिया। तवज्जेह दूसरी तरफ़ होने से ऐसी ग़लती हो गई। बहरहाल अब तदबीर क्या है, जिससे वह एक बार फिर ख़ुश हो सकें।"

अपालोडोटस—"अब तो वह यहाँ रहेंगी नहीं, और मैं उन्हें छोड़ सकता नहीं; सख़्त मजबूरी हो रही है। लिहाज़ा दस्तबस्ता अर्ज़ है, मुझे भी यहाँ से रुख़सती अता हो जाय। जहाँ सींग समाएँगे, जाऊँगा।"

सम्राट्—"क्या बकता है? बच्चे! ज़रा होश में आ जा। देख, तेरा मुहब्बती पिदर हूँ। कोई दूसरी तरकीब सोच।"

अपालोडोटस—"बड़ी इनायत; मगर बहू के निस्बत हुज़ूर का ऐसा बरताव तो ना क़ाबिल बरदाश्त होना कोई तअज्जुब की बात नहीं है।"

सम्राट्—"क्यों नहीं, मगर मैंने जान-बूझकर तो कुछ किया नहीं, महज़ ग़लती की बात थी।"

अपालोडोटस—"दूसरा तरीक़ा सिर्फ़ इसी क़दर मुम्किन है कि आम जलसों वग़ैरह में तो वह हुज़ूर के सामने होंगी, और फ़रायज़ भी उसी तरह अदा करेंगी, गोया दर्मियान में कोई बात नहीं, मगर आपस में किसी तरह की कोई गुफ़्तगू वग़ैरह न होगी; मिलने पर दूर से सिर्फ़ सलाम वग़ैरह बाक़ायदा कर लिया करेंगी। अगर हुज़ूर अक़्दस इतने शरायत मंज़ूर फ़र्मा सकें, तो मुम्किन है, उन्हें तस्कीन हो जाय, नहीं तो मुझे भी रुख़्सती बख़्शी जाय। सख़्त मजबूरी है। जानता हूँ कि शरायत ख़िलाफ़ शाने शाही हैं, मगर मुझे शाही से भी दस्तबरदारी मंज़ूर है, लेकिन बाअस्मत व बेगुनाह अफ़्रीक़ा बीवी को नहीं छोड़ सकता।"

सम्राट्—"मुझे इन शरायत की पाबंदी में दिली कोफ़्त तो काफ़ी होगा, मगर तुम्हारी बीबी की दिलजोई के लिहाज़ से मंज़ूर यह भी है।"

अपालोडोटस—"हज़ार बार शुक्रिया अदा करता हूँ, मगर अर्ज़ यह भी है कि हर पहलू से ग़ौर फ़र्मा लिया जाय, क्योंकि पाबंदी शरायत में तसाहुल से जानिबैन को तकलीफ़ मुम्किन है। अभी मैं ख़ुशी से जाने को तैयार हूँ। मेरी मा को भी सख़्त तकलीफ़ रही, मगर मैंने कुछ अर्ज़ न किया। हुज़ूर को कमी किस बात की है? बहरहाल घर में निगाहें बद न उठनी चाहिए। मैं कुछ अर्ज़ नहीं करता, न शुबहा करता हूँ, मगर बीवी की जानिब से यह सारी अर्ज़दाश्त है।"

सम्राट्—तूने, बेटा! बातें आज सख़्ती से कुछ नाज़ेबा ज़रूर की

हैं, मगर चूँकि थोड़ी-सी ग़लती मुझसे भी हो गई, लिहाज़ा मुआफ़ किए देता हूँ, और शरायत भी बाद ग़ौर कामिल मंज़ूर करता हूँ।"

अपालोडोटस—"ऐन इनायत हुई, अब्बाजान! क़दमबोसी में हम दोनो की ग़फ़लत न ज़ाहिर होगी।"

षोडश परिच्छेद

संकट

(अ) पाटलिपुत्र में उच्छृंखलता

सम्राज्ञी के तपोवन जाने के एक ही दो मास के भीतर महाराजा पुष्यमित्र ने एक दिन सम्राट् बृहद्रथ से एकांत में वार्तालाप किया—

पुष्यमित्र—"देव ! मुझे कुछ दिनों से एक बिनती करनी है; आज्ञा हो, तो निवेदन करूँ ।"

सम्राट्—"अवश्य कहिए । शायद सम्राज्ञी और नट-कन्या के ही विषय में आप कुछ कहनेवाले हों ।"

पुष्यमित्र—"यही बात है, देव ! आपने सच्चरित्र तथा देवी-तुल्य पूज्या राजमहिषी को तपोवनार्थ पयान कर जाने दिया, किंतु कुछ विशेष आग्रह न किया ।"

सम्राट्—"हठ में क्या करता ? आपने तो कहने-सुनने की अति कर दी, किंतु उन्होंने कब सुना !"

पुष्यमित्र—"मैं था कौन, जो मेरा कहना सुना जाता ? मंत्रित्व का प्रभाव लोक-तंत्र पर पड़ सकता है, न कि सम्राट् अथवा सम्राज्ञी पर ।"

सम्राट्—"मुख्य बात यह है कि उनमें धार्मिकता इतनी कुछ घर कर गई है कि मनुष्य-भाव मानो रह ही नहीं गया है । वह तो देवी-सी हो गई हैं । इधर मैं एक साधारण मनुष्य हूँ । उनकी महत्ता देखकर मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं ।"

पुष्यमित्र—"इस कथन में, देव ! बहुत कुछ अत्युक्ति है । वह नीचे कभी

नहीं गिरतीं, किंतु भवदीय सेवा अथच स्त्री-धर्म से कभी पीछे न हटीं। रूप, शील, गुण, पति-भक्ति; धर्म-परायणता, सभी में एक ही हैं। ऐसी सम्राज्ञी से प्रीति न कर सकना एक अपूर्व-सी बात है।"

सम्राट्—"अब तो वह जा ही चुकीं, अब क्या झीख-झाख [illegible]ते हो ?"

पुष्यमित्र—"युक्ति-पूर्वक चलने से अब भी फिर आ सकती हैं। जाने से क्या होता है ? पति-पत्नी का संबंध-विच्छेद कभी साधारण घटनाओं से हो सकता है ?"

सम्राट—"यदि उन्हें ला सकिए, तो अवश्य लाइए। मुझे भी इस बात का भारी खेद है।"

पुष्यमित्र—"लाऊँ कैसे ? जिस नट-कन्या के छिपकर आने के कारण उन्होंने राजप्रासाद छोड़ा, वही अब खुले-खुले यहाँ स्वामिनी-सी हो रही है। जब तक ऐसी दशा है, तब तक वह कैसे आ सकती हैं ?"

सम्राट्—"मैं आज ही उसे निकाल बाहर करता हूँ, तथा उसके दोनो भाइयों को भी पाटलिपुत्र से बाहर निकाल दूँगा। आप उन्हें लाने का प्रयत्न कीजिए।"

"जो आज्ञा" कहकर तथा नटों-संबंधी राजाज्ञा को पालित होते देखकर महाराजा पुष्यमित्र योग्य अनुयायियों-सहित तपोवन पधारे। वहाँ के सभी निवासियों से मिल-भेंटकर तथा आर्य बृहस्पतिमित्र, ऋषि पतंजलि और कांचनमाला से विशेष परामर्श करके गुरुवर की सेवा में उपस्थित हुए। आपने दो मुख्य निवेदन किए—एक तो यह कि सम्राज्ञी फिर से प्रासाद को पधारें, तथा ऋषि पतंजलि अपने प्रिय कार्य करते हुए भी पाटलिपुत्र में विराजकर अग्रहारिक (दानाध्यक्ष) के पद को भी दीप्ति प्रदान करें। उचित कथनोपकथनों के पीछे सबकी सम्मति इन वक्तव्यों से मिल गई, और पुष्यमित्र सम्राज्ञी

की सेवा में उपस्थित हुए। इनकी सहठ विनती सुनकर तथा सबों की सम्मति पर विचार करके सम्राज्ञी की इच्छा अपने धार्मिक कृत्यों से विरक्त होने की न हुई। यद्यपि नियमानुसार विवाहित स्त्री-वर्ग ध[illegible] साधन नहीं कर सकता, तथापि उसी के समान अन्य धार्मिक कृत्यों में [illegible] प्रवृत्त रहती थीं। जब पुष्यमित्र ने साम्राज्य में युवराज के अभाव त[illegible] स्त्री के पति-सेवा-संबंधी कर्तव्यों पर बड़ा हठ किया, तथा इतर महानुभावों अथच गुरुवर के विचारों का भी प्रभाव उन पर पड़ा, तब विवश होकर उन्होंने जाना स्वीकार किया, किंतु इतना निबंध तो भी रक्खा कि पहले सम्राट् को छ मास-पर्यंत अपने आचरण को शुद्ध रखना होगा। महाराजा पुष्यमित्र के हठ करने तथा इतरों के समझाने-बुझाने से सम्राज्ञी ने यह अवधि घटाकर तीन ही मास की मान ली। अनंतर सबों से यथायोग्य अभिवादन करके तथा ऋषि पतंजलि को साथ लेकर महाराजा पुष्यमित्र पाटलिपुत्र को पधारे। सम्राट् को इस अवधि का प्रश्न अच्छा तो न लगा, किंतु उन्होंने मान लिया। ऋषि पतंजलि की नियुक्ति दानाध्यक्ष के पद पर सर्व-सम्मति से हो गई।

कुछ समय-पर्यंत लोक-तंत्र तथा राजप्रासाद के कार-बार ठीक-ठीक चलते रहे, किंतु नट-कन्या विनीता तथा उसके दोनो भाई बड़ी ही विकलता में थे। धीरे-धीरे अपने मित्र-वर्ग तथा कुछ धन-मान के लोलुप राज-सेवियों की सहायता से एक रात्रि में विनीता सम्राट के शयनागार में उपस्थित होकर उनके चरणों पर गिर पड़ी, तथा फूट-फूटकर रोने लगी। सम्राट् अपने प्राचीन प्रेम से विवश हो गए, और वह फिर से छिपकर राजप्रासाद में रहने लगी। दस-पाँच दिनों में उसके दोनो भ्राता भी पूर्ववत् आ पहुँचे, और सम्राज्ञी महोदया ने तीन मास की जो अवधि नियत की थी, वह एक ही मास में पूर्णतया भंग हो गई। महाराजा पुष्यमित्र ने इस प्रतिज्ञा-भंग के विषय में विशेष कहा-सुनी की, तथा साम्राज्य के भविष्य पर भी बहुत कुछ प्रकाश डाला,

किंतु कोई फल न निकला। उधर सोनयश, तथा गंगयश, दोनो इनसे पूर्णतया जलते ही थे, इसलिये उन्होंने अपने मित्रों से मंत्र करके तथा अवसर पाकर सम्राट् की सेवा में एक दिन यों निवेदन किया—

सोनयश—"देव ! छोटे मुँह बड़ी बात ! मैं क्या कहूँ, किंतु किसी दिन एक परमावश्यक विषय पर निवेदन करने की आज्ञा चाहता हूँ।"

सम्राट्—"हाँ, कहो, क्या कहना चाहते हो, अभी कह डालो।"

सोनयश—"देव ने महाराजा पुष्यमित्र को मंत्रित्व के इतने भारी अधिकार दे रक्खे हैं कि साम्राज्य पर देव की आज्ञा चलती हुई मैं नहीं देखता, वरन् सभी विषयों पर उन्हीं का शासन चल रहा है; देव का तो केवल नाम-ही-नाम है।"

सम्राट्—"ऐसा क्यों सोचते हो ? सारा मंत्रिमंडल प्रस्तुत है; क्या अकेले वही हैं ?"

गंगयश—"किंतु हैं तो सब मंत्री उन्हीं के अधीन।"

सम्राट्—"पहले सब मंत्री स्वतंत्र थे, किंतु जब काम न चला, तब महाराजा बृहस्पतिमित्र की प्रार्थना पर महामंत्री तथा महासेनापति-नामक दो ही प्रधान मंत्री रह गए, और काम अच्छा चलता रहा। अंत में महामंत्री के स्वर्गवासी हो जाने से जब कोई योग्य पुरुष उस पद के अर्थ मिला ही नहीं, तब पितृचरण ने महाराजा पुष्यमित्र की इच्छा के प्रतिकूल उन्हीं को महामंत्री भी बना दिया। काम चल भी अच्छा रहा है।"

गंगयश—"मैं तो समझता हूँ कि उनका प्रभाव इतना बढ़ा हुआ है कि देव यदि उनके प्रतिकूल कोई आज्ञा देनी चाहें, तो सफलता दुस्तर हो जाय।"

सम्राट्—"निष्कारण उनके प्रतिकूल आज्ञा देने की आवश्यकता ही क्या है ?"

सोनयश—"राज्य की स्थिति आज्ञा चलने पर है। यदि शासन-शैथिल्य हो, तो राज्य का नाम-ही-नाम होगा।"

गंगयश—"देखा जाय, देव ! कि सारी सेना उन्हीं के अधिकार में है ।"

सम्राट्—"किंतु वह स्वयं किसके अधिकार में हैं ?"

गंगयश—"नाम-मात्र को तो देव के अधीन हैं, किंतु वास्तव में स्वामी-से हो रहे हैं ।"

सम्राट्—"उनकी राजभक्ति में तो कोई संशय है नहीं ।"

गंगयश—"यह तो मैं जानता नहीं, हो या न हो । मैं क्या कह सकता हूँ ? मुझे तो ऐसा दिखता है कि सेना मानो उन्हीं की है ।"

सम्राट्—"अच्छा, रूप बदलकर राजचर इसका भेद लेंगे ।"

इस मन्त्रणा के पीछे साधारण योद्धा का रूप धरकर राजचर महोदय सेना में घुसकर सैनिकों का भेद लेने लगे । एक स्थान पर एक चमूप के साथ प्रायः दस वीर सैनिक बैठे थे । उन्हीं में अज्ञात रूप से यह भी मिल गए । बातें यों हो रही थीं—

पहला सैनिक—"कहो, यारो ! आजकल कैसी चल रही है ?"

दूसरा सैनिक—"कहें क्या भाई ! परिश्रम करते-करते फुचड़े उड़े जाते हैं ।"

तीसरा सैनिक—"वेतन भी तो करारा मिलता और परेवा को ही बट जाता है ।"

पहला सैनिक—"ऐसा न हो, तो इतना परिश्रम भी कौन करे ?"

चौथा सैनिक—"अच्छा, इतना काम लिया ही क्यों जाता है ?"

तीसरा सैनिक—"इसका उत्तर तो महासेनापति दे सकते हैं ।"

पाँचवाँ सैनिक—"उनके प्रतिनिधि चमूप महाशय बैठे तो हैं ।"

तीसरा सैनिक—"क्यों, प्रियवर ! क्या आप हमारे प्रश्नों के उत्तर देंगे ?"

चमूप—"जहाँ तक ज्ञात होगा, क्यों न दूँगा ?"

छठा सैनिक—"अच्छा, पहले मास-चित्र-शिक्षण से ही चलिए ।"

चमूप—"यह तो सेना का पहला पाठ है। शत्रु पर आक्रमण करने तथा उसकी चालों को रोकने के लिये आवश्यक है कि अपने दल की टुकड़ियाँ यत्र-तत्र लगाई जायँ। इसीलिये युद्ध-क्षेत्र का मान-चित्र तैयार कर लिया जाता है, और शत्रु-पक्ष की स्थिति जैसी हुई, उसी के अनुसार अपनी सेना यत्र-तत्र नियोजित हो जाती है, जिसके स्थान मान-चित्र पर स्थिर हो जाते हैं। यदि उचित स्थानों पर पहुँचने में सैनिक लोग कुछ भी भूल करें, तो सम्भवतः युद्ध के गड़बड़ में अपनी ही सेना द्वारा शत्रु समझकर उन पर आक्रमण हो जाय, अथवा भुशुंडी, शतघ्नी, हयसादी, गज-दल के प्रयोगों से उनको क्षति पहुँच जाय।"

तीसरा सैनिक—"इसी कारण से क्या प्रत्येक सैनिक के लिये मान-चित्र का जानना आवश्यक रहता है?"

चमूप—"यही तो बात है।"

दूसरा सैनिक—"अच्छा, अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग तो ठीक ही है, किंतु नित्यप्रति तीन प्रहर जो दौड़-धूप, कूद-फाँद आदि के काम लिए जाते हैं, उनका क्या प्रयोजन है?"

चमूप—"इन बातों से परिश्रम, व्यायामादि में सैनिक अभ्यस्त रहते हैं, जिससे युद्ध के समय सुकुमारता-वश कार्य न बिगड़े। शरीर कठिन परिश्रम का अभ्यस्त रहना चाहिए।"

तीसरा सैनिक—"यह तो प्रत्यक्ष ही है। बिना सैनिकों के सबल हुए सेना ही क्या है? कूद-फाँद आदि का उपयोग युद्ध में पड़ ही जाता है। कहीं पहाड़ों पर चढ़ना, कहीं नदियों को पार करना, कहीं गढ़ों आदि को कूदना, कहीं नवीन पुल बनाना, सैकड़ों काम होते हैं। केवल अस्त्र-शस्त्र के व्यवहार से काम थोड़े ही चला जाता है।"

दूसरा सैनिक—"हयसादी और पदाति की लड़ाई, गज-दल का सामना करना, उन्हें अग्नि आदि के प्रयोग से विचला देना, सभी तो

काम हैं। नित्यप्रति कल्पित युद्धों के खेल हुआ करते हैं, जिनमें शत्रुओं को सैनिक चालों से ही पराजित करना सिखलाया जाता है।"

चमूप—"इस कार्य में तो स्वयं महासेनापति महोदय बड़े ही पटु हैं। सारे संसार के सैनिक दाँव-पेंच सीखे बैठे हैं। जिस सेना का नेतृत्व उन्होंने लिया नहीं कि विजय रक्खी हुई दिखाई देने लगती है।"

तीसरा सैनिक—"हैं भी बड़े भाग्यवान्। दोनो रानियों के तीन-तीन बेटे प्रस्तुत हैं। एकमात्र कन्या शाम की सम्राज्ञी हो जायगी, तथा स्वयं बलख के दामाद बने-बनाए हैं। तीनो भारी राज्यों से इनका निजू संबंध है।"

चौथा सैनिक—"किंतु आजकल सारी सिट्टी भूली हुई है। साम्राज्य मानो नटों का हो रहा है। सम्राट् उन्हीं की आँखों से देखते हैं। कहने-भर को महामंत्री तथा महासेनापति रह गए हैं। अनेकानेक विभागों में प्रभाव धीरे-धीरे नटों का बढ़ रहा है।"

पाँचवाँ सैनिक—"समय के साथ और भी बढ़ेगा। न-जानें क्यों चुप्पी साधे बैठे हैं? कुछ बोलते ही नहीं।"

चमूप—"बोलें क्या? राजभक्ति भी तो कोई वस्तु है।"

पाँचवाँ सैनिक—"वह राजभक्ति तो वास्तव में अब नट-भक्ति हो रही है।"

चमूप—"क्या करें बेचारे, किसी प्रकार चला रहे हैं। मन-ही-मन बहुत कुढ़ते होंगे। सज्जनता से विवश हैं।"

दूसरा सैनिक—"सारी सेना आज उन्हीं की आज्ञा में है। यदि हूँ-भर कर दें, तो हम लोग भगिनी-सहित दोनो नटों को पल-भर में चूरा कर डालें।"

चौथा सैनिक—"सेना पर ही क्या, सारा साम्राज्य उनकी आज्ञा मानने को प्रस्तुत है, किंतु वह मारे झूठी राजभक्ति के अपने को विवश मान-से रहे हैं।"

तीसरा सैनिक—"करें भी, तो क्या करें ? कुछ तो रूप निभाना पड़ता है। बेचारे सम्राज्ञी माता को बहुत समझाते रहे, किंतु एक न चली। यह साम्राज्य फिर डूबने को अब-तब-सा कर रहा है।"

चमूप—"सुना है, बल्ख़-पति दंतिदुर्ग चौबीस वर्षों के पीछे फिर भारतीय आक्रमण का विचार करने लगा है।"

दूसरा सैनिक—"ऐसा क्या करेंगे ? कुछ तो अपने जामाता का शील निभावेंगे।"

तीसरा सैनिक—"क्या वह नहीं जानते कि यहाँ अब दामाद का भी अधिकार नाम-मात्र का रह जानेवाला है ?"

चमूप—"भाइयो ! सैनिक विषयों पर विचार करते-करते हम लोग बहुत दूर निकल गए हैं। यदि इन बातों का पता देव के कानों तक पहुँच जाय, तो सिर पर विपत्ति आ जाय।"

चौथा सैनिक —"यहाँ तो सब अपने ही लोग हैं। फिर भी समझ-बूझकर बात करनी चाहिए। कहते ही हैं कि दीवारों तक के कान होते हैं।"

इस प्रकार बात करने के पीछे यह सभा भंग हुई, तथा राजचर ने जाकर पूरा-पूरा ब्यौरा सम्राट् से निवेदन कर दिया। उनको भी समझ पड़ गया कि महाराजा पुष्यमित्र तो तिल-मात्र प्रतिकूल नहीं हैं, वरन् नटों के प्राधान्य से इतर पौर जानपद कुपित हैं। फिर भी नट-कन्या का उन पर ऐसा प्रभाव हो चुका था कि वह कोई विशेष प्रबंध कर न सके, तथा साम्राज्य की अपकीर्ति समय के साथ दूर-दूर तक फैलती रही।

(ब) बल्ख़ और मथुरा

बल्ख़-पति डिमिट्रियस (दंतिदुर्ग) का भारत की ओर क़ाबुल, पंजाब और सिंधु पर अधिकार था। एक बार इन्होंने (२१४ ई० पू० में) राजगृह पर आक्रमण किया था, किंतु खारवेल के भय से इन्हें मथुरा की ओर पलटना पड़ा था। अब पाटलिपुत्र का दुष्प्रबंध सुनकर इनका

विचार भारतीय आक्रमण के संबंध में फिर से जाग्रत् हुआ। मंत्रियों के साथ सम्मत स्थिर करके आप ससेन मथुरा को पधारे। बल्ख में कुछ सेना रक्षा के निमित्त छोड़ दी गई। मथुरा में पुत्री हेलेन से आपने मंत्र किया, तो यों बातें हुईं। उस सभा में शाह के अतिरिक्त हेलेनदेवी, महामंत्री तथा महासेनापति उपस्थित थे।

हेलेन—"अब्बाजान! मुझे इस मामले में कुछ ख़ौफ़ ज़रूर लगता है। आजकल पाटलिपुत्र से औवल तो कोई बिनाय मुख़ासिमत नहीं है, दोयमश अपने दामाद से बैठे-बिठलाए क्यों ख़ुसूमत मोल लीजिए? फिर बल्ख की हिफ़ाज़त भी उतनी उम्दा न रहेगी, जितनी कि हुज़ूर के वहीं तशरीफ़ रखने से रहती है।"

दंतिदुर्ग—"बातें तो, बेटी! तुम्हारी बहुत ज़ूफ़हमी की हैं, मगर ग़ौर इन सब पर बल्ख में ही कर लिया गया था। वज़ीरे आज़म तुमसे सब हालात ज़ाहिर करेंगे।"

महामंत्री—"वलीअहेद साहबा! बात यह है कि आजकल पाटलिपुत्र की सल्तनत बहुत गिरी हुई हालत में है। आपके शौहर साहब की राय पर सम्राट को काफ़ी एतबार नहीं रहा है, बल्कि नटों से उनकी उल्फ़त बढ़ रही है। उनकी मल्लिका भी नाख़ुश होकर इबादत के लिये बाहर चली गई हैं। महाराजा पुष्यमित्र के ख़िलाफ़ अपने को कुछ करना मंज़ूर नहीं, बल्कि बशर्ते फ़तेहयाबी हिंदुस्तान की शहंशाही आपकी वजह से उन्हीं को मिलेगी।"

हेलेन—"मुझे तो समझ पड़ता है कि इस मामले में कामयाबी जितनी सहल समझी जाती है, वह बात नतीजे से भी साबित होनी मुश्किल है। अब्बाजान पर बख़ूबी रोशन है कि उसकी लियाक़त फ़ने-जंग में क़रीब-क़रीब लासानी है। यह नहीं ख़याल किया जा सकता कि अपने मुल्क की हिफ़ाज़त के लिये वह हथियार न उठाएँ, बल्कि इसी ख़याल से मुझसे शादी भी नहीं करना चाहते थे। इस कोशिश में वक़्त

व फ़ौज, दोनो का काफ़ी खर्च होगा, और उधर शाम से अगर कोई छेड़-छाड़ शुरू हो गई, तो दो अतराफ़ से दबकर हुज़ूर अब्बाजान के लिये काफ़ी दिक़्क़त का सामना होगा। यह मैं नहीं कहती कि अपनी ताक़त हेच है, मगर दुश्मन भी मामूली या कमज़ोर नहीं है।"

महासेनापति—"वलीअहेद साहबा! मेरा ख़याल ऐसा है कि आपके मिज़ाज अ़क़्दस में ख़ौफ़ का ख़याल ज़रूरत से कुछ ज़ायद हो रहा है। निहायत पोशीदा तरीक़े से भी कुछ अर्ज़ करना चाहता हूँ, मगर सिर्फ़ उसी सूरत में, जब यह वादा फ़र्मा दिया जाय कि उसका हाल महाराजा पुष्यमित्र या उनके मददगारों पर ज़ाहिर न होगा। इस बात के लिये मैं मुआफ़ी का भी ख़्वास्तगार हूँ।"

हेलेन—"मुआफ़ी की ज़रूरत नहीं। मैं समझती हूँ, इस बात में मेरा मामला कुछ मुश्तबा ख़याल किया ही जा सकता है, क्योंकि जामिबैन से मेरा रिश्ता बहुत ही नज़दीकी है। ताहम मैं क़स्मिया वादा करती हूँ कि किसी तरफ़ का कोई राज़ दूसरी तरफ़ ज़ाहिर न करूँगी। मुझे यह भी यक़ीन कामिल है कि ख़ुद अब्बाजान पर ज़ाती तरीक़े से वे लोग हमला न करेंगे, न ख़ुद उन पर इधर से वही बात होगी।"

दंतिदुर्ग—"इस बात का मैं भी हातिमी वादा करता हूँ, बल्कि निहायत शाद हुआ हूँ कि मेरी जान से ज़ायद अज़ीज़ बेटी ने अपने फ़रायज़ समझने में औवल दर्जे की दानिशमंदी का सुबूत दिया है। सिर्फ़ एक बात पर ग़ौर रह गया है कि जो फ़ौज अपनी व बेटी की पंजाब में है, उसकी क्या हालत रहेगी। मैं तो समझता हूँ, पूरी यूनानी फ़ौज मेरी तरफ़ रहे व नीज़ हिंदुस्तानी उधर।"

हेलेन—"यही फ़ैसला दुरुस्त है, बल्कि मेरे शौहर ने ऐसा ही लिख भी भेजा है। हुज़ूर की आमद का हाल सुनकर उन्होंने अपने मोतिबर मंत्री ऋषि पतंजलि को भेजा भी है। उम्मीद करती हूँ कि ख़ुफ़िया तज़किरे के पीछे उनका भी दरबार हो जायगा।"

दंतिदुर्ग—"बहुत ठीक है। (महासेनापति से) सिपहसालार साहब ! अब आपसे अपने मामलात बेखौफ़ होकर कहिए।"

महासेनापति—"जो हुक्म, खुदावंद ! (हेलेनदेवी से) अब मैं बेखौफ़ होकर खुफ़िया मामलात भी अर्ज़ करता हूँ। अभी बातें पूरे तौर से तय तो हुई नहीं हैं, मगर उम्मीद की जाती है कि सम्राट् के साले दोनो नटों को मिलाकर कामयाबी सहल कर ली जायगी। पहले से तो उम्मीद थी कि शायद महाराजा साहब खुद भी सख़्ती से जंगोजदल न करें, मगर वलीअहेद साहबा की इज़हार वज़नी राय से यह उम्मीद गातर-बूद हो गई है। फिर भी शहेंशाह पाटलिपुत्र की पूरी मदद न होने से उधर से मुक़ाबिला सख़्त न होने की उम्मीद की जा सकती है।"

हेलेन—"मुझे तो, अब्बाजान, इन बातों में यक़ीन नहीं पड़ता। उनकी ताक़त पूरी रियासत की मदद से वहाँ इतनी क़वी है कि नटों की कौन कहे, खुद सम्राट् के मुक़ाबिले से भी वह कमज़ोर न पड़ेगी। मगर देखती हूँ कि आप लोगों की राय इस क़दर मुस्तहकम हो गई है कि मेरे खयालात का काफ़ी असर अब्बाजान पर न पड़ेगा। बहरहाल एक बात पर तो काफ़ी ग़ौर कर लीजिए कि अगर शहेंशाह शाम ने कुछ तक-लीफ़दिही की, तो क्या नतीजा होगा ?"

महामंत्री—"अभी हम लोगों की राय इस मामले में ऐसी है कि वहाँ के वलीअहेद की हिंदवी रिश्तेदारी की वजह से उधर से झगड़ा न उठेगा। फिर वहाँ शहेंशाह और वलीअहेद में कई बातों में इत्तिफ़ाक़ राय न होने से उस सल्तनत की ताक़त पूरी तक़वियत पर नहीं आ सकती।"

हेलेन—"इस मामले में भी बदक़िस्मती से मेरी राय नहीं मिलती। वलीअहेद अपालोडोटस इस क़दर नेक शख़्स है कि मामूली से ज़ायद संगीन मामलों में भी नाफ़र्मानी नहीं कर सकता, इत्तिफ़ाक़ राय हो या न हो।"

महामंत्री—"इसका सुबूत नतीजे से ही ज़ाहिर होगा।"

हेलेन—"क्यों अब्बाजान ! आपकी राय पुरअज़मत क्या है ?"

दंतिदुर्ग—"समझता, बेटी ! मैं भी यही हूँ, वर्ना फ़ौजकशी करता ही क्यों ?"

हेलेन—"तो कर लीजिए कोशिश। इतना ख़याल रहे कि मेरे शौहर व नीज़ सौत के तीनों लड़कों पर आँच न आने पाए। हुज़ूर के तीनों नवासे तो यहीं हाज़िर हैं, और अभी बच्चे हैं। उनके शरीक जंग होने का तो कोई सवाल ही नहीं है।"

दंतिदुर्ग—"इतना हातिमी वादा मैं करता ही हूँ, बल्कि मामला इस क़दर साफ़ है कि वादे की भी ज़रूरत न थी। अच्छा, अब ऋषि पतंजलि को भी बुलवा लिया जाय।"

(एक सामरिक उपमंत्री बाहर जाकर ऋषि को लाता है, और वह आशीर्वाद देकर तथा शाही सलाम करके आसन पर विराजते हैं।)

महामंत्री—"ऋषिवर ! आपको देखकर हमारे शहंशाह ग़ायत दर्जा शाद हैं। सुना, आप कई फ़नों में काफ़ी अहमियत रखते हैं।"

ऋषि पतंजलि—"यह तो साधारण अवस्थाओं के प्रश्न हैं; इस समय होनेवाले युद्ध के संबंध में कथनोपकथनार्थ उपस्थित हुआ हूँ। अपनी नियुक्ति के पत्र भी लाया हूँ।"

दंतिदुर्ग—"मेहरबानी करके उन्हें वज़ीरे आज़म के सिपुर्द कर दीजिए।" (ऋषि पतंजलि ऐसा ही करते हैं।)

महामंत्री—(पत्र देखकर) "हुज़ूरेवाला, इनकी तैनाती क़ायदों के मुताबिक़ है।"

दंतिदुर्ग—"अच्छा, ऋषिजी ! अब आप अपना मुद्दआ ज़ाहिर करें।"

ऋषि पतंजलि—"हमारे सम्राट् बृहद्रथ को यही पूछना है, ख़ुदावंद ! कि इन दिनों महती सेना के साथ इधर पधारने का क्या कारण है ? आजकल किसी प्रकार का कोई विरोध तो दोनों साम्राज्यों में है नहीं।"

दंतिदुर्ग—"वज़ीर साहब ! आप इस सवाल का जवाब ऋषिजी को दीजिए।"

महामंत्री—"ऋषिजी ! बात यह है कि हमारा-आपका रिश्ता मेल या लड़ाई का ज़माने बिसियार से चला आता है। पहले की बातों को तो जाने दीजिए, ख़ुद शहंशाह आज़म ने चौबीस साल हुए, बहुत बहस-मुबाहिसा के पीछे फ़ौजकशी की थी। हालाँकि उस वक्त उसका कोई नतीजा नहीं निकला, ताहम ताहनोज़ हमारी-आपकी कोई सुलह तो हुई नहीं; जो वजूहात उस वक्त थे, वे अब भी क़ायम हैं।"

ऋषि पतंजलि—"यह तो बहुत प्राचीन बात हो चुकी। उसके पीछे आपके यहाँ से युवराज्ञी महोदया प्रेम-पूर्ण व्यवहार के साथ पाटलिपुत्र पधारीं, और पूरी मित्रता निभाती हुई महाराजा पुष्यमित्र को कलिंग-नगर से छुड़ा लाईं। क्या उनके विवाहादि के पीछे भी प्राचीन शत्रुता बनी रही।"

महामंत्री—"यह बर्ताव तो हमारा महाराजा पुष्यमित्र के साथ ज़ाती था, जो अब भी पूरी मुहब्बत के साथ क़ायम है, बल्कि बफ़ज़्ले इलाही तीन नवासों की पैदाइश से और भी अज़्मत को पहुँच चुका है। ख़ास महाराजा साहब से हमारी कोई ख़ुसूमत थोड़े ही है; झगड़ा सल्तनत से था, जो अब भी क़ायम है। अगर महाराजा साहब ख़ुद सम्राट् होते, तो कोई ख़राबी न रह जाती। बहरहाल इस वक्त सवाल आपके शहंशाह से है।"

ऋषि पतंजलि—"यह तो आपको ज्ञात होगा कि महाराजा पुष्यमित्र ही एक प्रकार से हमारे साम्राज्य तथा लोक-तंत्र के संचालक हैं। क्या उनमें और सम्राट् में कोई अंतर है ?"

महामंत्री—"जो फ़र्क़ है, वह आपको भी बख़ूबी मालूम है; उसके ज़बान पर लाने से क्या मतलब ?"

ऋषि पतंजलि—"वह तो एक निजी बात है। हम लोग सब उससे

अप्रसन्न हैं, वरन् हटाने के प्रयत्न में हैं, किंतु उसका कोई प्रभाव लोकतंत्र पर नहीं पड़ता ।"

दंतिदुर्ग—"मेरी समझ में यह सवाल ग़ैरमुतालिल्क़ है । अगर हमारे दामाद आपके सम्राट् होते, तो हमारा क्या बर्ताव होता, इस सवाल से मतलब ही क्या है ? जो बात है, उस पर ग़ौर होना चाहिए । जब तक हमारा पुराना झगड़ा तय नहीं होता, तब तक ख़ुसूमत का क़ायम रहना एक मामूली बात है ।"

ऋषि पतंजलि—"क्या मैं जान सकता हूँ कि इस प्रश्न का अब क्या रूप है ?"

महामंत्री—"ख़ुलासे का खुलासा यह है कि या तो आपके सम्राट् अयोध्या तक का मुल्क हमारी सल्तनत के हवाले करें, या जंग के लिये तैयार हो जायँ ।"

ऋषि पतंजलि—"तब तो यह प्रश्न निबटता हुआ नहीं दिखाई देता है । क्या मैं बिनती कर सकता हूँ कि उधर शहँशाह शाम से आपकी अनबन है ही, यदि इधर हमारे साम्राज्य से भी युद्ध ठन जाय, तो शाही भी संकट में पड़ सकती है ?"

दंतिदुर्ग—"यह सवाल हमारे वज़ारा से मुतालिल्क़ है, न कि आपसे । आप अपने बाबत गुफ़्तगू कीजिए । किन्हीं मौक़ों पर हमारी क्या हालत हो सकती है, इस सवाल का हल करना आपसे ग़ैर मुतालिल्क़ है ।"

ऋषि पतंजलि—"विषयांतर पर जाने के लिये मैं क्षमा का प्रार्थी हूँ, किंतु यही बिनती करूँगा कि इतना देश निष्कारण देने को हमारे सम्राट् प्रस्तुत नहीं हैं ।"

महामंत्री—"तब फिर मैं समझता हूँ कि यह सवाल इसी जगह पर ख़त्म होता है ।"

अनंतर यह दरबार समाप्त हुआ, तथा ऋषि पतंजलि एकांत में हेलेनदेवी से मिलकर एवं सारी ज्ञातव्य बातें जानकर पाटलिपुत्र को प्रस्थित

हुए। उन्होंने गुप्त रूप से वहाँ के भारतीय सैनिकों से मिलकर शत्रु-पक्ष की सेनाओं का यथासाध्य पूर्ण विवरण प्राप्त किया, अथच भविष्य में भी विश्वस्त सैनिकों द्वारा समाचार भेजे जाने का गुप्त प्रबंध कर दिया।

(स) पाटलिपुत्र में क्रांति

ऋषिवर के द्वारा शत्रु-पक्ष का सारा विवरण ज्ञात करके तथा सम्राट् से आज्ञा लेकर महाराजा पुष्यमित्र ने युद्ध का प्रबंध किया। इस समय के बहुत पूर्व धनभूतिजी कान्यकुब्ज के उपरिक हो चुके थे। अब वह भारहुति को स्थानांतरित होकर वहाँ के उपरिक बने, तथा जितनी महाराज्य अथच साम्राज्य की भारतीय सेना कान्यकुब्ज तथा सप्तसिंधु-प्रांतों में थी, उसका समुचित प्रबंध किया जाकर युद्ध प्रारंभ हुआ। महारानी हेलेन के उधर विराजने से दोनो पक्षों को कठिनता पड़ सकती थी, अतएव सपरिवार राजगृह में बुलाई जाकर वह भी सुगांगीय प्रासाद में रहने लगीं। इस बात में शाह दंतिदुर्ग ने भी आपत्ति न की। अब प्रेम-भाव छोड़कर पूर्ण कौशल के साथ संग्राम होने लगा, तथा महासेनापति पुष्यमित्र की पहली युद्ध-नीति यही हुई कि यथासाध्य शत्रु की गति में समय अधिकाधिक लग जाय। इसका फल यह हुआ कि कोई भारी युद्ध न होकर बहुत करके दोनो ओर से सेन-संचालन-मात्र होता रहा, और अयोध्या-पर्यंत पहुँचने में दंतिदुर्ग की सेना को प्रायः पाँच वर्ष लग गए, किंतु फिर भी वह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती जाती थी, त्यों-त्यों सम्राट् का धैर्य बहुत कुछ समझाने-बुझाने से भी विचलित होता जाता था। शत्रु-पक्ष के चरों ने गंगयश और सोनयश भटों को एक पूरे प्रांत का लालच देकर साध भी लिया था, जिससे एक ओर तो महासेनापति सम्राट् को साहस प्रदान करते थे, दूसरी ओर एक तो वह स्वयं भीरु थे, अथच अपने नट मित्रों के मंत्रों से और भी चलित-धैर्य हो जाते थे। शत्रुओं के अयोध्या-पर्यंत आ जाने से तथा इतने बृहत् देश के साम्राज्य से निकल जाने से बहुतेरे पौर जानपद भी घबराते थे, तथा पाटलिपुत्र भय से बहुत कुछ थर्रा रहा था।

सम्राट् तथा राजधानी की ऐसी दशा देखकर महासेनापतिजी को बड़ा खेद हुआ, और इन्होंने उन्हें विजय की आशा दिलाते हुए बहुत कुछ समझाया, किंतु भटों की कादर सम्मतियों तथा पौर जानपदों की घबराहट का उन पर ऐसा नीच प्रभाव पड़ता था कि वह एक दिन भी और युद्ध के चलाने पर उद्यत न हुए, तथा किसी भी प्रकार शत्रु से संधि करने की आज्ञाएँ देने लगे। यह देखकर महासेनापति ने कहा कि तब तक कौन बड़ा युद्ध हुआ था, अथच शत्रु इतनी दूर भुलावा देकर लाया गया था कि पूरी शक्ति के साथ आक्रमण द्वारा नष्ट कर दिया जाय। उसके आगे बढ़ने में अपनी हानि कम हुई थी, तथा उसके पास केवल तीन लक्ष सेना रह गई थी। इधर अपने पास केवल मूल में चार लक्ष थी। अतएव उसी समय तो उसे नष्ट करने का डौल लगा था। सम्राट् के आगा-पीछा करने पर महासेनापति ने उन्हें सन्नद्ध सेना दिखलाने का निमंत्रण दिया। बहुत कुछ कहे-सुने जाने पर वह सैन-निरीक्षण को प्रस्तुत हुए, तथा दोनो भट मित्रों को लेकर मैदान में महा-सेनापति के साथ पहुँचे। निरीक्षण के समय चारो लाख सेना साज-सामान से लैस वीर-दर्प के साथ सारे सेनापतियों, चमूपों आदि की अध्यक्षता में प्रस्तुत थी। जिस-जिस सैनिक, चमूप, सेनापति आदि से कोई प्रश्न पूछा गया, उस-उसने पूर्ण उत्साह के साथ युद्ध-मंत्र दिया। महासेनापति के इंगित से सारा दल सम्राट् की जय-जयकारी करता हुआ गरज उठा। इतना सब होते हुए भी सम्राट् बृहद्रथ को निश्चय न हुआ, और उनका चित्त डावाँडोल ही बना रहा। अनंतर वहीं सैनिकों के सम्मुख यों वार्तालाप होने लगा—

पुष्यमित्र—"मैं बड़ी नम्रता के साथ बिनती करता हूँ कि इतनी प्रचंड सेना देखकर भी देव का चित्त दृढ़ता क्यों नहीं पकड़ता? हमारे पास चार लक्ष प्रबल दल केवल मूल में प्रस्तुत है, तथा शत्रु के साथ तीन लाख है। फिर भी अन्नदाता क्यों आगा-पीछा कर रहे हैं?

लड़ना-मरना तो मेरे साथ सैनिकों को तथा मुझे है। देव को तो केवल आज्ञा दे देनी है।"

गंगयश—"महाराज! यदि आपका पक्ष ऐसा सबल है, तो शत्रु इतना आगे क्यों बढ़ आया?"

पुष्यमित्र—"अपनी सबलता तो समय के साथ अब पूर्ण दृढ़ता से स्थापित हुई है। पहले शत्रु-पक्ष की सेना प्रबलतर नहीं, तो न्यून भी न थी। यदि युद्ध किया जाता, तो फल अनिश्चित था।"

सोनयश—"अब वह क्यों दुर्बल हो गई?"

पुष्यमित्र—"इतना तो सभी युद्धकर्ता जानते हैं कि आगे बढ़नेवाली आक्रमणकारी शक्ति की हानि विशेष होती है। इतना आगे बढ़कर अब शत्रु निर्बल पड़ा है, तथा आक्रमण करने से विजय निश्चित हो गई है।"

गंगयश—"बिना प्रायः आधा राज्य खोए आप उसका सामना नहीं कर सकते थे क्या? इसमें तो उसी की महत्ता सिद्ध होती है।"

पुष्यमित्र—"आप राजकीय कार्यों में समीक्षा करनेवाले कौन हैं? बिना थोड़ी भी बुद्धि हुए कोई पुरुष साधारण मामले तो समझ नहीं सकता; इतने ऊँचे सामरिक प्रश्नों पर शुद्ध सम्मति क्या देगा? आधा राज्य खोना दूर की बात है, अब तो मैं आगे बढ़कर पूरे सप्तसिंधु तथा सिंधु-प्रांत पर भी अधिकार कर लूँगा।"

सोनयश—"जिह्वा जिस वेग से चलती है, उसी तीव्रता से यदि खड्ग भी चलता, तो संभवतः सारे संसार पर पाटलिपुत्र का राज्य फैल जाता; किंतु देखता हूँ कि अपना भी आधा राज्य जा चुका है।"

पुष्यमित्र—(सम्राट् से) "देव! क्या इन लोगों को मुझसे इस प्रकार आलाप करने का भी अधिकार मिल चुका है?"

सम्राट्—"यह समय घोर संकट का है। इसमें मेरे अनुयायियों को

कुछ स्वच्छंदता से कथन कर देना अनुचित होकर भी बहुत गर्हित नहीं है। मेरा मत इन्हीं से मिलता भी है।"

पुष्यमित्र—"तो क्या आज्ञा होती है? क्या अयोध्या-पर्यंत देकर भी शत्रु से संधि अभीष्ट है?"

सम्राट्—"समय तो ऐसा ही देख पड़ रहा है।"

पुष्यमित्र—"यदि शत्रु इतने से भी न माने, तो क्या किया जाय?"

सम्राट्—"कुछ और भी देश देकर संधि हो। संभवतः काशी-पर्यंत पाकर दंतिदुर्ग संतुष्ट हो जाय।"

पुष्यमित्र—"क्या इतने पर भी साम्राज्य का रूप रह जायगा?"

गंगयश—"वह अब भी कहाँ है?"

पुष्यमित्र—"कृपया आप मौन रहिए, नहीं तो मेरा खड्ग आपका सिर शरीर से पृथक् करने से न रुक सकेगा। (सम्राट् से) मेरे प्रश्न का क्या उत्तर दिया जाता है?"

सम्राट्—"उत्तर तो वही है, जो गंगयश ने दिया है। अब तो आप मेरे सम्मुख भी मेरे अनुयायियों पर प्रहार तक करने को प्रस्तुत दिखते हैं।"

पुष्यमित्र—"मैं तो पाटलिपुत्र के सम्राट् का महासेनापति हूँ, एक साधारण करद महाराजा का नहीं। अब मेरा-आपका पद समान हो गया है; क्योंकि न तो साम्राज्य शेष रहा जाता है, न सम्राट्।"

सम्राट्—(क्रुद्ध होकर) "क्या गंगयश का पुराना उपालंभ सत्य था कि वास्तविक सम्राट् मैं न होकर पुष्यमित्र हैं?"

पुष्यमित्र—"यदि देव सोमशर्मन के वंशज सम्राट् बने रहें, तो मैं आज्ञाकारी महासेनापति बना-बनाया हूँ, किंतु यदि करद बनिए, तो साम्राज्य का उत्तरदायित्व मुझे ऐसे कादर, प्रतिज्ञा-दंबत्य-युक्त, देवी-तुल्य सम्राज्ञी के शत्रु, एक नट-कन्या के मित्र तथा नटों के संबंधी का सिर तक उड़ा देने पर विवश कर देगा। यही आज्ञा मुझे सम्राट्-प्रवर

सोमशर्मन ने दी थी, तब मैंने महासेनापतित्व ग्रहण किया था। कायरों का दर्प केवल मूर्ख आज्ञाकारियों पर चलता है। जान लीजिए महाराजा बृहद्रथजी! मैं आपका अब न तो सेवक हूँ, न आज्ञाकारी। यदि अपना वास्तविक रूप बनाए रहिए, तो अब भी कुछ नहीं गया है।"

सोनयश—"क्या अब भी कुछ शेष है?"

पुष्यमित्र—"चुप रह, नीच! यदि तुम दोनो में से अब एक बार भी कोई बोला, तो तुम्हारे कंधों पर शीश न होंगे।"

सम्राट्—"तब फिर निकालिए खड्ग।"

पुष्यमित्र—"यदि ऐसी वीरता होती, तो यह दशा क्यों होती? अच्छा, तुम तीनो कायर साथ-ही-साथ खड्ग निकालो। मैं अकेला युद्ध करूँगा। एक कादर के कारण भारत न डूबेगा।"

एक सेनापति—"क्या कह गए, महासेनापति महोदय! हम लोग किस दिन के लिये हैं? आप अकेले तीन से न लड़ेंगे।"

पुष्यमित्र—"बड़ी दया, सेनापतिजी! किंतु आप लोग शांत रहकर तमाशा-भर देखिए। (सम्राट् तथा नटों से) अब निकल आओ कापुरुषो!"

तीनो खड्ग खींचते हैं; तथा महासेनापति भी ऐसा ही करते हैं। युद्धारंभ होता है, और पुष्यमित्र पैतड़े बदल-बदलकर सुगमता-पूर्वक तीनो का वध करते हैं। सारी सेना में इनके लिये हर्ष-ध्वनि के साथ जय-जयकार होता है। पुष्यमित्र बृहद्रथ के शव को आदर-पूर्वक उठाकर मान के साथ एक उच्च स्थान पर रखते हैं। यथासमय सम्राट् के शव का यथोचित दाह-संस्कार होता है, तथा नट-कन्या विनीता कारागार में डाल दी जाती है।

सप्तदश परिच्छेद

प्रबंध-संस्थापन

(अ) सम्राज्ञी की महत्ता

सम्राट् बृहद्रथ के मृतक-संस्कार यथायोग्य हो गए, किंतु इस लंबे अवसर में किसी प्रकार का कोई गड़बड़ उपस्थित न हुआ। महाराजा पुष्यमित्र ने महामंत्री की उपाधि छोड़-सी दी, तथा केवल महासेनापति के रूप में राजकाज चलाना आरंभ किया, जो सुचारु रूप से परिचालित रहा। मन्त्रिमंडल यथापूर्व इनके आज्ञानुसार कार्य संपादित करता रहा, तथा सारा लोक-तंत्र ऐसा चलता रहा, मानो कुछ हुआ ही न था। सारे राजसेवक सदैव से इनकी आज्ञाओं पर चलने के अभ्यस्त थे, जिससे किसी को कोई नवीनता न समझ पड़ी, वरन् सम्राट् के साथ नटों का प्रभाव उठ जाने से पौर जानपद तक ने सुख की साँस ली। दुर्गुणों के कारण सम्राट् नितांत अप्रिय थे, तथा पुष्यमित्र ने अपनी उपाधियों में कोई नवीनता की नहीं। अतएव यह प्रश्न ही न उठा कि अब वह किसके सेनापति थे? साम्राज्य के महासेनापति थे ही, और वही बने रहे। एक दिन एकांत में ऋषिवर पतंजलि से आप इस विषय पर बात भी करने लगे —

पुष्यमित्र—"क्यों ऋषिवर! यह मेरा कार्य कैसा हुआ?"

ऋषि पतंजलि—"बहुत ही योग्य। क्या एक कायर, प्रतिज्ञा-भंगकर्ता के कारण आप सारे भारतीयों को यवनों के दास बन जाने देते? यदि

यह दशा अनुचित होती, तो आपके उचित क्रोध की समीक्षा कौन कर सकता है ?"

पुष्यमित्र—"क्या पूर्ण धार्मिक दृष्टि से आप मुझे निष्पाप कहेंगे ?"

ऋषि पतंजलि—"अवश्य। इसमें संदेह ही क्या है ? आपने स्वार्थ-वश तो कुछ किया नहीं। सारे आर्यों की स्वत्व-रक्षा का प्रश्न लाखों सम्राटों से भी बड़ा है; धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः।"

पुष्यमित्र—"बड़ी कृपा। आपकी महान् धार्मिक उच्चता से मैं अब अपना चित्त कश्मल-हीन करता हूँ।"

ऋषि पतंजलि—"ऐसा अवश्य कीजिए।"

पुष्यमित्र—"अच्छा, अब भविष्य के लिये क्या योग्य है ? गद्दी का तो कोई प्रबंध होना ही चाहिए। कब तक सम्राट-शून्य साम्राज्य चल या जाय ?"

ऋषि पतंजलि—"मुझे तो सम्राट्-पद के योग्य यहाँ कोई व्यक्ति सिवा आपके दिखता नहीं। मौर्य-वंश में कोई निकट का सपिंड है नहीं, यहाँ तक कि रनिवास भी सूना है।"

पुष्यमित्र—"यदि मैं ही सम्राट् बन बैठूँ, तो बृहद्रथ-वध में स्वार्थ-परता भी संभवतः दिखने लगे। ऊपरी रूप रखना ही पड़ता है। मुझे इसकी आकांक्षा भी नहीं है।"

ऋषि पतंजलि—"कुछ तो प्रबंध करना ही होगा।"

पुष्यमित्र—"मेरी इच्छा है कि तपोवन में चलकर सम्राज्ञी महोदया को लाया जाय। उनके आशीर्वादानुसार जो कुछ किया जायगा, उचित ही होगा।"

ऋषि पतंजलि—"मैं तो उनका पलटना कठिन समझता हूँ, किंतु चलिए; एक बार प्रयत्न कर लेने में क्या दोष है ? सम्राट् के स्वर्गवास का समाचार उनकी सेवा में भेजा ही जा चुका है, और सुना जाता है कि इस संबंध में वह ऊर्द्ध्वदैहिक-संस्कार भी कर चुकी हैं।"

पुष्यमित्र—"तब फिर यही ठीक है; हमीं-आप तपोवन चलें।"

ऋषि पतंजलि—"जैसी इच्छा।"

इस प्रकार सम्मति स्थिर करके ये दोनों मंत्री समुचित संख्या में अनुयायियों के साथ तपोवन में पहुँचे, तथा ऋषि पतंजलि ने सम्राज्ञी महोदया से अपने साक्षात्कार का संदेश भेजवाया। यथासमय प्रणाम-आशीर्वाद के पीछे बातचीत होने लगी—

ऋषि पतंजलि—"महाराजा पुष्यमित्र के साथ में आज भवदीय सेवा में उपस्थित होकर सारे साम्राज्य की ओर से एक महती प्रार्थना लाया हूँ।"

सम्राज्ञी—"काकाजी यहाँ तो पधारे हैं, किंतु मेरे पास क्यों न आए?"

ऋषि पतंजलि—"उन्हें श्रीचरणों में उपस्थित होने में भारी लज्जा लग रही है। बेचारे क्या करें! पहले तो क्रोधावेश में एक आततायी कार्य कर बैठे, अब आपको मुख दिखलाते नहीं बनता।"

सम्राज्ञी—"इस दिन का आभास तो मुझे वहाँ से चलते समय ही हो गया था; वह तो कहिए, मामला दीर्घ काल-पर्यंत चलता रहा। इतने समय की मुझे आशा न थी। जो होना था, सो हो ही चुका, अब कृपया उन्हें बुलवाइए।"

ऋषि पतंजलि—जैसी इच्छा।"

अनंतर एक सामरिक उपमंत्री द्वारा आहूत होकर महासेनापति पुष्यमित्र भी सम्राज्ञी की सेवा में उपस्थित हो विनयावनत होकर विराजे।

सम्राज्ञी—"कहिए काकाजी! कर्तव्य-पालन के पीछे इतना पश्चात्ताप कैसा?"

पुष्यमित्र—"देवीजी! बात मुझसे न बनी। बंदी तक कर लेता, तो योग्य था, किंतु उन दुष्ट नरों के कटु वचन सुनकर और सम्राट् द्वारा भी उनका समर्थन देखकर मैं आपे से बाहर हो गया; क्योंकि भारत डूब रहा था।"

सम्राज्ञी —"बंदी करने में भाँति-भाँति की कठिनाइयाँ पड़तीं। अब इस विषय पर कथनोपकथन ही अनावश्यक हैं। जो होना था, हो गया। मनुष्य के पातक ही उसे लेकर अस्त हो जाते हैं। कर्ता तो निमित्त-मात्र होता है। जब साम्राज्य-पद की लाज न रही, तब सेवक-भाव आप कब तक चलाते ? अब भविष्य के विषय में कथन कीजिए।"

पुष्यमित्र—"वह तो अब आपके ही अधिकार में है। चलकर अपनी गद्दी पर विराजिए। साम्राज्य को युवराज क्या, सम्राट् की आवश्यकता है। क्षमा माँगकर प्रार्थना करता हूँ कि जैसे प्राचीन समय में अंबिका और अंबालिका द्वारा कुरु-कुल की रक्षा हुई थी, वही आप भी कीजिए। छोटे मुँह बड़ी बात न मानी जाय। सम्राज्ञी-पद का यह भी एक अरुचिकर धर्म है। यदि किसी भाँति न रुचे, तो दत्तक विधानादि द्वारा कोई पुत्र ले लिया जाय। स्वयं सम्राट् भरत ने यही किया था। किसी प्रकार साम्राज्य की रक्षा हो। इसी दिन के लिये मैं देवी माता को पाटलिपुत्र छोड़ने नहीं देता था। अब वही समय सम्मुख है।"

सम्राज्ञी—"क्या कह रहे हो ? काकाजी ! हाथी के दाँत बाहर निकलकर क्या फिर से मुख में पैठ सकते हैं ? मैंने चलते समय ही साम्राज्य से भी अपना संबंध-विच्छेद कर दिया था। अब वह पुनर्जीवित नहीं हो सकता। मैं तो अब एक तपस्विनी हूँ। कई वर्ष हुए, सम्राज्ञी मर गई।"

पुष्यमित्र —"ऐसी विकट आज्ञा न हो, मातेश्वरी ! यह साम्राज्य अब किसका मुख देखेगा ? राजपरिवार में सिवा आपके है ही कौन ?"

सम्राज्ञी—"यह तो मैं भी जानती हूँ, किंतु इतना आप नहीं विचारते कि मैं भी नहीं हूँ। किसी योगिनी का साम्राज्य पर क्या अधिकार है ?"

पुष्यमित्र—"विचार कर लिया जाय, देवी ! यह मेरी तृतीय प्रार्थना

है, जो अस्वीकृत हो रही है। अब इस साम्राज्य का क्या हो? मान जाइए मातेश्वरी! कुछ तो दया हो जाय। ऋषिवर पतंजलि विराजमान हैं; इन्हीं की धर्माज्ञा ले ली जाय?"

सम्राज्ञी—"अच्छा, ऋषिवर! आप ही आज्ञा दे दीजिए कि क्या मेरा विचार शास्त्रानुकूल नहीं है? केवल शास्त्र-सम्मत कथन हो।"

ऋषि पतंजलि—"शास्त्रानुसार तो आपके वचन परम शुद्ध हैं। उनमें दंश देने का मुझे अधिकार नहीं हो सकता।"

पुष्यमित्र—"मैं शास्त्र नहीं जानता, लोकानुसार कार्य हो। प्रसिद्ध मौर्य-वंश डूब रहा है, माताजी! परिस्थिति पर विचार कीजिए।"

सम्राज्ञी—"आप काका होकर बार-बार मुझे माता कह रहे हैं; अच्छा, मैं आप ही को पुत्र माने लेती हूँ। मेरी आज्ञा है कि बने तो शुंग ब्राह्मण रहिए, किंतु मेरे कृत्रिम पुत्र के रूप में सम्राट् बनिए।"

पुष्यमित्र—"देवीजी! इसमें मुझे स्वार्थपरता का दोष लगेगा। चाहे आज्ञा योग्य हो, तो भी मेरे लिये कीर्ति-विनाशिनी होगी।"

सम्राज्ञी—"मैं न तो स्वयं पाटलिपुत्र जा सकती हूँ, न कोई द्वितीय आज्ञा दूँगी। आज्ञा हो चुकी। अब जाकर आर्य बहसतिमित्र से भी मंत्र कर लीजिए। समझ लीजिए कि स्वार्थपरता के भय से आप ऋषिवर की तथा मेरी आज्ञा टाल रहे हैं।"

इस प्रकार सम्राज्ञी से आशीर्वाद पाकर उचित अभ्यर्थना के पीछे ये दोनों आर्य बहसतिमित्र की सेवा में उपस्थित हुए।

ऋषि पतंजलि—"आर्यवर! अब आप ही अपने प्रिय पुत्र को उचित शिक्षा दीजिए। समय पड़ने पर आपने ऐसा करने का इन्हें वचन भी दिया था।"

पुष्यमित्र—"कक्कूजी! इस समय मैं बड़े असमंजस में पड़ा हुआ

हूँ। भारतीय रक्षा के विचार से आवेश में आकर मैंने एक महत्कार्य कर तो डाला, किंतु अब अपकीर्ति से बचना कठिन देख रहा हूँ।"

बृहस्पतिमित्र—"मैंने ऋषिवर तथा सम्राज्ञी के कथनों पर पूर्ण विचार किया है। वर्तमान भारतीय स्थिति को भी देखकर समझता हूँ कि सिवा तेरे किसी अन्य द्वारा आज देश का निस्तार नहीं हो सकता। फिर भी जो अपयशवाला तेरा विचार है, उसमें भी बहुत कुछ सार है। मैं कोई आज्ञा तो देता नहीं, केवल मंत्र देता हूँ कि दो-चार वर्ष अभी सेनापति के ही रूप में कार्य संचालित करता जा, फिर समय पर आप-से-आप उचित निर्णय घटना-चक्र द्वारा हो जायगा।"

ऋषि पतंजलि—"यह मंत्र मुझे भी बहुत अनमोल समझ पड़ता है।"

पुष्यमित्र—"अभी आप केवल उन्हत्तर वर्षों के हैं। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि आप ही कुछ काल के लिये अस्त्र उठाएँ।"

बृहस्पतिमित्र—"इसकी न तो आवश्यकता है, न मेरी इच्छा। शास्त्र भी ऐसी आज्ञा नहीं देता। वानप्रस्थ के पीछे संन्यासाश्रम का विधान है, न कि गृहस्थाश्रम का। तेरे औदार्य की मैं फिर भी सराहना करूँगा।"

अनंतर पूज्य पिताजी से अनेक प्रकार के प्रेम-पूर्ण संभाषण करके पुष्यमित्रजी ऋषिवर के साथ पाटलिपुत्र वापस गए, और सेनापति के रूप में यथायोग्य कार्य चलाते रहे।

(ब) विदर्भ में क्रांति

सम्राट् बृहद्रथ के शरीरांत से विदर्भ-पति यज्ञसेन का कुमार अग्निमित्र से संबंध-विच्छेद होने लगा। प्रायः दस वर्षों के प्रबंध से वहाँ की सेना बहुत कुछ उन्नत हो गई थी, किंतु पुष्यमित्र का मौर्यों से जो बिगाड़ हुआ, उससे अग्निमित्र की कृपाओं को भुलाकर विदर्भ-पति ने उनसे संबंध बिगाड़

दिया। समय के साथ माधवसेन की पुत्री सौंदर्यमयी मालविका का प्रेम इनसे बढ़ गया था, और वीरसेन की भी सम्मति से उन्होंने उसका विवाह इन (अग्निमित्र) के साथ करना निश्चय किया। इस बात में दोनो पक्षों की सम्मति तो दृढ़ हो गई, किंतु राजनियमों के अनुसार बिना विदर्भ-पति की भी स्वीकृति के यह कार्य साधारणतया संपादित नहीं हो सकता था, किंतु इसकी आशा कम थी। अतएव गुप्त रूप से माधवसेन की सारी बहुमूल्य वस्तुएँ तथा संपत्ति वीरसेनवाले विदिशा के दुर्ग में भेज दी गईं, और मालविका भी वहीं चली गई। अनंतर माधवसेनजी ने विदर्भ-पति से मंत्र करने को समय माँगा, जिसके अनुसार विदर्भ-पति यज्ञसेन तथा उनके महामंत्री और सांधिविग्रहिक मंत्रणा-गृह में बैठकर इनसे बात करने लगे।

यज्ञसेन—"कहिए, दादाजी ! क्या इच्छा है ?"

माधवसेन—"देव, आजकल पाटलिपुत्र की भारी घटनाओं के कारण कई बृहदाकार भारतीय प्रश्न उठते हुए देख पड़ रहे हैं, जिनके विषय में विदर्भ की भी अंतिम सम्मति ज्ञात हो जानी चाहिए, क्योंकि अस्मदादिक को उसी के अनुसार चलना योग्य है।"

यज्ञसेन—"है तो यही बात, किंतु जब से कुमार अग्निमित्र का संबंध इस महाराज्य से जुड़ा है, तब से शनैः-शनैः आपके कुटुंब की मित्रता उनसे इतनी बढ़ चुकी है कि राजकीय निर्णयों के अनुसार इस मित्र-भाव का भी चलना कुछ कठिन दिखाई देता है।"

माधवसेन—"है तो बहुत करके ऐसा भी, किंतु प्रयत्न मुझे राजकीय निर्णयों के अनुरूप करना ही चाहिए, जिसमें किसी प्रकार से राजभक्ति में न्यूनता न आवे।"

महामंत्री—"नीति-चक्षु से तो यही बात है, राजन् ! यदि कार्यों से भी उसका निर्वाह संभव हो।"

माधवसेन—"मेरा तो विचार ऐसा है कि यदि हमारा महाराज्य

अनावश्यक शत्रुता के विचारों में न पड़े, तो मेरी राजभक्ति तथा शुंग-वंश से मित्रता में कोई वैपरीत्य न हो।"

सांधिविग्रहिक—"यह कथन नितांत सत्य है, किंतु शुंगों के अनीति-पूर्ण कार्यों पर मौर्यों को कैसा व्यवहार योग्य है, और उस पर हम लोगों की सम्मति क्या है, इसका आभास आपसे भी छिपा न होगा।"

माधवसेन—"मेरी सम्मति तो इस विषय में अभी तक ली नहीं गई है। यद्यपि ऐसा होना आवश्यक नहीं, तथापि प्रश्न भारी है, और मंत्रि-मंडल तथा कुटुंबियों के विचार सुनकर यदि देव इसका निर्णय करें, तो शायद कोई हानि न हो।"

यज्ञसेन—"इसमें क्या संदेह है ? अच्छा, आप पहले मंत्रियों से वाद कर लीजिए। मैं दोनो पक्षों के विचार सुनकर निर्णय करूँगा। यद्यपि एक प्रकार से निर्णय हो ही चुका है, तथापि अभी वह क्रियात्मक रूप में नहीं आया है।"

माधवसेन "बहुत ही योग्य आज्ञा हो रही है देव !"

महामंत्री—"तब फिर राजन्, मुझे तो ऐसा दिखता है कि शुंग-पति पुष्यमित्रजी ने बड़ा ही गर्हित काम किया, जिससे मौर्यों का साम्राज्य अस्त हो गया है।"

माधवसेन—"मौर्य-साम्राज्य तो सम्राट् बृहद्रथ की कादरता से स्वयं उन्हीं के द्वारा अस्त हुआ। शत्रु से प्रबलतर सेना रखकर भी उन्होंने युद्ध का साहस त्याग दिया। यदि पुष्यमित्र पर विश्वास शेष न था, तो किसी अन्य को महासेनापति बनाते। साम्राज्य को अस्त करके तीन चौथाई उत्तरी भारत को यवनों के लिये छोड़ देने की आज्ञा सर्वथा असमर्थ थी। उनमें वीरता के स्थान पर मानसिक नपुंसकत्व था। उनका शारीरिक पुंस्त्व केवल व्यभिचारार्थ था, वह भी नीचों के साथ। शौर्य के लिये वह सर्वथा पौरुष-हीन थे।"

महामंत्री—"फिर भी अपने स्वामी का सिर छेदन करनेवाला क्या उच्च पुरुष कहलाएगा ?"

माधवसेन—"उन्होंने पहले ही ऐसा नियम कर लिया था कि वह सम्राट् के सेवक न होकर साम्राज्य के थे, वरन् सेवा स्वीकार ही न करते थे, किंतु सम्राट् सोमशर्मन की हठ-पूर्ण आज्ञा से विवश हो गए। सम्राज्ञी महादया के सम्मुख अधिकार का त्याग कर रहे थे, किंतु उन्होंने न माना। बलख का साम्राज्य न लेकर भारतीय भक्ति का उच्चातिउच्च उदाहरण दिखलाया, तथा मगध, बंग और लौहित्य न लेकर अपनी उत्कर्ष राजभक्ति सिद्ध की। बंदी बनकर जीवन तक जोखिम में डाला, किंतु राजभक्ति न छोड़ी। सम्राट् बृहद्रथ का वध करके भी स्वयं सम्राट् न बनकर महासेनापति-मात्र हैं, तथा सम्राज्ञी से पूर्ण हठ के साथ साम्राज्य ग्रहण की बिनती करते रहे।"

महामंत्री—"सम्राट्-वध भी क्या आप योग्य समझते हैं ?"

माधवसेन—"ऐसा नीचगामी पुरुष, जो करोड़ों भारतीयों को यवनों का दास बनाने को प्रस्तुत था, प्रतिज्ञा-दौर्बल्य जिसकी ध्वजा थी, शक्ति रखते हुए जो देश को लड़ने भी नहीं देता था, और जो रूपवती, देवी-तुल्य सम्राज्ञी से एक नट-कन्या को श्रेष्ठतर समझता था, क्या देश के लिये भार-स्वरूप-मात्र न था ? उसका वध हर प्रकार से योग्य था।"

यज्ञसेन—"किंतु मौर्य-साम्राज्य भी कोई वस्तु था या नहीं ?"

माधवसेन "था सब कुछ, किंतु सारे भारत के सम्मुख वह भी नगण्य था। फिर उस साम्राज्य का हनन तो किया सम्राट् बृहद्रथ ने, न कि शुंग-पति ने। वह तो अब भी किसी योग्य सम्राट् की खोज में रहकर स्वयं सेनापति-मात्र हैं।"

यज्ञसेन—"यह तो, दादाजी ! एक माया है, माया। लोगों को ठगता फिरता है।"

माधवसेन—"अब संभवतः माया ही हो, किंतु जब उन्होंने सम्राज्ञी

महोदया को गद्दी अर्पण करके अपनी रुचि के अनुसार उत्तराधिकारी चुनने की प्रार्थना की थी, तब भी क्या माया थी ? न्याय किया जाय, देव !''

सांधिविग्रहिक—"मैं तो समझता हूँ, शुंग-पति महोदय गुप्तरीत्या अपने श्वशुर दंतिदुर्ग से मिले हुए थे, नहीं तो सम्राट का वध होते ही यवन-सेना क्यों सारा विजित देश छोड़कर मथुरा चली जाती ?''

माधवसेन—"यदि मिले ही होते, तो पाँच वर्ष घोर संग्राम करके, अपनी प्रायः पचास सहस्र सेना कटवाकर डेढ़-दो लक्ष यवन-दल का संहार क्यों कराते ?''

सांधिविग्रहिक—"फिर दंतिदुर्ग अयोध्या छोड़कर पीछे क्यों हट गया ?''

माधवसेन—"जब उसने देखा कि भारत से पश्चिमीय बल्खवाले प्रांत शाम दल ने ले ही लिए हैं, तथा इधर से शुंग-पति के अर्धासस्य चार लक्ष नवीन सेना अयोध्या में नियुक्त सेना की सहायता को पहुँचेगी, तब सिवा भागने के उसके पास युक्ति ही क्या रह गई थी। करोड़ों भारतीयों को दास-पद से मुक्त करने का यश शुंग-पति को है, अथवा एक कादर व्यक्ति के वध का अपयश ? यदि साम्राज्य छोड़कर संधि करावे, तो भी लोग कहते कि श्वशुर से मिलकर भारत को नष्ट कर दिया।''

यज्ञसेन—"मैं समझता हूँ, आप मौर्य-पराभव का कोई विचार मित्रता के आगे नहीं करते।''

माधवसेन—"तब मैं इतनी विनती और करूँगा कि देव क्या शुंगों से शत्रुता मोल लेकर विदर्भीय मौर्यों का कल्याण देखते हैं ? क्या ऐसा सोचा जाता है कि विनीत शुंग-सेना के सम्मुख अपना विदर्भीय दल छः मास भी ठहरेगा, विशेषतया ऐसी दशा में, जब कि अपना दल सेनापति अग्निमित्र से पूर्णतया अनुरक्त भी है।''

महामंत्री—"वह तो सेनापति न होकर अपने वैदर्भ बल के शिक्षकमात्र थे।''

माधवसेन—"मैं तो कोई सैनिक हूँ नहीं, किंतु दिखता मुझे ऐसा है कि इस नव शत्रुता के आरंभ में अपने कल्याण की संभावना कम है।"

यज्ञसेन—"क्या आप भी मागध सम्राट् की भाँति कादरता-पूर्ण कथन नहीं कर रहे हैं ?"

माधवसेन—"मैं तो ऐसा समझता नहीं, तथापि अंत में एक बिनती शेष है कि मेरी प्राणोपमा कन्या-रत्न मालविका का विवाह युवराज अग्निमित्र से स्थिर हो गया है। आशा है, देव इसकी स्वीकृति सहर्ष प्रदान कर देंगे।"

यज्ञसेन—"अब तो वही बात सम्मुख आ रही है कि महाराज्य के एक प्रधान शत्रु से न केवल आपकी मित्रता नहीं छूटती, वरन् वह वृद्धिंगत भी हो रही है।"

माधवसेन—"मैं तो देव की आज्ञा-पालन में सर्वथा प्रस्तुत हूँ, तथा रहूँगा, किंतु मेरा सुपुत्र वीरसेन प्रायः दस वर्षों से साम्राज्य का सेवक है, और नीति-पूर्वक उसे छोड़ भी नहीं सकता। वह अपनी स्वसा का विवाह करेगा भी। इसमें मेरा भी कहना वह न मानेगा। विचार कर लिया जाय। मैं इस नवीन शुंग-शत्रुता में कल्याण नहीं देखता।"

यज्ञसेन—"कल्याण हो अथवा नहीं, किंतु मैं आपको अब मित्र के रूप में अपना छद्म शत्रु समझता हूँ।"

माधवसेन—"ऐसी आज्ञा न हो देव! मैं इस महाराज्य का सदैव शुभ-चिंतक रहा हूँ, और यथासाध्य आगे भी रहूँगा।"

यज्ञसेन—"मैं तो ऐसा समझता नहीं। अब कृपया आप भी विदर्भ त्यागकर विदिशा के दुर्ग में अपने सुपुत्र के साथ जा विराजिए।"

माधवसेन—"क्या मंत्रिमंडल का भी यही आदेश है ?"

महामंत्री—"यही बात है, राजन्!"

माधवसेन—"अच्छा, मैं सभा और महाराजा को प्रणाम करके विदर्भ से प्रस्थान करता हूँ।"

इस प्रकार यह मंत्र-सभा भंग हुई, माधवसेन अपने अनुचरों-सहित विदिशा के दुर्ग को पधारे, तथा अपने पिता की सम्मति के अनुसार युवराज अग्निमित्र का एक आज्ञा-पत्र विदर्भ-पति को यथासमय प्राप्त हुआ कि आनेवाले शुंगों के आक्रमण से विदर्भ की रक्षा की जाय। दोनो ओर से युद्ध का संभार हुआ, तथा शुंग-सेना के आक्रमण से अति शीघ्र वैदर्भ पराजय होने लगी। जब यज्ञसेन ने देखा कि अब तो सारा देश जा रहा है, तब विवश हो संधि का प्रस्ताव किया। युवराज अग्निमित्र ने महाराजा की उपाधि के साथ आधा वैदर्भ महाराज्य माधवसेनजी को दिला दिया। दोनो भागों की सीमा वर्धा-नदी नियत हुई। अनंतर उचित धूम-धाम के साथ उनका विवाह राजकुमारी मालविका से हो गया।

(स) शाम-साम्राज्य का आक्रमण

जब सम्राट् यूक्रेटिडस ने देखा कि दंतिदुर्गवाले भारतीय आक्रमण के कारण स्वयं बल्ख का महाराज्य प्रायः चार सालों से अरक्षितप्राय दशा में पड़ा हुआ था, तब उन्होंने सम्राट् सल्यूकस का प्राचीन अधिकार उस महाराज्य पर विस्तृत करना चाहा। युवराज अपालोडोटस की सम्मति इस आरंभ में न पड़ी, क्योंकि एक तो उन्हें दोनो बृहत् यवन-शक्तियों में संघर्ष से उन दोनो का अंतिम कल्याण न समझ पड़ा, दूसरे, नदियों, पर्वतों आदि के कारण वंक्ष-प्रदेश तथा गंधार पर शाम के दीर्घकालीन दृढ़ अधिकार की संभावना तत्कालीन उन्नति के देखते हुए उन्हें अनिश्चित-सी समझ पड़ी। उन्होंने अपने ये विचार विनीत भाव से पिता के सम्मुख रक्खे भी, किंतु लोभासक्त यूक्रेटिडस की सम्मति में इनमें कोई सार न जँचा। युवराज ने आज्ञा-पालन में कोई विरोध किया नहीं, और यथासमय शाम की सेना बल्ख-महाराज्य पर आक्रमण करने लगी। बड़ी नदियों तथा भारी पर्वतों की सहायता से लघुकाय बल्ख-दल ने शामवालों का अच्छा सामना किया, किंतु शनैः-शनैः उन्नति करते हुए शामी सेना ने प्रायः एक

वर्ष में न केवल बल्ख, वरन् सफ़ेद कोह-पर्यंत देश पर अधिकार कर लिया।

(ड) दंतिदुर्ग की दशा

जब दंतिदुर्ग ने बल्ख-देश पर शाम के आक्रमण का समाचार पाया, तब वह अयोध्या से थोड़ी ही दूर पर थे। उनकी दशा उस काल साँप-छछूँदर की-सी हो गई। उन्हें यह भी निश्चय न हुआ कि समय पर वह सारी सेना वहाँ तक पहुँचा भी सकेंगे। इधर गंगयश तथा सोनयश से मामला निश्चित हो चुकने से बाहद्रथीय कादरता के भी कारण उन्हें भारतीय पराजय बहुत आशा-पूर्ण दिखने लगी थी। जब तक इस सम्राट् का संहार न हुआ था, तब तक बल्ख-पति अति शीघ्रता से आगे बढ़ने की युक्तियाँ कर रहे थे, किंतु शुंग-पति पुष्यमित्र का सैनिक प्रबंध ऐसा बढ़िया था कि शत्रु की उपर्युक्त आशा सफल न हो रही थी। अंततोगत्वा जब सम्राट् बृहद्रथ के वध से पाटलिपुत्र की शक्ति फिर से जगमगा उठी, तब दंतिदुर्ग की सारी आशाओं पर पानी पड़ गया। उधर तो भारत के पश्चिमवाला सारा बल्ख-देश जा चुका था, और इधर युद्ध चालू रखने से सिवा हतशेष तीन लक्ष सेना के कटा डालने के विजय की कोई आशा दूर से भी न दिखती थी। अतएव अपने विश्वस्त मंत्री सांधिविग्रहिक को भेजकर आपने पहले तो युवराज्ञी हेलेन से प्रार्थना कराई, और फिर स्वयं शुंग-पति पुष्यमित्र से साक्षात्कार करके मंत्री महोदय ने यों बात की—

सांधिविग्रहिक—"महासेनापतिजी! अब तो हम आपको शहंशाह हिंद कहकर पुकार सकते हैं।"

पुष्यमित्र—"ऐसा नहीं है, मंत्रिप्रवर! मैं अब भी महासेनापति-मात्र हूँ, तथापि आपको शाहे-बल्ख की ओर से जो कहना हो, अवश्य आज्ञा कीजिए। मैं अब भी उनका प्रेमी जामाता हूँ, और उन्हें अब्बाजान कहकर पुकारूँगा।"

हेलेन—"इस अम्र का सुबूत मैं खुद बैठी हुई हूँ। मैंने तो अब्बा-जान से पहले भी अर्ज़ मारूज़ की थी, मगर उस वक्त किसी की राय सायब क़ायम न हुई।"

सांधिविग्रहिक—"जो हुआ, वह हो ही चुका। शाह-बल्ख़ को न कभी जाँ कुतब हुज़ूर से खुसूमत थी, न अब है। हुज़ूर को याद होगा कि एक बार उनकी जान बनैले से बचाई गई थी। अब सल्तनत के बचाने का सवाल है। वह तो मथुरा तक तशरीफ़ ले ही जा चुके हैं। ख़याल फ़र्मा लिया जाय कि उनका यह हिंदुस्तानी हमला एक ख़्वाब था, जो आया, और चला गया, बल्कि इसी वजह से हुज़ूर को शाही-ए-हिंद हासिल हो गई है। वह तो सम्राट् से भी आप ही के लिये लड़ते थे। बहरहाल आपसे लड़ना नहीं चाहते।"

पुष्यमित्र—"मैं शाही नहीं चाहता; फिर भी इस वक्त अख़्तियार मेरे हाथ में है ही। अब अपना भारतीय आक्रमण आप लोगों ने वापस ले ही लिया है, केवल बल्ख का प्रश्न रह गया है, जिस पर मेरी दशा कुछ अभूतपूर्व है, क्योंकि मेरा अति घनिष्ठ संबंध दोनो ओर से है।"

हेलेन—"अपने दामाद अपालोडोटस तो यह हमला चाहते नहीं थे; लेकिन शहंशाह ने न माना, और मामला अब तूल पकड़ गया है। कुछ तो करना ही पड़ेगा, नहीं तो अब्बाजान की सल्तनत सिर्फ़ पंजाब और सिंध पर ही रह जायगी। बड़े ही अंदेशे का वक्त सामने है।"

पुष्यमित्र—"इस प्रश्न पर महारानी वैजयंती तो कुछ नहीं कहती हैं।"

हेलेन—"उनकी और मेरी राय पूरे तौर से मुत्तफ़िक़ है।"

सांधिविग्रहिक—"तब मैं शाहे-बल्ख़ की जानिब से दस्तबस्ता अर्ज़ करूँगा कि कुछ तो तकलीफ़ फ़र्माई जाय, नहीं तो उनकी हैसियत बिगड़ रही है। वहाँ भी जो कुछ है, हुज़ूर ही का है।"

पुष्यमित्र—"है तो तीनों साम्राज्यों में मेरा ही; क्या राम अंततोगत्वा किसी और का है ? फिर भी बात आज की सोचनी है । बीचवालों के कारण अभी तो पूरा गड़बड़ है ।"

सांधिविग्रहिक—"यही तो बात है, खुदावंद !"

पुष्यमित्र—"अच्छा, यथाशक्ति प्रयत्न करूँगा । अब मैं महाशर्मा हेलेन को मथुरा भेजता हूँ, और मैं भी ससैन्य आऊँगा । शाम मुल्क को पत्र भी जायगा । आप कृपया मेरी तत्परता का उत्तर अब्बाजान को जाकर दीजिए ।"

सांधिविग्रहिक—"बड़ी ही इनायत हुई, खुदावंद नेमत ।"

इस प्रकार वार्तालाप करके सांधिविग्रहिक महोदय प्राभृतक पाकर उचित प्रबंध के साथ मथुरा को प्रस्थित हुए । इधर शुंग-पति पुष्यमित्र ने निम्न पत्र जामाता अपालोडोटस के पास भेजा—

पाटलिपुत्र

नंद-संवत् ३२१ (B. C. १८५)

मेरे प्यारे आयुष्मान् अपालोडोटस,

शतंजीवी भव । मैंने तुम्हें तथा प्रिय कन्या को अब तक केवल प्रेमपूर्ण पत्र लिखे थे । है यह भी वैसा ही, किंतु इसमें एक राजनीतिक प्रश्न भी लगा हुआ है । तुम्हारे पिता ने बलख महाराज्य पर आक्रमण करके उसका बहुत-सा देश स्वाधीन कर लिया है । शाहे-बलख से मेरा संबंध अति घनिष्ठ है ही, जो तुम पर भली भाँति विदित है । मुझे उनकी सहायता करने को विवश किया जा रहा है । आशा है, तुम किसी प्रकार समझा-बुझाकर अपने पूज्य पिता को इस कार्य से विरत कर सकोगे, जिसमें आपस ही में बिगाड़ न हो । मैं किसी भी योग्य संधि पर अब्बाजान (शाहे-बलख) का स्वीकार शायद प्राप्त कर सकूँ । पत्रोत्तर शीघ्र देना ।

तुम्हारा अभिन्न

पुष्यमित्र

यह पत्र अपने सांधिविग्रहिक के द्वारा आपने दमिश्क को भेजवाया। युवराज अपालोडोटस ने अपने पिता को इसे दिखलाकर बहुत कुछ समझाया-बुझाया, किंतु विजय-मद से उन्मत्त उन्होंने इस संधि-प्रस्ताव का कुछ भी मान नहीं किया। तब युवराज अपालोडोटस ने इसका उत्तर निम्नांकित पत्र के साथ सांधिविग्रहिक के द्वारा भेजा—

गुप्त पत्र

दमिश्क

नंद-संवत् ३३६

जनाब अब्बाजान मद्दे ज़िल्लकुम !

बाद आदाब दस्तबस्ता के निहायत आजिज़ी के साथ अर्ज़ यह है कि मेरी ज़ाती राय में हुज़ूर का पैग़ाम निहायत मुनासिब था, मगर अब्बाजान (शाहे-शाम) उसे बिलकुल नामंज़ूर फ़र्माते हैं। मैं समझता हूँ, आपकी हिंदी व शाहे-बल्ख़ की फ़ौजें मिलकर शायद शामी फ़ौज से बल्ख़ वापस ले सकें, मगर बग़ैर ऐसा हुए, वह सुलह न करेंगे। अगर आप ऐसा करना मुनासिब तसौवर फ़र्माएँ, तो ज़ाती तरीक़े से मुझे कोई शिकायत न होगी। ज़्यादा हद्दे अदब।

फ़िदवी

अपालोडोटस

यह पत्र पाकर शुंग-पति ने शाहे-बल्ख़ से मंत्र किया, और प्रायः दो लक्ष भारतीय सेना एवं तीन लक्ष बल्खीय दल मिलाकर इन दोनो ने गांधार तथा वंक्षु-देश (अफ़ग़ानिस्तान) पर आक्रमण किया। प्रायः छ मास के युद्ध में जीतती हुई यह भारी सेना बल्ख़ के निकट तक पहुँची, तथा वह नगर घेर लिया गया। अपनी सेना पर विपत्ति देखकर यूक्रेटिडस छद्म-वेश में बल्ख़-दल में आ मिला, और डिमिट्रियसवाले शिविर के निकट इसने अपनी नियुक्ति करा ली। थोड़े ही दिनों में यह युक्ति-पूर्वक उनका वध करके और तब भाग-भूगकर किसी प्रकार

अपनी सेना में जा मिला। यह अभूतपूर्व घटना देखकर पुष्यमित्र ने बल्ख-दल को भी सँभाला, और युद्ध होता रहा। थोड़े ही दिनों में इनका अधिकार बल्ख पर भी हो गया, और दिनोंदिन सामी सेना को और भी पीछे हटना पड़ा। डिमिट्रियस के साथ स्वयं यूक्रेटिडस-कृत ऐसे धोखे का हाल सुनकर अपालोडोटस तथा पुष्पमंजरी, दोनों को अप्रसन्नता तो बहुत हुई, किंतु सम्राट् के प्रतिकूल पितृमान के कारण इन्होंने कुछ कहा नहीं।

अष्टादश परिच्छेद

बाह्य घटना चक्र

युद्ध के डेरे लगे हुए थे, किंतु संग्राम कुछ स्थगित-सा था, क्योंकि बल्ख़ पर अधिकार करके भारतीय तथा यवन-सेना उसे दृढ़ करने में विशेषतया यत्नशील थी। शाम-दल के अपने पट शिविर में विराजमान युवराज अपालोडोटस युद्ध से अवकाश पाकर पुष्पमंजरी से वार्त्तालाप करने लगे।

अपालोडोटस—"जानेमन्! आजकल न चाहते हुए भी लड़ाई में मशग़ूल रहने से इन दिनों मैं तुम्हारी ख़िदमत में कम हाज़िर हो सका हूँ।"

पुष्पमंजरी—"बड़ी कृपा हुई, जो आज ही कुछ समय निकाल सके। अब्बाजान की आज्ञा बाहर जाने के विषय में आपके पास आ ही चुकी है, तथा रथ तैयार खड़ा है। कब तब पधारना होगा?"

अपालोडोटस—"अभी तीन-चार घड़ी की देर है। कक्कूजी की जो पाँच हज़ार यवन-फ़ौज अपने पास रहती है, उसे मैं लड़ाई में तो लगाता नहीं, मगर इसकी मौजूदगी से ज़ाती तक़वियत बहुत काफ़ी रहती है।"

पुष्पमंजरी—"इसीलिये तो कक्कूजी ने उसे दिया ही था। वह क्या जानते थे कि उन्हीं के प्रतिकूल उसके व्यवहार का समय उपस्थित हो सकेगा?"

अपालोडोटस—"उनके ख़िलाफ़ मैंने उसका इस्तेमाल कब किया?

अव्वल तो वह लड़ी ही नहीं, दोयमश जो कुछ थोड़ी-बहुत मोर्चाबंदी उसके ज़रीए से हुई, वह सिर्फ़ बलख की फ़ौज के मुक़ाबिले में।"

पुष्पमंजरी—"बेचारे नाना साहब अनावश्यक लोभ में पड़कर कक्कूजी से भी एक प्रकार से लड़ गए, और फिर महाराज्य तथा जीवन, दोनो खो बैठे।"

अपालोडोटस—"महाराज्य तो तुम्हारे कक्कूजी ने उन्हें क़रीब-क़रीब वापस दिला दिया था, मगर बेचारे धोखे में काम आ गए। क्या कहें? अब्बा होकर भी हमारे शहंशाह आज़म ऐसी खुदग़रज़ी व धोखेबाज़ी तक कर जाते हैं कि शर्म से सर नीचा हो जाता है।"

पुष्पमंजरी—"तो भी अपने मुख से कुछ कहना न चाहिए; फिर भी पूज्य पिता हैं। एक बात अवश्य हुई कि जब से उस बार तुमने खुलकर बातें कीं, तब से मेरी ओर का उपद्रव शांत रहा है।"

अपालोडोटस—"इतना तो है, मगर मुझे उनकी ज़ात से पूरा इतमीनान हो नहीं सकता।"

पुष्पमंजरी—"ऐसा तो है ही; फिर भी अब तक मैं दो लड़के तुमको भेंट कर चुकी हूँ, क्या अब भी वही रूप थोड़े ही बना हुआ है?"

अपालोडोटस—"ख़ूबसूरती तो तुम्हारी, चश्मेबद्दूर, अब भी वैसी ही जगमगा रही है; मालूम पड़ता है, अभी निकाह पढ़ाए चली आ रही हो। तुम वर्ज़िश व नीज़ सफ़ाई का बहुत ख़याल रखती हो, और हकीमों की राय पर भी हमेशा चलती हो। इसी से ख़ूबसूरती इन छ बरसों में बिलकुल नहीं कम हुई है। अभी उम्र भी क्या है? सिर्फ़ २२ साल की तो हो।"

पुष्पमंजरी—"रूप-रसिक भी हो, तो ऐसा ही। कहा भी तो है कि लैला को मजनूँ की आँख से देखना चाहिए।"

अपालोडोटस—"नहीं, बात भी वैसी ही है, बल्कि तुम्हारे इंतिज़ाम

से मेरा भी खाना-पीना व रहना-सहना ऐसा बाक़ायदा है कि मेरी भी तबीयत हमेशा अच्छी रहती है।"

पुष्पमंजरी—"बड़ी कृपा; जब तक तुम्हारे विचार ऐसे बने हुए हैं, तब तक मैं अपने सम्मुख तिलोत्तमा और मंजुघोषा को भी तृणवत गिनती रहूँगी।"

अपालोडोटस—"यही तो ठीक भी है। तुम्हारे कक्कूजी भी अब क़रीब-क़रीब शहंशाह हो गए हैं। तुम्हारे मामाजी की ग़लती से उनका तो नुक़सान क्या हुआ, जान ही गई, मगर कक्कूजी के पौ-बारह हो पड़े। हालाँकि वह पहले भी क़रीब-क़रीब मालिक थे, और अपने लिये कुछ चाहते भी न थे, ताहम अब बात ही दीगर है।"

पुष्पमंजरी—"ऐसा तो है ही। ईश्वर उनका कल्याण करें। बड़े ही प्रेमी पिता हैं।"

अपालोडोटस—"देखो, मालूम होता है, हुज़ूर अब्बाजान इधर ही तशरीफ़ ला रहे हैं। वह मुझे बाहर समझते होंगे, क्योंकि हुक्म ही दे चुके हैं; मैं यहीं आड़ में छिपा जाता हूँ। देखूँ, तुमसे क्या बात करते हैं?"

पुष्पमंजरी—"किंतु हट न जाना। यद्यपि इतने दिनों के पीछे अनुचित वार्तालाप का भय नहीं होना चाहिए, तथापि मुझे घबराहट अवश्य है।"

अपालोडोटस—"डरना मत, मैं यहाँ से एक लमहे के लिये न हटूँगा। हटूँगा ओफ़ैसे? तबीयत साफ़ कहाँ है?"

अनंतर अपालोडोटस पर्दे की ओट में छिप जाता है, और थोड़ी ही देर में सम्राट् यूक्रेटिडस शिविर में मद्य-पान किए हुए पधारते हैं।

पुष्पमंजरी—"स्वागत अब्बाजान! विराजमान हों। अहोभाग्य! बहुत दिनों के पीछे आज दर्शन का पुण्य प्राप्त हुआ।"

यूक्रेटिडस—(बैठकर) "बेटी ! तू भी बैठ। (पुष्पमंजरी आसन पर कुछ दूर बैठती है।) कहो, बेटी ! तबीयत तो खुश है ?"

पुष्पमंजरी—"हुज़ूर अब्बा के आशीर्वाद से बहुत प्रसन्न हूँ। आशा है, देव भी स्वस्थ होंगे।"

यूक्रेटिडस—"हाँ, बहुत मज़े में हूँ। बेटी, देख, तू एक ज़माने से इस सल्तनते अज़ीमुश्शान की मलिका-सी हो रही है। मुझे भी बफ़ज़्ले इलाही किसी बात की कोई कमी नहीं है, मगर तरीक़ों से समझ ऐसा पड़ता है कि एक हसरत लिए हुए ही मुझे दुनिया छोड़नी पड़ेगी।"

पुष्पमंजरी—"यह बात मेरी समझ में नहीं आ रही है। ईश्वर ने मेरे अब्बाजान को किस बात की कमी रक्खी है, जो कोई प्रचंड लालसा बनी ही रहे ? हुज़ूर के सम्मुख संसार की सारी नेमतें हाथ बाँधे खड़ी हुई हैं। ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो हज़ूर को केवल एक इंगित से न प्राप्त हो जाय ?"

यूक्रेटिडस—"जानती, बेटी ! तू सब कुछ है, मगर इनायत करना तुझे मंज़ूर समझ नहीं पड़ता।"

पुष्पमंजरी—"मुझे तो ऐसा कुछ भी ज्ञात नहीं है, जो मेरे अब्बाजान को अप्राप्य हो। हाँ, केवल एक मामले में मुझे कुछ झूठा संदेह हो गया था, जिसके विषय में मैंने अपालो के द्वारा हुज़ूर से बिनती करा ली थी, और हुज़ूरेआला ने भी पूरी कृपा करते हुए तथा मेरी नासमझी बतलाते हुए भी प्रार्थना मान ली थी। उसी समय से उसका कोई आकार-प्रकार सामने न आया, और मैं बराबर पछताती रही कि मूर्खता-वश मैंने पितृतुल्य अब्बाजान पर अनावश्यक संदेह किया। इससे इतर तो कोई बात मुझे ज्ञात है नहीं।"

यूक्रेटिडस—"एक यही तो बात है, जो मुझे आज इन छ सालों से चैन की नींद नहीं सोने देती। आख़िर मेरी एक ज़रा-सी आर्ज़ू क़ुबूल

फ़र्माने में आपका क्या नुक़सान है ? कानोकान कोई जान न सकेगा कि क्या बात है, और मेरी तमन्ना पूरी हो जायगी।"

पुष्पमंजरी—"अब्बाजान की क्या आज्ञा हो रही है ? क्या मेरा पुराना संदेह असत्य न था ? हुज़ूर ने तो ज़ोर देकर आज्ञा की थी कि वह नितांत मिथ्या था।"

यूक्रेटिडस—"अब बेटी ! तू मुझे बेवक़ूफ़ क्यों बनाती है ? मान जा; देख, मैं दस्तबस्ता अर्ज़ करता हूँ। सिर्फ़ एक बार नज़रे-इनायत कर दे; बादहू क़सम खा सकता हूँ कि कभी ऐसी इल्तिजा तुझसे न करूँगा।"

पुष्पमंजरी—"अब्बाजान ! आप अब्बा होकर कैसी बातें कहते हैं ? जो बात कभी चित्त में भी लाने योग्य नहीं, उसे ज़बान पर लाते हैं। मुझमें अब कौन-सी सुंदरता शेष है ? दो पौत्र हुज़ूर को भेंट कर चुकी हूँ। हिंदुस्तान और शाम, दोनो मुल्कों में एक-से-एक सुंदरियाँ पड़ी हुई हैं। मैं तो वस्तु ही क्या हूँ ? राजा इंद्र के अखाड़े में भी उनके समान रूपवती न निकलेगी। ऐसी कई प्राप्य नवयुवतियाँ मुझे भी ज्ञात हैं। आप ही के विचार से मैंने ऐसा सोच रक्खा है। आज्ञा-भर मिलने का विलंब है, मैं तुरंत अब्बाजान की सेवा में प्रस्तुत करा सकती हूँ। विचार कर लिया जाय, कहाँ पुत्र-वधू और कहाँ उपपत्नी ! कितना अंतर है ?"

यूक्रेटिडस—"फ़र्क़ क्या है ? यह सब इंसानी क़वानीन हैं; ख़ुदा के यहाँ से तो हर ज़न व मर्द बराबर है। क्या बहू के साथ से ख़ुसुर को बेटे-बेटियाँ नहीं हो सकतीं ? इंसानी क़वानीन बनानेवाले भी थे इंसान ही। हर हालत में उनके ख़यालात की पाबंदी सब पर लाज़िम नहीं हो सकती।"

पुष्पमंजरी—"अब्बाजान ! यह मानुष आज्ञा न होकर ईश्वरीय है, नहीं तो अनुचित संसर्गों से भाँति-भाँति के रोग कुष्ट-पर्यंत क्यों होते ?

मैंने तो बिनती की कि अपने से सहस्रगुण बढ़कर कई सुंदरियाँ मैं अब्बा की भेंट करा सकती हूँ। फिर एक तुच्छ व्यक्ति के लिये इतना हठ क्यों किया जाता है? विचार कर लिया जाय कि घर ही में ऐसी बातों के होने से तलवारें चल जाती हैं। मैं एक उच्च कुल की बेटी तथा उच्चतर कुल की वधू होकर क्या पतिवंचिका बनूँ, और धर्म छोड़ूँ? सोच लिया जाय, प्रत्येक स्त्री में बात वही है। सौंदर्य केवल नेत्र का विषय है। उसे आप देख ही रहे हैं। इससे आगे जाने में किसी में क्या नवीनता है? समझ लीजिए, मैं अपना धर्म स्वप्न में भी नहीं छोड़ सकती। छ वर्षों के पीछे आज यह मामला एकाएकी उठ कैसे पड़ा, यह भी ध्यान में नहीं आता।"

यूक्रेटिडस—"इस ज़माने में मेरे सीने पर बराबर छुरी-कटारी चलती रहीं, मगर मैं तबीयत रोके रहा। कल जब से तुम्हारी नीली-पीली सारी पर वेणी लहराती देख पड़ी, तभी से तबीयत बेक़ाबू हो गई। मान जा, बेटी! ज़िद छोड़ दे।"

पुष्पमंजरी—"मेरा धर्म न जायगा, चाहे प्राण चले जायँ।"

यूक्रेटिडस—"मज़हब छोड़ने की कौन-सी बात है? तनहाई में इसका जाननेवाला कौन होगा? आफ़ताब व माहताब तक को तो पता न लगेगा।"

पुष्पमंजरी—"किंतु मैं तो जानूँगी। क्या पतिवंचिका होकर उनके सम्मुख एक बार भी जा सकूँगी? आप भारतीय आचरण को समझते क्या हैं? कहती तो हूँ कि मुझसे दसगुनी सुंदरी जितनी चाहिए, प्राप्य हैं।"

यूक्रेटिडस—"मुतादिद नाज़नीनों की बात ही क्या है, मैंने तो ऐसी परीज़ाद बानू एक भी ख़्वाब तक में नहीं देखी है, जैसी तू है। ख़ूब-सूरती की क़द्र तू क्या जाने?"

पुष्पमंजरी—"देखिए, हुज़ूरे अब्बा! आप मेरी अम्माजान हेलेन-देवी से भी विवाह करना चाहते थे, और अब मुझसे ऐसा कहते हैं। क्या यह मुनासिब है?"

यूक्रेटिडस—"हेलेन तेरे बाल बराबर तो थी नहीं। उसे मैं क्या चाहता ?"

पुष्पमंजरी—"मेरे दो बेटों की मा हो चुकने पर भी ?"

यूक्रेटिडस—"और नहीं, तो क्या ?"

पुष्पमंजरी—"देखिए, अब्बाजान ! आप मेरी नानीजान की सल्तनत ज़बरदस्ती दबाए हुए हैं, मेरे नानाजान को धोखे से मारे बैठे हैं, और अब अपने ख़ास बेटे की बीवी छीन रहे हैं। इतनी स्वार्थपरता ईश्वर से भी न देखी जायगी।"

यूक्रेटिडस—"सल्तनतें बेटी ! इसी तरह हासिल होती हैं। तेरे अब्बा ने भी तो हिंद में इसी तरह अपने मालिक को मारकर शहँशाही ली है।"

पुष्पमंजरी—"उन्होंने तो विवश होकर देश-हितार्थ ऐसा किया।"

यूक्रेटिडस—"तो मैंने भी इन्हीं वजूहात से काम किए हैं।"

पुष्पमंजरी—"फिर भी उन्होंने पुत्र-वधू मालविका पर तो निगाह न उठाई।"

यूक्रेटिडस—"देख, जानेमन् ! मैं तुझसे छीन क्या रहा हूँ ? क्या एक बार किसी के ज़रीए सूँघे जाने से गुलाब का फूल ग़ायब हो जायगा ?"

पुष्पमंजरी—"अब्बाजान ! यदि मैं एक बार भी पति-सेवा से खसने लगूँ, तो या तो धर्म-विनाशक को समाप्त कर दूँ, अथवा कटार से अपना ही गला काट डालूँ। धर्म-हीना होकर पति को मुख नहीं दिखला सकती। यह शरीर माता-पिता का था, जिन्होंने धर्म-पूर्वक सेवा करने के लिये अपालो को दे दिया। मेरे पति स्वयं आपके हैं, इसलिये मैं भी आप ही की हो चुकी। यदि आवश्यकता हो, तो यह शीश भी आप ही का है। जब चाहिए, काटकर फेंक दीजिए, किंतु धर्म मेरा ही है, वह नहीं छूट सकता।"

यूक्रेटिडस—"तुम तो जानेमन, हद से ज़ायद ज़िद करती हो। मान जा, देख, शहंशाह होकर तुझसे इल्तिजा करता हूँ।"

पुष्पमंजरी—"यदि आप संसार-भर के सम्राट् हों, तो अब्बा हैं, और यदि मार्ग के भिक्षुक हों, तो भी अब्बा हैं। अब्बा से बढ़कर कोई पद नहीं, किंतु यदि यार बनना चाहें, तो अब्बा नहीं रहेंगे।"

यूक्रेटिडस—"देख, बेटी! सिर्फ़ एक बोसे का सवाल करता हूँ, बस 'हाँ'-भर कह दे।" (आगे बढ़ता है।)

पुष्पमंजरी—"आप मेरे शव का चुंबन कर सकते हैं, किंतु सजीव पुष्पमंजरी का नहीं। (कटार दिखलाकर) दूर ही रहिएगा अब्बाजान! खता न खाइएगा।" (पीछे हटती है।)

यूक्रेटिडस—"मान जा। देख, शहंशाह शाम व बलख़ होकर तुझसे भीख माँगता हूँ। ज़िद छोड़ दे। पैरों का बोसा लेने या उन पर पेशानी रगड़ने को भी तैयार हूँ।" (और आगे बढ़ता है।)

पुष्पमंजरी—(पीछे हटकर) "अलग ही रहिएगा, अब्बाजान! इस नागिनी का स्पर्श कहीं न हो जाय। डस लूँगी। मैं भी भारतीय सम्राट् की कन्या हूँ, कोई सामान्या नहीं, जिसे साम्राज्य का लोभ दिखला रहे हैं। भला चाहिए, तो मेरे शिविर से बाहर चले जाइए, नहीं तो कुशल न होगी।"

यूक्रेटिडस—"आज तो बग़ैर हुसूले-मुराद जाता नहीं। आख़िर तू कर ही क्या सकती है? तेरी कटार की-सी छुरियाँ मैंने बहुतेरी देख डाली हैं।"

पुष्पमंजरी—"क्या न मानिएगा? अब भी चले जाइए। आकाश-कुसुम किसी ने नहीं पाया है।"

यूक्रेटिडस—"मुझे तो आज लेना है। (पुष्पमंजरी के मुख पर रूमाल डालकर हाथ से दबाते हुए) अब तू चिल्ला भी न सकेगी।"

यह सब सुन और देखकर क्रोध से काँपता हुआ अपालोडोटस निकल पड़ता है।

अपालोडोटस—"ऐ ज़लील, नालायक़ ! तलवार पकड़; तेरा सर अब कंधों पर एक लमहा भी नहीं रह सकता ।"

पुत्र को देखकर यूक्रेटिडस भागता है, किंतु अपालोडोटस दौड़कर खड्ग मारता है, जिससे उसका एक हाथ कटकर गिरता है, तथा वह स्वयं पृथ्वी पर जा पड़ता है ।

यूक्रेटिडस—"ऐ नालायक़ पिसर ! क्या तुझे इसी दिन के लिये मैंने खून-जिगर पिला-पिलाकर पाला था ? थू है तुझ पर !"

अपालोडोटस—"हाँ, इसी दिन के लिये" कहकर अपने सारथी को यों आज्ञा देता है—"मैं गाड़ी पर बैठता हूँ. तू अभी इस नालायक़ पर पहिया चला दे ।"

इतना कहकर वह गाड़ी पर जा बैठता है, सारथी आश्चर्यान्वित हो जाता है, किंतु दूसरी कठिन आज्ञा पाने से रथ चला देता है, जिसके कठोर आघातों से यूक्रेटिडस का शरीरांत हो जाता है । अब वह शव एक साधारण स्थान पर गाड़ा जाता है, और अपालोडोटस बिना किसी ओर से आपत्ति के शांति-पूर्वक सम्राट् हो जाता है ।

अनंतर वह अपना सांधिविग्रहिक मंत्री शुंग-पति पुष्यमित्र की सेवा में भेजकर प्रकट कराता है कि आगे से युद्ध बंद समझा जाय । सारा विवरण सुनकर उन्होंने दुःख मनाया, तथा डेरों में जाकर कन्या और जामाता से भेंट की । यथासमय बल्ख़ में दरबार किया गया, जिसमें पुष्यमित्र के अतिरिक्त महारानी वैजयंती, महारानी हेलेन, ऋषि पतंजलि, सम्राट् अपालोडोटस, सम्राज्ञी पुष्पमंजरी और बल्ख़ के महामंत्री तथा सांधिविग्रहिक एकत्र हुए ।

पुष्यमित्र—"महाशयो ! हम लोगों के यहाँ कई कष्टदायक मौतें हो चुकी हैं, किंतु इतनी प्रसन्नता भी है कि भारत, बल्ख़ तथा शामवाले तीनो साम्राज्यों में एक बार फिर से शांति स्थापित हो गई है । मेरा व्यवहार तीनो से एक-सा है । भारत और शाम का तो इस काल कोई

मामला हमारे सामने नहीं है, किंतु बल्ख़ का प्रश्न निर्णय किए जाने को शेष है।"

महामंत्री—"यही बात है, देव !"

पुष्यमित्र—"मैं तो यहाँ विजयार्थ आया न था, वरन् अत्याजान की सहायता को बुलाया गया था। यदि वह बने रहते, तो कोई बात ही न थी। वह स्वामी बने-बनाए थे, और जिसे अपना उत्तराधिकारी बनाते, वही बनता। अब उनकी शोक-पूर्ण मृत्यु से यह प्रश्न सामने है। इस महाराज्य के पानेवाले तीन व्यक्ति माने जा सकते हैं, अर्थात् स्वयं मैं, हेलेनदेवी तथा चिरंजीव सम्राट् अपालोडोटस। मैं तो केवल सहाय-तार्थ आया था, राज्य लेने नहीं। अतएव मेरा कोई प्रश्न सामने न समझा जाय।"

अपालोडोटस—"मेरे वालिद ने मेरी राय के ख़िलाफ़ बल्ख़ पर हमला किया था। कक्कूजी ने हुक्म सादिर फ़र्माया था कि जंग ख़त्म की जाय। इससे रज़ामंदी रखते हुए भी मैंने उस वक़्त अपनी मजबूरी ज़ाहिर की थी। अब वह मजबूरी बाक़ी नहीं है, और मैंने हस्ब हुक्म बाला जंग ख़त्म भी कर दी है। मुझे सल्तनत बल्ख़ की एक अंगुल ज़मीन नहीं चाहिए।"

पुष्पमंजरी—"शाम की ओर से निष्कारण यह युद्ध छेड़ा गया, जिससे कक्कूजी को भारी कष्ट हुआ। बल्ख़-पर्यंत इन्होंने जीत ही लिया है, और यदि युद्ध चलता, तो शेष बल्खीय देश का भी उद्धार कर लेते। यदि पूज्य हुज़ूर नानाजी होते, तो वह महाराजा बने-बनाए थे, किंतु उनके न होने की दशा में मेरी समझ में यह विचार आता है कि श्रीमती अम्माजी हेलेनदेवी युवराज्ञी थीं ही, वही महारानी हों, तथा कक्कूजी महाराजा बनें। राज्य अम्माजी का है ही।"

वैजयंतीदेवी—"धन्य बेटी ! मैं तेरी-सी पुत्री पाकर आज कृतार्थ हो गई।"

पुष्पमंजरी—"बड़ी कृपा हुई, बड़ी अम्माजी !"

हेलेन—"मैं तो बेटा ! युवराज्ञी हूँ ही, किंतु भारत छोड़कर यहाँ रह सकती नहीं; इतना ऐब है। महाराजाजी भी यहाँ रहेंगे नहीं। मेरे पुत्र अभी बच्चे हैं। सम्राट् अपालोडोटस भी गोया मेरा ही बेटा है। बल्ख़ की रियाया इन सबमें से जिसे पसंद करे, वही हुक्मराँ हो सकता है।"

पुष्यमित्र—"यही सब समझकर मैंने पहले ही से बल्खीय महामंत्री तथा सांधिविग्रहिक और ऋषिवर पतंजलि से पौर जानपद का आशय ज्ञात करने को कह रक्खा था। अब उनके भी विचार सुन लिए जायँ।"

महामंत्री—"यहाँ के पौर जानपद तो सबसे पहले महाराजा पुष्यमित्र को शासक चुनना चाहते हैं, किंतु प्रार्थना करते हैं कि आप यहीं विराजें। उन्हीं के साथ युवराज्ञी हेलेन भी महारानी होंगी ही।"

पुष्यमित्र—"हम दोनो भारत में बैठकर तो शासन कर सकते हैं, परंतु यहाँ रहकर नहीं।"

ऋषि पतंजलि—"ऐसी दशा में पौर जानपद का यह कथन है कि सम्राट् अपालोडोटस यहाँ के भी शासक हों, किंतु प्रायः पचास करोड़ रजत-पण का जो राजकोष है, वह देव पुष्यमित्र तथा देवी हेलेन को मिले। सम्राट् अपालोडोटस ने महाराजा डिमिट्रियस के हंता अपने पिता तक को कठोर दंड जो दिया है, उसी कारण सारे पौर जानपद इनसे बहुत प्रसन्न हैं।"

अपालोडोटस—"मैं तो यह सल्तनत लेना चाहता नहीं। इसमें कक्फूजी और हेलेनदेवी के साथ बेईमानी है। अपना फ़तेह किया हुआ मुल्क आप क्यों वापस करें ?"

पुष्यमित्र—"बेटा ! तुम्हारा ऐसा ही कहना शोभा देता है, किंतु जब हम लोगों ने यह निर्णय स्वयं बल्खीय पौर जानपद पर छोड़ दिया, और उन्होंने अपना मत भरी सभा में प्रकट करा दिया, तब उसका

मान आवश्यक है। मैं यह भी प्रकाशित किए देता हूँ कि महाराजा डिमित्रियस का राज्य यमुना-पर्यंत था, और मैंने दो प्रांत उनसे दायज में पाए थे, जिनमें से एक चिरंजीव अपालोडोटस को विवाह के समय दे भी दिया था। जब बल्ख़ का राज्य इनका हो चुका, और केवल एक प्रांत का दायज इनकी तथा मेरी वर्तमान स्थिति के योग्य भी नहीं है, तथा मैं कन्या के धान्य में से कुछ ले भी नहीं सकता, अतएव यमुना के पाश्चात्य कूल-पर्यंत हेलेनदेवी की सम्मति से सारा अदबाजान का देश मैं इन्हीं के लिये छोड़ता हूँ, केवल मथुरा में मेरा स्थान यथावत् स्थापित रहेगा। बल्ख़ का कोष लेने में मुझे कोई आपत्ति नहीं। मेरी सेना ने जो कठिन परिश्रम किया तथा क्षति उठाई है, उसके लिये बहुत-सा व्यय यों भी होता, जिसके अर्थ मैं पाटलिपुत्र के कोष को उत्तरदायी नहीं समझता। जो इससे बचेगा, वह सेना के ही प्रबंध में व्यय होगा।"

पुष्पमंजरी—"कोष तो, कक्कूजी! आपका है ही, क्योंकि उसे आप अम्माजीवाले अधिकार के अतिरिक्त जीत भी चुके हैं। रहा दायज, जिसके विषय में एक कौड़ी से लेकर किसी भी दान के लिये कन्या का अधिकार नाहीं करने का नहीं है। फिर भी बल्ख़-राज्य के विषय में मैं फिर से विचार होने की प्रार्थना करती हूँ। दान के लिये भी इतना कहना होता ही है कि उसका इस काल कोई अवसर नहीं है।"

अपालोडोटस—"यही बात है, कक्कूजी! दायज भी जो देना था, आप दे चुके। इस वक़्त तो उसका सवाल उठना न चाहिए। ताहम बाप-बेटी के दर्मियान मैं रायज़नी करनेवाला कोई नहीं हूँ। रही सल्तनते-बल्ख़, उसके बाबत फिर ग़ौर मुनासिब है। अब इस वक़्त दरबार बरख़ास्त फ़र्माया जाय, ऐसी मेरी अर्ज़ है। बाद ग़ौर मज़ीद मामला तय हो जायगा।"

अनंतर सर्व-सम्मति से सभा भंग हुई, और शुंग-पति से समय माँगकर बल्ख़ीय विद्यापीठ के प्राचीन आचार्य इनकी सेवा में यथाकाल उपस्थित

हुए। विद्याध्ययन के दिनों उनका जैसा मान करते थे, वैसा ही आज भी करके आपने उन्हें यथायोग्य आसन देकर वार्तालाप आरंभ किया—

पुष्यमित्र—"कहिए, आचार्य महोदय! बहुत वर्षों के पीछे आज आपने दर्शन दिए।"

आचार्य—"देव! मैं दूसरी हैसियत से आपको यहाँ देखकर अज़हद महज़ूज़ हूँ, और तहे दिल से मुबारकबादी देता हूँ। खुदा हुज़ूर को ताअबद शाद रक्खे।"

पुष्यमित्र—"आचार्य महोदय! यह आप कैसी बात फ़रमाते हैं? जैसे बेटा कहकर पहले कृपा करते थे, वही योग्य है। आपके लिये मैं अब भी वही दयाकांक्षी विद्यार्थी हूँ। आप ही की कृपा से जो कुछ योग्यता प्राप्त हुई थी, उसी से पदोन्नति हुई है।"

आचार्य—"बेटा! तेरी ऐसी सआादतमंदी से मैं और भी महज़ूज़ हूँ। लियाक़त इसी का नाम है। आज एक खास बात के लिये भी लोगों ने मजबूर करके मुझे आपके पास भेजा है।"

पुष्यमित्र—"आज्ञा हो, क्या आवश्यकता पड़ी, जिससे आपको कष्ट उठाना पड़ा?"

आचार्य—"बेटा! तू अपनी सल्तनत क्यों नहीं मंज़ूर करता? तेरी तो है ही।"

पुष्यमित्र—"आचार्य महोदय! मुझे वह काटती थोड़े ही है, किंतु करूँ, तो क्या करूँ? मैं पुरानी दरिद्रावस्था में भी बलख-राज्य के लिये भारत नहीं छोड़ना चाहता था, अब तो यहाँ भी मेरी बात ही और है। यहाँ रहकर यदि बलख़ पर शासन करूँ, तो यहाँवालों को सह्य नहीं होगा। हेलेनदेवी मेरा साथ छोड़कर वहाँ अकेली रहना नहीं चाहतीं। हो, तो क्या हो?"

आचार्य—"अगर आप किसी तरीक़े से यहाँवालों की इल्तिजा मंज़ूर कर सकते, तो हम लोगों को भी अज़हद राहत हासिल होती।"

पुष्यमित्र—"ऐसा तो प्रकट ही है, किंतु भारतीय जनता भी बल्ख़ में बैठकर मेरा शासन स्वीकार न करेगी। बड़े धर्मसंकट का प्रश्न है।"

आचार्य—"सख़्त अफ़सोस का मौक़ा है। अच्छा, आप इस्तेमाले असलहा व मीज़ वर्ज़िश की अपनी पुरानी आदत क़ायम तो रक्खे हुए होंगे?"

पुष्यमित्र—"इसमें धोखा नहीं होता। आशा है, इन इक्कीस वर्षों में आपका समय प्रसन्नता-पूर्वक बीता होगा।"

आचार्य—ज़रूर, मैं निहायत आराम से रहा हूँ, हालाँकि अब ज़ईफ़ हो रहा हूँ।"

पुष्यमित्र—"ऐसे तो दिन ही हैं, फिर भी अभी आप मज़बूत हैं। (एक लक्ष का हार निकालकर आचार्य को भेंट करते हुए) पूज्य आचार्यजी! अब आप यह तुच्छ भेंट स्वीकार कर लीजिए।"

आचार्य—"बेटा! इसकी क्या ज़रूरत है? तेरी मेहरबानी ही क्या कम है?"

पुष्यमित्र—"फिर भी इस अवसर पर शून्य भाव देखने में भी अच्छा नहीं लगता।"

आचार्य—(हार लेकर) "मुझे इनकार करने का हक़ भी क्या है? बेटा! तेरे हाथ से जो भी मिले, मुझे हज़म है हाँ।"

पुष्यमित्र—"बड़ी कृपा आचार्य-श्रेष्ठ!"

अनंतर आचार्य महोदय अपने स्थान को पधारे। बल्ख़ के पौर जानपद ने पुष्यमित्र को हृदय से धन्यवाद दिया। सम्राट् अपालोडोटस ने अपने देश के एक उच्चपदस्थ राजपुरुष हाईपरबेटूस को बल्ख़-महाराज्य का उपरिक नियत किया। वह सम्राट् के आज्ञानुसार यहाँ का कार्य चलाने लगा। अनंतर भारतीय सेना तो देश को चली आई, किंतु सम्राट् अपालोडोटस तथा पुष्पमंजरी के विशेष हठ के कारण ऋषिवर

पतंजलि को साथ लेकर शुंग-पति पुष्यमित्रजी शाम-साम्राज्य का परिभ्रमण करने को उधर चले गए, तथा छ मास के भीतर घूम-घामकर, दौहित्रों को जी-भर खेलाकर, पुत्री और जामाता को आशीर्वाद देकर एवं देश की पूरी सैर तथा मृगयादि का सुख प्राप्त करके भारत पलट आए।

एकोनविंशति परिच्छेद

वृद्धि

(अ) साम्राज्य-स्थापन

महासेनापति के रूप में शुंग-पति पुष्यमित्र चार वर्ष-पर्यंत इसी प्रकार काम चलाते रहे। इतने दिनों में बौद्धों पर कोई अत्याचार तो हुआ नहीं, किंतु इनके सनातन-धर्मी होने से शनैः-शनैः उनका बढ़ा हुआ अनुचित सत्कार स्वतः बंद-सा हो गया, तथा सनातन-धर्म की चिरकाल से मुरझाई हुई ध्वजा फिर से ऊँची हुई। बौद्धों के लिये न्यूनाधिक राजमान भी शेष रहा, यहाँ तक कि भारहुति में, धन-भूति की अध्यक्षता में, उनके लिये तोरणादि शिला भी बनवाए गए। जो बहुतेरे बौद्ध राजकोष-मात्र से उदर-पालन करते थे, उनकी यह जीविका समाप्त हो गई, तथा वे यत्र-तत्र भाग निकले। देश में यज्ञों आदि का भी चलन बढ़ा। धीरे-धीरे सब पर प्रकट होने लगा कि केवल महासेनापति कहा जाना महाराजा पुष्यमित्र की स्थिति के लिये अयोग्य हो गया था, और सर्व-सम्मति से आपने सम्राट् की पदवी ग्रहण की। इनका साम्राज्य पूर्व में बंगाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम में यमुना-नदी तक था, तथा दक्षिण में नर्मदा-पर्यंत। प्रायः १५ वर्षों तक इनका राज्य निर्विघ्न चलता रहा, किंतु उस वर्ष नर्मदा के भी दक्षिण कृष्णा नदी-पर्यंत उसे विस्तीर्ण करने के प्रयत्न में प्रायः समग्र सेना उधर लगा दी गई। मूल को निरापद् समझकर इन्होंने वहाँ स्वल्प मात्रा में सेना रक्खी, जो दशा सुन-कर प्राचीन शत्रुता के विचार से कालिंग खारवेल नंद-संवत् ३४३ (१७०

ई० पू०) में इन पर चढ़ दौड़ा । इसकी सहायता यज्ञसेन वैदर्भ तथा शुंगों के अशुभकांक्षी बौद्धों ने भी की । पुष्यमित्र के राज्य की पाटलिपुत्र, अयोध्या तथा विदिशा राजधानियाँ थीं, किंतु निर्बलावस्था में इन्हें मथुरा की ओर भागना पड़ा । अनंतर सेना का समुचित प्रबंध करके आपने खारवेल और इतर शत्रुओं को फिर पूर्ण पराजय दी, तथा समस्त राज्य में फिर से प्रभाव स्थापित किया, अथच खारवेल का भी आधा राज्य छीनकर उसे ऐसा दबा दिया कि पीछे वह कभी प्रबल न पड़ सका । दस वर्ष और निर्विघ्न बीत गए, किंतु इतने समय में बलख़ का प्रबंध शाम से बहुत कुछ स्वतंत्र हो गया । इस वर्ष प्राचीन उपरिक के देहावसान से उसका पुत्र मिनैंडर अपालोडोटस द्वारा उपरिक नियत हुआ, किंतु अति शीघ्र यह महाराजा कहलाने लगा, तथा बलख़ और शाकल में इसकी राजधानियाँ हुईं ।

(ब) मिनैंडर

मिनैंडर उपनाम मिलिंद का नाम तथा वर्णन बौद्ध-ग्रंथों में बहुतायत से है । 'मिलिंद के प्रश्न' नाम की एक पुस्तक है, जो प्रथम शताब्दीवाले बुद्ध-घोष से प्राचीनतर है । मिलिंद का जन्म अलसंद (Alexandria) जन-स्थान के कनसी-ग्राम में हुआ था । मिलिंद विद्या-व्यसनी, वेद-पुराण, दर्शन आदि में अभ्यस्त, तर्क में अजेयप्राय, न्यायी और जन-प्रिय कहा जाता था । राज्य उसका काबुल से काश्मीर तथा मथुरा के निकट तक था । उसके २२ सुंदर सिक्के मिले हैं, जिनमें से कुछ में वह तरुण है, और कुछ में अत्यंत वृद्ध । राजधानी उसकी सागल कही गई है, यद्यपि थी विशेषतया बलख़ । सागल यवन-व्यवसाय का केंद्र एक उत्तम नगर, नदी तथा पर्वतों से भी सुशोभित था । वह आराम, उद्यान, तड़ाग, उपवन, पुष्करिणी आदि से संपन्न तथा नदी-पर्वत और वन से रमणीय कहा गया है । सिंहपौर विशाल और सुंदर था । खाईं और पीत प्राकार से घिरा हुआ था, तथा उसके सड़क, आँगन और चौराहे

सुव्यवस्थित थे। उसमें दानशालाएँ थीं, तथा हाथी, घोड़े, रथ, पैदल आदि से चहल-पहल रहती थी। वह विद्वानों का केंद्र था, जहाँ क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, श्रमण, गणाचार्यादि रहते थे। काशी, कोटुंबर आदि स्थानों के बने हुए कपड़ों की बड़ी-बड़ी दूकानें थीं, अथच फूल और सुगंधित द्रव्यों की भी। शृंगार-वणिकों की भी दूकानें थीं, तथा रत्न भरे पड़े थे। कार्षापण, चाँदी, सोना, काँसा, पत्थर आदि, सभी से वह परिपूर्ण था।

खाद्य, भोज्य, पेयादि पदार्थों की रेल-पेल थी। यह उत्तर कुरुसा उपजाऊ तथा अलकनंदा और देवपुर-सा संपन्न था। मिलिंद स्वयं पंडित, चतुर, बुद्धिमान् और योग्य था, तथा सावधान भी। चारो वेद, सभी पुराण, युद्ध-शिक्षा तथा वाद में अद्वितीय एवं अजेयप्राय कहा गया है। वह वाद-प्रिय, महासंपत्तिशाली और उन्नतिशील कहलाया है। पूरण कस्यप और मक्खलि गोसाल को वाद में पराजित कर चुका था। उसकी बड़ी प्रबल अभिलाषा थी कि वाद के योग्य कोई पंडित मिले। अंत में भदंत नागसेन उसे मिले, जिनका शिष्यत्व उसने ग्रहण किया। वह कंगल ग्राम-निवासी सोनुत्तर ब्राह्मण के पुत्र थे, अथच ब्राह्मण-कुल की शिक्षाएँ तीनो वेद तथा दूसरे शिल्प की पा चुके थे, और व्याकरण, लोकायत, महापुरुष लक्षण-शास्त्र प्राप्त कर चुके थे, किंतु इतने से संतुष्ट न होकर पाटलिपुत्र-निवासी धर्मरक्षित बौद्ध पंडित के शिष्य हुए।

अनंतर धर्म-पूर्वक अथच शांति से रहने को प्रव्राजित हुए। विद्या प्राप्त करके आप सम्मेलन-गृह में बैठते थे। वहीं जाकर मिलिंद ने इन्हें शाकल को निमंत्रित किया। इन्होंने बौद्ध मत की कई शिक्षाएँ उन्हें दीं, जिनमें कुछ इस प्रकार थीं। इस विवरण से मिलिंद तथा तत्कालीन बौद्ध-मत के विचारों का दिग्दर्शन होता है। नाम-व्यवहार करने को संज्ञा-भर है। कोई एक पुरुष आत्मा नहीं है। व्यवहारार्थ जैसा रथ शब्द है, वैसा ही नाम। जैसा अवयवों के आधार पर रथ है, वैसा ही स्कंधों के होने से नाम है। नया दुःख उत्पन्न न होना परमोद्देश्य है, जिससे परम निर्वाण मिलता है,

तथा आसक्ति से जन्म ग्रहण होता है। अच्छे धर्मों का आधार होना शील है। स्मृति कुशल-अकुशल को याद दिलाती है। प्रवाह का प्रयोजन है एक अवस्था का लय होना और द्वितीय की उसी से उत्पत्ति। ज्ञान और प्रज्ञा एक ही हैं। अर्हत को शारीरिक से इतर मानस-वेदनाएँ नहीं होतीं। उसे न जीने की आकांक्षा है न मरण का भय। जन्म-ग्रहण नाम और रूप का होता है, आत्मा का नहीं। नाम सूक्ष्म है और रूप स्थूल। आपस में दोनों आश्रित हैं। काल का आरंभ अज्ञात है। वेदना की पहचान अनुभव से है। जन्म केवल दुःख-मूलक है। सभी देहधारी अपने कार्यों के स्वामी आप ही हैं। जो कुछ करना शेष है, उसे पूरा करने का प्रयत्न किया जा सकता है। पूर्व-जन्म के कार्यों का फल आप ही होता है। इस नाम-रूप द्वारा पाप करने से दूसरा नाम-रूप मिलता है, जो मुक्ति से दूर है। निर्वाण के पीछे व्यक्तित्व का सर्वथा लोप है। रात का पहला याम बीतने तथा बिचले के आरंभ से मिलिंद के यहाँ भांडार से वस्तुएँ दानार्थ लाई जाती थीं। वह कहता है, उसके शत्रु बहुत हैं। 'मिलिंद-प्रश्न-ग्रंथ' में षट् मुख्य राजमंत्रियों का कथन है, और यह कहा गया है कि कोई भदंत वहीं धर्मोपदेश करने के पीछे वहाँ भोजन न करे। प्रयोजन यह कि पहले भोजनादि से निवृत्त होकर उपदेश देना योग्य है। इस ग्रंथ के अनुसार उस काल ब्राह्मणों का पद क्षत्रियों तथा राजकुमारों से भी उच्चतर था। 'मिलिंद-प्रश्न-ग्रंथ' का आदिम भाग न्यूनाधिक दार्शनिक है, किंतु जहाँ से मेंडक-प्रश्न आरंभ होता है, वहाँ से उसमें नवीन जोड़ समझ पड़ता है, जो अत्यंत विश्वासात्मक तथा असंभवनीयताओं से भरा हुआ है।

नंद-संवत् ३२७ (१६० ई० पू०) से मिलिंद बलख़ में शासक हुआ, तथा इसके पाँच वर्ष पीछे वह आक्रमणार्थ भारत आकर दो वर्ष-पर्यंत यहाँ रहा। अनंतर (१५३ ई० पू० में) उसे काबुल पलटना पड़ा, क्योंकि उधर भी आक्रमण हो गया था। इसका राजत्व-काल २० वर्षों का (१४० ई० पू०-पर्यंत) लिखा हुआ है। अपनी भारतीय स्थिति

में ही यह बौद्ध विचारों से प्रभावित हुआ था। समझ पड़ता है, बौद्धों के ही प्रभाव से इसने शुंग-साम्राज्य के प्रतिकूल शत्रुता का व्यवहार करके अपना प्रसिद्ध भारतीय आक्रमण (१५९ ई० पू० में) प्रारंभ किया, अथच सुराष्ट्र और दक्षिणी सिंध का पाश्चात्य भाग जीता, तथा मध्यमिका और साकेत घेरे। मध्यमिका चित्तौर के निकट है। जो युद्ध-नीति पुष्यमित्र ने दंतिदुर्ग के प्रतिकूल बर्ती थी, वही मिलिंद पर भी चलाई। वह इस यवन सेना से लड़ते हुए पूर्व की ओर हटते रहे, जिससे इनकी सैनिक हानि तो न्यून रही, किंतु यवनों की बहुत विशेष। फलतः मिलिंद ससैन पाटलिपुत्र तक पहुँचा, जहाँ प्रचंड आक्रमण करके पुष्यमित्र ने इसे पूर्ण पराजय दे दी। किसी भारतीय नेता ने यवनों को ऐसी पूर्ण पराजय कभी न दी थी, जैसी दो बार पुष्यमित्र ने दी। अनंतर आगे बढ़कर आपने जालंधर और शाकल पर भी अधिकार फैलाया, अथच इन प्रांतों तक पूरा उत्तरीय भारत इनके राज्य में आ गया। इस हार के पीछे मिलिंद भारत में कभी न आया, यद्यपि पाश्चात्य भारतीय कुछ प्रांत उसके अधिकार में रहे।

(स) अश्वमेध और भारतीय ऐतिहासिक दशा

अब सारे उत्तरी भारत पर शुंग-साम्राज्य निर्विघ्न रूप से दृढ़ता-पूर्वक स्थापित हो गया, तथा दाक्षिणात्य प्रदेशों में भी इनका सामना करनेवाला कोई रह न गया। अपने स्वामी तथा मित्र का ऐसा विभव देखकर महर्षि पतंजलि ने इसके द्वारा अश्वमेध का होना ठीक समझा, जिससे इनका सम्राट्-पद पूर्णरूपेण स्थापित हो जाय। इस समय तक युवराज अग्निमित्र का कनिष्ठ राजकुमार वसुमित्र भी बड़ा ही प्रवीण सामरिक नेता हो चुका था। उसका शिक्षण स्वयं पुष्यमित्र ने करके उसे अपना सारा रण-कौशल अवगत करा दिया था। अब उसी नवयुवक के नेतृत्व में यज्ञाश्व छोड़ा गया, तथा एक प्रचंड सेना शत्रुओं के दमनार्थ चली। किसी भारतीय नरेश को इतना साहस न हुआ कि यज्ञाश्व पकड़कर युद्ध करता। अनंतर बुंदेलखंड तथा राजपूताना के बीच में सिंधु-नदी के

दक्षिणी कूल पर कुछ यवनों ने वसुमित्र की सेना से प्रचंड संग्राम किया, किंतु वे पराजित हो गए। यह वही यवन-दल था, जो मध्यमिका घेरने को आया था। सारे ब्राह्मणों तथा हिंदुओं को बहुत दिनों के पीछे होनेवाले इस महायज्ञ से भारी आह्लाद प्राप्त हुआ। महर्षि पतंजलि ने यह यज्ञ कराया, जिससे उन्हें भी इतनी प्रसन्नता प्राप्त हुई कि अपने महाभाष्य के एक उदाहरण में इस घटना का भी इन्होंने कथन कर दिया। इसी कथन से ऐतिहासिकों को पहलेपहल पुष्यमित्र की तत्कालीन सत्ता का विवरण ज्ञात हुआ। किसी कारण से अग्निमित्र अपने पिता से अप्रसन्न हो गए थे। इस महायज्ञ में जब वह पाटलिपुत्र पधारे, तब विगतरोषमना उनके जाने का कथन है, जिससे प्रकट है कि पिता-पुत्र में फिर से मैत्री स्थापित हो गई थी। इस सम्राट् ने दो अश्वमेध किए।

दूसरे यज्ञ में इनके चारो दौहित्रों के साथ सम्राट् अपालोडोटस तथा सम्राज्ञी पुष्पमंजरी भी पधारी थीं, तथा इन सबों ने यज्ञ में भाग लिया था। अनंतर सम्राज्ञी वैजयंती, सम्राज्ञी हेलेन, सम्राट् पुष्यमित्र, सम्राज्ञी पुष्पमंजरी तथा सम्राट् अपालोडोटस में बातें भी होने लगीं।

पुष्यमित्र—"बेटा अपालो! अब तुमको वैवाहिक दायज में पाए हुए अपने दोनो पंजाबी प्रांत फिर ले लेने चाहिए।"

अपालोडोटस—"कक्कूजी! मैंने पहले ही अर्ज़ की थी कि वे मुझे न बख़्शे जायँ, लेकिन हुज़ूर ने न माना था। फिर भी मेरे रक्खे वे कब रहे, और आपको मिनैंडर से उन्हें जीतना पड़ा कि नहीं? अगर फिर दीजिएगा, तो अब भी वही हालत होगी। आपने तो जहेज़ में उन्हें दे ही दिया था, लेकिन जब बवजेह फ़ासले के दुश्मन ने मुझसे छीन लिया, तब फिर आपको उन्हें फ़तेह करना पड़ा। पहले ही देना ठीक न था।"

वैजयंती—"उस समय तो इन्हें समझ पड़ा कि जब कन्या ने बलख का राज्य पाया, तब उसी के अंग ये दोनो प्रांत एक प्रकार कन्या के धान्य हो गए, जिन्हें हम कैसे रख सकते थे?"

पुष्पमंजरी—"अब तो, अम्माजी ! वह बात है नहीं । प्रांत तो छोटी अम्माजी के थे, और अब भी उन्हीं के पास हैं, तथा रहने चाहिए ।"

हेलेन—"अच्छा, बेटी ! अपने दोनों भाइयों को अब मेरे पास क्यों नहीं भेजती ?"

पुष्पमंजरी—"अम्माजी ! मेरा एक भाई आपके साथ है ही, अब उन्हें वहीं रहने दीजिए । उधर के कई प्रांतों पर उनके प्रबंध बहुत अच्छे हैं । महाराज्य भी पा चुके हैं । अब तो वे वहीं के शाह हैं ।"

अपालोडोटस—"सल्तनत का इंतिज़ाम भी उनकी मदद से बहुत अच्छा चल रहा है । अब अम्माजी, उन्हें वहीं रहने दीजिए । आपके पास यहाँ चार शाहज़ादे हैं ही । जब चाहिए, उन्हें वहीं देख आइए, या महीने-दो महीनों के लिये इधर बुलवा लिया कीजिए । वहाँ वे ख़ुश भी रहते हैं ।"

पुष्यमित्र—"जहाँ बेटा, तुम और पुष्पा प्रस्तुत हैं, वहाँ वे प्रसन्न क्यों न रहेंगे ?"

अपालोडोटस—"अगर हो सका, तो उन्हें बल्ख़ का बादशाह बना दूँगा ।"

अनंतर कुछ काल बहुत प्रसन्नता-पूर्वक भारत की सैर करके ये सब लोग सीरिया वापस चले गए ।

सम्राट् पुष्यमित्र ने ३६ वर्ष सुख-पूर्वक राज्य करके राजकीय प्रबंध सदैव दृढ़ रक्खा । साम्राज्य प्राप्त करने के पूर्व भी १८ वर्ष इन्होंने भारतीय सैनिक प्रबंध दृढ़ रखकर देश में शांति-स्थापन तथा भारतीय स्वत्व-रक्षण को परमोन्नत किया था । योरपीय शक्ति को भारत में एक इसी महापुरुष ने विमर्दित किया, और सारे देश का यश विस्तीर्ण करके उसे परमोच्च श्रेणी पर पहुँचाया । इनके प्रबंध और प्रताप द्वारा संस्थापित शुंग-साम्राज्य ११२ वर्ष-पर्यंत दृढ़ और सबल रहा, जिसके पीछे यहाँ काण्व साम्राज्य स्थापित हुआ । शुंग और गुप्त-साम्राज्यों के

बीच में यहाँ आंध्र, कुशान, नाग और वाकाटक-साम्राज्य समय-समय पर स्थापित हुए, जिनके ऐतिहासिक विवरण अब ज्ञात हो चुके हैं। गुप्त-काल के आगे-पीछे भारतीय प्रधान सम्राटों में चंद्रगुप्त मौर्य, बिंदुसार, अशोक, पुष्यमित्र, कनिष्क, प्रवरसेन, समुद्रगुप्त, चंद्रगुप्त विक्रमादित्य, स्कंदगुप्त, ईशानवर्मन तथा हर्षवर्द्धन की गणना है।

शुंगकालीन कुछ असाधारण शब्दों के अर्थ

शब्द	अर्थ
अग्रहारिक	दानाध्यक्ष
अधिष्ठान	विषय (ज़िला) का मुख्य नगर
अलिकसुंदर	सिकंदर, अलेक्ज़ेंडर
अलिंद	छतदार छज्जा
अवभृथ-स्नान	स्नातक-पद-प्राप्ति
अर्थ पटलाधिकृत	अर्थ-मंत्री
अंक	मुहर
अंगुलीयक	अँगूठी
आयुक्तक	विषयपति, ज़िलाधीश
उत्तरीय	दुपट्टा
उपरिक	गवर्नर
कटुक	गज-दल का मुख्य अफ़सर
कर्मकार	कहार
कहापन	कार्षापण, ताँबे का सिक्का
कक्ष	कमरा
कायस्थ	लेखक
कुलिक	प्रथम कारीगर
कुल्या	नहर
कूर्पासक	अँगिया, अंशुक
गवाक्ष	झरोखा

शब्द	अर्थ
गोप्ता	गवर्नर, उपरिक
गौल्मिक	जंगल का प्रबंधक
चतुष्क	बुर्ज
चमूप	सेना की छोटी टुकड़ी का अफ़सर
चर	दूत, खुफ़िया पुलीस
चाट	निम्न दर्जे का चर
चाटुकारिता	खुशामद
चौरोद्धरणिक	चोर पकड़नेवाला
छिद्र	प्रबंध में भेद
जनपद	गाँव, देहात
जानपद	ग्रामीण प्रजा
तलवाटक	पटवारी
तारहार	बहुमूल्य माल
तृचीवर	बौद्ध भिक्षुओं के ३ कपड़े
दंडपाश	पुलीस
दंडपाशाधिकरण	पुलीस का सबसे ऊँचा अफ़सर
दंडपाशिक	पुलीसमैन
दूत	खुफ़िया पुलीस
देश	प्रांत
धर्मासन	मंत्रियों का कार्यासन
नगरश्रेष्ठी	सेठ
निगम-संचालक	बैंक-एजेंट
निम्नदुकूल	धोती
निष्क	बहुमूल्य माल
पण्यवीथी	चौक, दूकानों के बीच की सड़क

शब्द	अर्थ
पुष्कर	मृदंग
पुष्पलावी	माली
पौर	नागरिक प्रजा
प्रताप	राजनीतिक स्वत्व
प्रतिनर्तक	नक़ीब
प्रथम कायस्थ	चीफ़ सिकत्तर
प्रमद्वन	नज़रबाग़, महल की फुलवारी
प्रसर	राज्य का फैलाव
प्रसाधक	शृंगारकर्ता सेवक
प्राड्विवाक	वकील
प्राभृतक	ख़रीता
भक्ति	तिलकादि
भट	खुफ़िया पुलीसमैन
भटाश्वपति	रिसाले का अफ़सर
भुक्ति	प्रांत, जागीर
महत्तर	मुखिया
महादंडनायक	चीफ़ जस्टिस
महाराजा	किसी का अधीन राजा
मुक्ताजाल	मोती-युक्त केशाच्छादन
मुखालिंद	फाटक पर का छतदार छज्जा
रत्नजाल	रत्न-जटित केशाच्छादन
रसना	घुँघुरूदार करधनी
लोकतंत्र	राज्य-प्रबंध, गवर्नमेंट
विनीत सेना	शिक्षित फ़ौज
विशेषक	कपोलों पर सुगंधित चित्रकारी

शब्द	अर्थ
वेणु	वंशी
वेष्टन	पगड़ी
वंक्षु प्रदेश	अफ़ग़ानिस्तान
व्यवहारासन	धर्मासन
शासन	फ़रमान
शौल्किक	चुंगी का अफ़सर
सार्थवाह	प्रथम व्यापारी
सांधिविग्रहिक	पर-राष्ट्र-सचिव
सेतु	सिंचाई
सेनापति	खंड सेना का नेता
स्कंधावार	फ़ौजी डेरे
स्नातक	पदवी-प्राप्त विद्यार्थी (Graduate)
स्वाध्याय	वेद-पाठ
हर्म्य	महल

विविध सभा-समाजों की सम्मतियाँ

हम लोगों ने अपने ग्रंथों में कृपालु सज्जनों, सभा-समाजों आदि की सम्मतियाँ उद्धृत करने का नियम नहीं रक्खा है, किंतु इस बार यह नवीनता की जा रही है। कारण यह है कि अब तक ऐसी कई प्रभाव-पूर्ण सम्मतियाँ एकत्र हो चुकी हैं। उनमें से कुछ का उद्धरण यहाँ किया जाता है।

मिश्रबंधु

ताम्र-पत्र की प्रतिलिपि

रावराजा डॉ० श्यामबिहारी मिश्र तथा

रायबहादुर श्रीशुकदेवबिहारी मिश्र

के कर-कमलों में

श्रीव्रज-साहित्य-मंडल के

दिल्ली-अधिवेशन के सुअवसर पर समर्पित

बिस्व-हिताहित के करन तीन देव परसिद्ध—

मिश्रबंधु, रससिंधु, हित बिस्व-वृद्धि की निद्ध।

महामहिम !

त्रिवेद-से आप बंधुत्रय ने अपने विशेष गुण-धर्म का समन्वय कर स्वकीय सहज सृजन से मा राष्ट्र भारती की जो सुमूल्य सेवा की हैं, वे इस ताम्र-पत्र पर नहीं, स्वर्ण-पत्रांकनीय हैं।

सौजन्य-मूर्ति !

आप बंधुओं ने हिंदी के आदि युग में जो विविध सुभग साहित्य-साधना की त्रिवेणी प्रवाहित की, वह हिंदी के इतिहास में अमर रहेगी।

युग-निर्माता,

आपके 'मिश्रबंधु-विनोद' और 'हिंदी-नवरत्न' आदि 'हिंदी-साहित्य' की अमूल्य निधियाँ हैं। उनमें हिंदी के इतिहास और विकास के सूत्र सन्निहित हैं। इसके लिये हिंदी ही नहीं, मधुमयी ब्रजवाणी भी आपकी चिर-ऋणी है।

सरल सनेही,

सुकवि, सुलेखक, सुसंपादक, प्रकाशक आदि अनेक नाम-रूपों से उच्च, सम्मान्य और संघर्ष की स्थिति में भी आपने जो साहित्य-संवर्धना की, वह भूरि-भूरि अभिनंदनीय है। हम वंशीवाले से हार्दिक कामना करते हैं कि आप मा शारदा के सदन को अपनी सरस साधना से सुचिर समुज्ज्वल रक्खें।

प्रधान कार्यालय, मथुरा
चैत्र-कृष्ण-पंचमी
विक्रम-संवत् २००२

हम हैं आपके
ब्रज-साहित्य-मंडल के सदस्यगण
सभापति
श्रीनारायण चतुर्वेदी
(दिल्ली-अधिवेशन)

सं० २००१

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से
अर्द्धशती महोत्सव के अवसर पर
हिंदी-भाषा और साहित्य के अनन्य उपासक श्रीमिश्रबंधुओं
(श्रीरावराजा डॉक्टर श्यामबिहारी मिश्र तथा
रायबहादुर श्रीशुकदेवबिहारी मिश्र) की सेवा में

अभिनंदन-पत्र

मातृभाषा के पावन पुजारी,

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा अपने इस अर्द्धशती महोत्सव के शुभ अवसर पर आपका सादर अभिनंदन करती है।

आप लोग सरस्वती के वरद पुत्र हैं। आप लोगों ने अपना जीवन हिंदी-माता की सेवा में बिताया है। यह आप लोगों की तपस्या, साधना, परिश्रम और उत्साह का परिणाम है कि आज भारत की सभी भाषाओं के सम्मुख हिंदी गर्वोन्नत खड़ी है। आप लोगों ने उसे राष्ट्र-भाषा के सिंहासन पर पुनः अभिषिक्त किया है।

जो चंद की ज्योत्स्ना से अवतरित हुई, जो मीरा की गोद में पली, सूर और तुलसी ने जिसे वाणी प्रदान की, विद्यापति ने जिसे सुघराई दी, बिहारी, देव तथा पद्माकर ने जिसे अलंकृत किया, सदासुख, लल्लूजीलाल तथा सदल मिश्र ने जिसका पोषण किया, रसखान और घनानंद ने जिसे सँवारा, भारतेंदु ने जिसके अधरों को तांबूल-रंजित किया, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और पद्मसिंह शर्मा ने जिसे स्फूर्ति दी, 'रत्नाकर', प्रेमचंद, 'प्रसाद' तथा रामचंद्र शुक्ल ने जिसका अनुपम शृंगार किया, उसी को आप लोगों ने अनेक उत्कृष्ट उपायों से इस योग्य बनाया है कि वह आज करोड़ों भारत-निवासियों के हृदय की सम्राज्ञी है।

आप लोगों ने इन्हीं महात्माओं की परंपरा पर चलकर अपनी प्रतिभा के बल से हिंदी-साहित्य का भांडार भरा है, मातृभाषा की शोभा बढ़ाई है। आप लोगों ने अपने बुद्धि-बल की पुष्पावली राष्ट्र-भाषा की वेदी पर अर्पित की है, तथा भावी पीढ़ियों के सम्मुख मातृ-भाषा की निःस्वार्थ सेवा का आदर्श रक्खा है। आप लोगों का सम्मान हिंदी-भाषा का सम्मान है, आप लोगों का आदर राष्ट्र-भाषा के प्रति प्रेम-प्रदर्शन है। नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी की ओर से हम आप लोगों को बधाई देते हैं, और समस्त हिंदी-भाषा-भाषियों की ओर से आप लोगों के साहित्यानुराग, साहित्य-सेवा तथा साहित्य-सृजन के प्रति समादर तथा सम्मान समर्पित करते हैं। भगवान् से प्रार्थना है कि आप लोग दीर्घजीवी होकर सदा इसी

प्रकार हिंदी की सेवा करते रहें, और आप-ऐसे मातृभाषा-सेवक देश में संभूत होते रहें।

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के सदस्यों की ओर से

संपूर्णानंद
सभापति

रामचंद्र वर्मा
प्रधान मंत्री

सं० १९९६

अभिनंदन-पत्र

सेवा में—

परमादरणीय राजराजा पं० श्यामविहारी मिश्र तथा
रायबहादुर शुकदेवविहारी मिश्र 'मिश्रबंधु'

आदरणीय महानुभाव !

हम कलकत्ते के हिंदी-साहित्य-प्रेमी सौभाग्य-वश आप महानुभावों को अपने बीच में पाकर अत्यंत आनंद का अनुभव करते हुए आपका हृदय से अभिनंदन करते हैं। आपने निःस्वार्थ भाव से हिंदी की जो सेवा की है, उसके प्रति श्रद्धा निवेदन करना हम अपना परम कर्तव्य समझते हैं। आपने हिंदी-साहित्य के एक अभाव की पूर्ति ही नहीं की है, वरन् देश के रईसों, ज़मींदारों तथा ऐसे ही अन्य बड़े आदमियों के सामने एक अनुकरणीय आदर्श की भी स्थापना की है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि अगर विशाल हिंदी-भाषा-भाषी संसार के दस-बीस प्रतिष्ठित सज्जन भी आपका अनुकरण करें, तो हिंदी-साहित्य की बड़ी अभिवृद्धि हो सकती है।

महानुभावो, सबसे पहले 'हिंदी-नवरत्न' की रचना करके आपने हमारा ध्यान हिंदी के नव महापुरुषों के प्रति आकर्षित किया, जिन्हें जानते हुए भी हम नहीं जानते थे।

हमारे आदरणीय अतिथि ! आपका अविरल साहित्य-प्रेम, अगाध पांडित्य, अद्वितीय दूर-दृष्टि और निरपेक्ष विचार-बुद्धि हमारे लिये अनुकरणीय हैं, इसलिये आप हमारे गुरु-तुल्य पूज्य हैं। हे गुरुवरद्वय ! हमें आशीर्वाद दीजिए कि हम भी आपके पदांक का अनुसरण कर अपनी मातृभाषा की कुछ सेवा कर सकें।

श्रद्धेय मिश्रबंधुओ ! अद्वितीय साहित्यानुराग और साहित्य-सेवा का आदर्श स्थापित करते हुए आपने हमारे सामने भ्रातृत्व का जो स्नेहोज्ज्वल आदर्श स्थापित किया है, वह भी अलौकिक अप्रतिम है। अतः एतदर्थ भी हम नत-मस्तक भाव से आपके प्रति अपनी आंतरिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

पूज्य साहित्य-महारथियो ! हिंदी-साहित्य की रचना द्वारा आपने केवल अपनी ही अमर कीर्ति की स्थापना नहीं की, वरन हिंदी के छोटे-बड़े बहुत-से साहित्य-सेवियों की कीर्ति की रक्षा करते हुए, हमें उनसे परिचित कर कृतज्ञता के अटूट बंधन में आबद्ध कर दिया है। इस महोपकार के लिये हम बारंबार आपका अभिनंदन करते हैं।

साहित्य-तपस्वियो ! इस वृद्धावस्था में भी जिस लगन और प्रेम के साथ आप साहित्य-चर्चा में निरत रहते हैं, और हिंदी की उन्नति और विस्तार के लिये सोचा करते हैं, उसके लिये भी, हिंदी-भाषा-भाषी के नाते, हम आपके कृतज्ञ हैं, और यह अभिनंदन-पत्र उपस्थित करते हुए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि आप दीर्घायु लाभ कर चिरकाल तक हमारे पथ-प्रदर्शक बने रहें।

हम हैं आपके

सदस्यगण -

बंगीय हिंदी-साहित्य-मंडल